अंक 291 वर्ष 59

भाषा

जुलाई–अगस्त 2020

भारतीय एवं विश्व सिनेमा विशेषांक

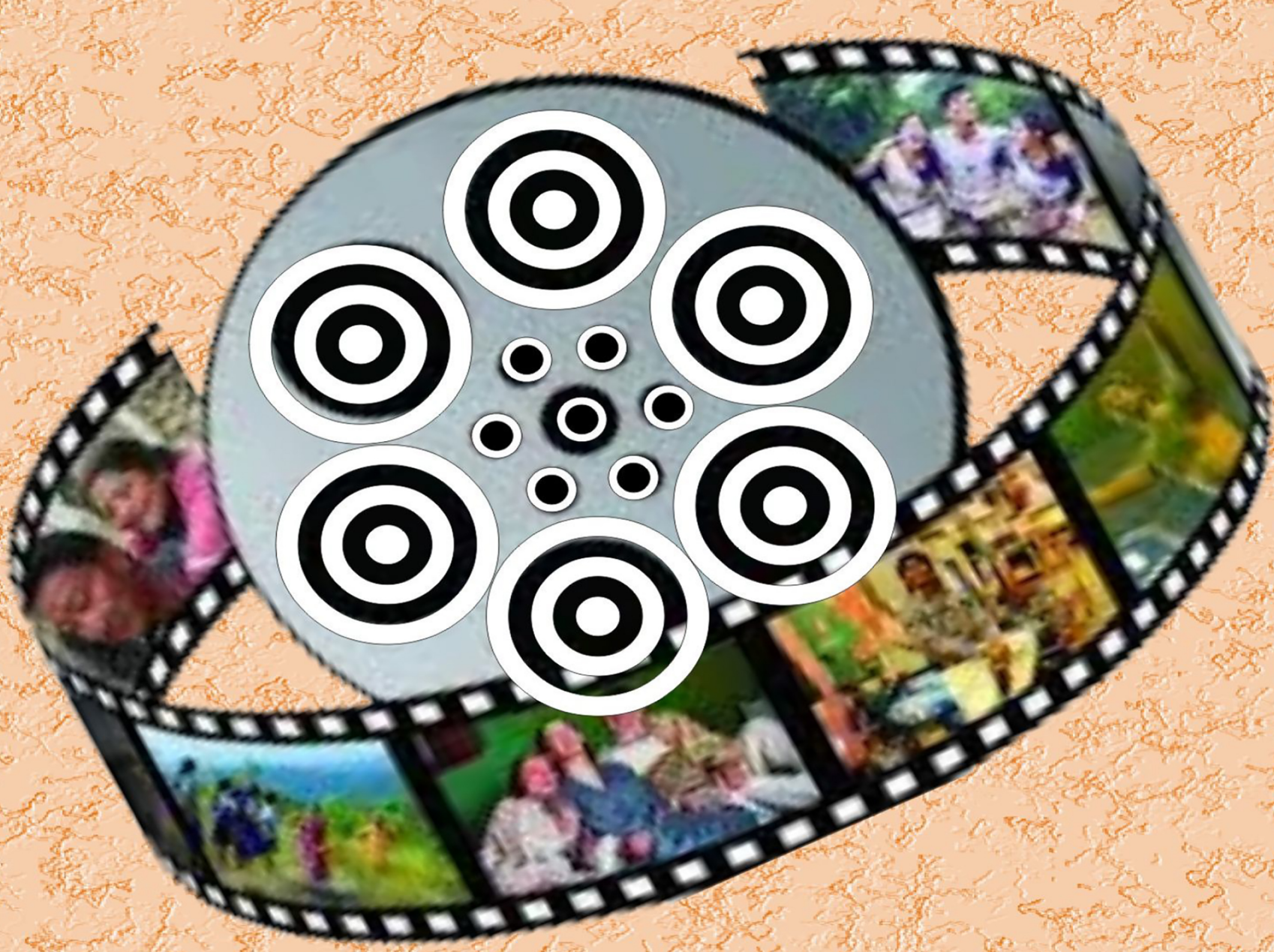

सत्यमेव जयते

केंद्रीय हिंदी निदेशालय
भारत सरकार

भाषा (द्वैमासिक)

लेखकों से अनुरोध

1. ***भाषा*** में छपने के लिए भेजी जाने वाली सामग्री यथासंभव सरल और सुबोध होनी चाहिए। रचनाएँ प्रायः टंकित रूप में भेजी जाएँ। हस्तलिखित सामग्री यदि भेजी जाए तो वह सुपाठ्य, बोधगम्य तथा सुंदर लिखावट में होनी अपेक्षित है। रचना की मूलप्रति ही भेजें। फोटोप्रति स्वीकार नहीं की जाएगी।

2. लेख आदि सामान्यतः फुल स्केप आकार के दस टंकित पृष्ठों से अधिक नहीं होने चाहिए और हाशिया छोड़कर एक ओर ही टाइप किए जाने चाहिए।

3. अनुवाद तथा लिप्यंतरण के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजना अनिवार्य है। इससे रचना पर निर्णय लेने में हमें सुविधा होगी। मूल कविता का लिप्यंतरण टंकित होने पर उसकी वर्तनी संबंधी त्रुटियाँ प्रायः नहीं होंगी, अतः टंकित लिप्यंतरण ही अपेक्षित है। रचना में अपना नाम और पता हिंदी के साथ–साथ अंग्रेजी में भी देने का कष्ट करें।

4. सामग्री के प्रकाशन विषय में संपादक का निर्णय अंतिम माना जाएगा।

5. रचनाओं की अस्वीकृति के संबंध में अलग से कोई पत्राचार कर पाना हमारे लिए संभव नहीं है, अतः रचनाओं के साथ डाक टिकट लगा लिफाफा, पोस्टकार्ड आदि न भेंजे। इन पर कोई कार्रवाई नहीं की जाएगी।

6. अस्वीकृत रचनाएँ न लौटा पाने की विवशता/असमर्थता है। कृपया रचना प्रेषित करते समय इसकी प्रति अपने पास अवश्य रख लें।

7. भाषा में केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा स्वीकृत मानक हिंदी वर्तनी का प्रयोग किया जाता है। अतः रचनाएँ इसी वर्तनी के अनुसार टाइप करवाकर भेजी जाएँ।

8. समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ भेजी जानी चाहिए।

संपादकीय कार्यालय

संपादक भाषा, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, पश्चिमी खंड–7, रामकृष्णपुरम,
नई दिल्ली–110066

सत्यमेव जयते

भाषा

जुलाई–अगस्त 2020
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा अनुमोदित पत्रिका (क्रमांक–16)

अध्यक्ष, परामर्श एवं संपादन मंडल
प्रोफेसर रमेश कुमार पांडेय

परामर्श मंडल
प्रो. योगेंद्र नाथ शर्मा 'अरुण'
डॉ. पी. ए. राधाकृष्णन
प्रो. ऋषभ देव शर्मा
प्रो. मंजुला राणा
प्रो. दिलीप कुमार मेधी
श्रीमती पद्मा सचदेव
श्री हितेश शंकर

संपादक
डॉ. राकेश कुमार

सह–संपादक
डॉ. किरण झा
श्रीमती सौरभ चौहान

प्रूफ रीडर
श्रीमती इंदु भंडारी

कार्यालयीन व्यवस्था
सेवा सिंह

**केंद्रीय हिंदी निदेशालय, उच्चतर शिक्षा विभाग,
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार**

ISSN 0523-1418
भाषा (द्वैमासिक)
वर्ष : **59** **अंक : 4 (291)**
जुलाई–अगस्त(विशेषांक) 2020

संपादकीय कार्यालय
केंद्रीय हिंदी निदेशालय,
उच्चतर शिक्षा विभाग,
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,
पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम्,
नई दिल्ली-110066
वेबसाइट : www.chdpublication.mhrd.gov.in
www.chd.mhrd.gov.in
ईमेल : bhashaunit@gmail.com
दूरभाषः 011–26105211 / 12

बिक्री केंद्र :
नियंत्रक,
प्रकाशन विभाग, सिविल लाइंस,
दिल्ली - 110054
वेबसाइट : www.deptpub.gov.in
ई–मेल : pub.dep@nic.in
दूरभाष : 011-23817823/ 9689

सदस्यता हेतु ड्राफ्ट नियंत्रक,
प्रकाशन विभाग, दिल्ली के पक्ष में भेजें।

बिक्री केंद्र :
केंद्रीय हिंदी निदेशालय,
उच्चतर शिक्षा विभाग,
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,
पश्चिमी खंड-7, रामकृष्णपुरम्,
नई दिल्ली-110066
वेबसाइट : www.chdpublication.mhrd.gov.in
www.chd.mhrd.gov.in
ईमेल : bhashaunit@gmail.com
दूरभाषः 011–26105211 / 12
सदस्यता हेतु ड्राफ्ट निदेशक, कें. हिं. नि.,
नई दिल्ली के पक्ष में भेजें।

मूल्य :

1.	एक प्रति का मूल्य	=	रु. 25.00	**(डाक खर्च सहित)**
2.	वार्षिक सदस्यता शुल्क	=	रु. 125.00	
3.	पंचवर्षीय सदस्यता शुल्क	=	रु. 625.00	
4.	दस वर्षीय सदस्यता शुल्क	=	रु. 1250.00	
5.	बीस वर्षीय सदस्यता शुल्क	=	रु. 2500.00	

पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं। इनसे भारत सरकार या संपादन मंडल का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

भाषा
जुलाई–अगस्त 2020

अनुक्रमणिका

निदेशक की कलम से
संपादकीय
आलेख

1.	सिनेमा : समाज, साहित्य और संवदेना की सशक्त अभिव्यक्ति	डॉ. पूरनचंद टंडन	9
2.	भारतीय सिनेमा का प्रारंभिक दौर : एक दृश्य चलचित्र क्रांति	हरिराम	14
3.	सिनेमा – भाषा, साहित्य, कला एवं संस्कृति का संवाहक	डॉ. एम. रामचंद्रम	17
4.	कला, हिंदी सिनेमा और भारतीय समाज : एक वैचारिक पहलू	प्रवीण कुमार	20
5.	इक्कीसवीं सदी का हिदी सिनेमा : बदलते दौर का सच	मनोज पांडेय	27
6.	हिंदी साहित्य और सिनेमा में समाज-हित और राष्ट्रीयता का भाव	डॉ. अमित सिंह	33
7.	साहित्य, सिनेमा और समाज का अंतर्संबंध	कुंतला दत्त	39
8.	सिनेमा और समाज	डॉ. अर्चना झा	44
9.	हिंदी सिनेमा और सामाजिक सरोकार	डॉ. अलका आनंद	49
10.	गुलजार के गीतों में जिंदगी के रंग	डॉ. करन सिंह ऊटवाल	53
11.	शैलेंद्र के गीतों का साहित्यिक महत्व	डॉ. प्रियंका	58
12.	सिनेमा – अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम	डॉ. दीपक दीक्षित	64
13.	साहित्य, सिनेमा और भूमंडलीकरण	डॉ. विपुल कुमार	68
14.	सिनेमा : आज और कल	डॉ. श्रवण कुमार	74
15.	बाल मन पर आधारित हिंदी सिनेमा	डॉ. विनीता कुमारी	82
16.	भारतीय सिनेमा की प्रारंभिक फिल्में व मुंशी प्रेमचंद के साहित्याधारित फिल्मों के परिदृश्य में जातिगत समन्वय	हेतराम	87
17.	हिंदी फिल्मों में जातिप्रथा के विभिन्न आयामों का चित्रण	उमेश कुमार	91
18.	हिंदी सिनेमा एवं जनजातीय संस्कृति : विशेष संदर्भ पूर्वोत्तर भारत	डॉ. मिलन रानी जमातिया	97
19.	बदल रहा है हिंदी सिनेमा	डॉ. सुनील कुमार तिवारी	101
20.	हिंदी सिनेमा का बदलता ट्रेंड	डॉ. आलोक रंजन पांडेय	105

21. भारत में फिल्म निर्माण शिक्षा एवं व्यवसाय के विविध पहलू	डॉ. गोरखनाथ तिवारी	113
22. सिनेमा – समकालीन परिदृष्य (सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक) थर्ड जेंडर (किन्नर विमर्श) के संदर्भ में	डॉ. अनुपमा	117
23. असमिया सिनेमा का इतिहास : एक अवलोकन	डॉ. रीतामणि वैश्य	121
24. असमिया सिनेमा को भूपेन हजारिका की देन	पूजा बरुवा	127
25. पारसी रंगमंच और हिंदी सिनेमा का आगाज़	डॉ. कंचन वर्मा	130
26. मलयालम सिनेमा की विकास यात्रा	डॉ. धन्या. एल	136
27. भोजपुरी सिनेमा का समाजशास्त्र	प्रो. आलोक पांडेय	140
28. कॉकबरक सिनेमा का उद्‌भव और विकास	डॉ. बीना देबबर्मा	143
29. वैश्विक पटल पर पहचान बनाता असमिया सिनेमा	डॉ. अनुशब्द	147
30. गुजराती सिनेमा – एक मूल्यांकन	डॉ. वर्षा सोलंकी	152
31. हिंदी सिनेमा और शेक्सपीयर का साहित्य	डॉ. अनुराधा पांडेय	154
स्मृतियाँ		
32. एक महान कलाकार ही नहीं, एक महान इंसान भी थे– इरफान....	अजय मलिक	159
33. हिंदी सिनेमा में प्रेमग्रंथ का रचयिता–ऋषि कपूर	विनोद अनुपम	162
34. सुशांत सिंह राजपूत – एक चमकता सितारा	नीति सुधा	165
संपर्क सूत्र		**168**
सदस्यता फार्म		

निदेशक की कलम से

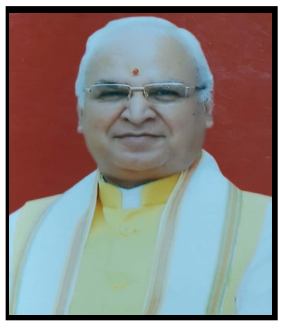

कला के विभिन्न रूपों को आत्मसात् करके जीवन की सजीव और मार्मिक चित्राभिव्यक्ति करने वाली विधा का नाम ही चलचित्र या सिनेमा है। सिनेमा को कभी साहित्य के मापदंडों पर परखा गया, तो कभी इसे नैतिक मापदंडों के आधार पर नापा गया। लेकिन इसे एक स्वतंत्र कलात्मक अभिव्यक्ति समझते हुए इस पर समझदार विमर्श की आवश्यकता हिंदी में तो नहीं समझी गई। सिनेमा वह रचनात्मक विधा है, जिसके सृजन में विभिन्न कार्य क्षेत्रों से संबंधित अनेक विशेषज्ञ लोग जुड़े होते हैं। यह किसी लेखक के वैयक्तिक सृजन से नितांत अलग तरह की निर्मिति है।

आज सामाजिक जीवन में सिनेमा की उपस्थिति अनिवार्य हो गई है। जनमानस को कला के इस रूप ने जितना गहरा स्पर्श किया है उतना अन्य किसी माध्यम ने नहीं। सिनेमा का प्रभाव क्षेत्र आज कला की किसी भी विधा से अधिक है। समाज पर सबसे अधिक प्रभाव सिनेमा का ही पड़ रहा है। कला की परंपरा में यह दृश्य-काव्य का विकसित रूप तो है ही, साथ में विज्ञान की मदद से इसने चतुर्दिक् विस्तार किया है। सिनेमा विभिन्न कलाओं का संगम है। उसकी अपनी अलग स्थापना है। इसमें छवि, शब्द, गति, नाटक, कहानी, संगीत आदि सभी कुछ हैं। यह ऐसा जनमाध्यम है जो पलक झपकते ही एक स्वप्निल संसार में ले जाने की क्षमता रखता है। यह जनता के लिए मनोरंजन का, निर्माताओं के लिए शुद्ध व्यवसाय का, फिल्म उद्योग से जुड़े हजारों लोगों के लिए रोजगार का और सरकार के लिए राजस्व प्राप्ति का सशक्त साधन है।

सामान्य जनमानस पर फिल्मों व कलाकारों का गहरा प्रभाव पड़ता है। सिनेमा को एक पलायनवादी विधा मानकर हम अपने दायित्व से मुक्त नहीं हो सकते। सिनेमा समाज को और समाज सिनेमा को प्रारंभ से ही प्रभावित करता रहा है। सिनेमा जनशिक्षा का सशक्त माध्यम है और सभी को प्रेरित करने की असीम क्षमता से युक्त है। अपने सौ साल के सफर में सिनेमा ने करीब-करीब हर दौर में समय के अनुसार अपनी अलग भाषा, अपना अलग कथ्य अपनाया है।

विगत कुछ वर्षों से विश्व में सबसे अधिक संख्या में फिल्में भारत में बन रही हैं। सिनेमा के आविष्कार के समय किसी को कल्पना नहीं थी कि विज्ञानजनित यह माध्यम अध्यात्मिकता वाले देश में इस कदर लोकप्रिय होगा। यह इसलिए भी संभव हुआ क्योंकि यहाँ प्रारंभ से ही कथा कहने की परंपरा है और भारत कथावाचकों तथा श्रोताओं का देश है। हमारे देश की यह विशेषता है कि यहाँ कोई परंपरा कभी रुकती नहीं, अपने नाम को यथार्थ करती है। आज टैक्नोलॉजी के युग में भी रामलीला, लावणी, नौटंकी और स्वांग कायम हैं। रंगमंच आज भी आलोकित है।

जिसे हम हिंदी सिनेमा कहते हैं, वह वस्तुतः भारतीय सिनेमा है, जो समूचे भारतवर्ष में और जहाँ-जहाँ भी भारतीय मूल के लोग निवास करते हैं, उनको भावनात्मक रूप से एक सूत्र में पिरोने का काम करता है। हिंदी भाषा ने जितनी सुगमता से हिंदी फिल्मों और फिल्मी गीतों के माध्यम से विभिन्न भाषाभाषियों के बीच में अपनी पहुँच बनाई, उतनी अन्य किसी माध्यम से नहीं। निःसंदेह हिंदी सिनेमा ने भारतीय संस्कृति के मूलमंत्र 'अनेकता में एकता' को सही अर्थों में प्रस्तुत किया है।

'भाषा' का प्रस्तुत विशेषांक 'भारतीय एवं विश्व सिनेमा' पर केंद्रित है जो हैदराबाद में निदेशालय द्वारा इसी विषय पर आयोजित परिसंवाद में प्रस्तुत आलेखों से समन्वित है। पाठकों के सुझावों की प्रतीक्षा रहेगी। ।

रमेश कुमार पांडेय

प्रोफेसर रमेश कुमार पांडेय

श्रद्धांजलि

इरफान खान

7 जनवरी 1967 –
29 अप्रैल 2020

ऋषि कपूर

04 सितंबर 1952 –
30 अप्रैल 2020

सुशांत सिंह राजपूत

21 जनवरी 1986
14 जून 2020

सरोज खान

22 नवंबर 1948 –
03 जुलाई 2020

जगदीप

29 मार्च 1939 –
08 जुलाई 2020

राहत इंदौरी

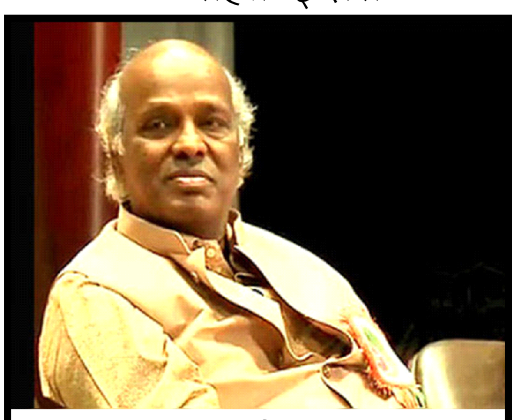

01 जनवरी 1950 –
11 अगस्त 2020

भाषा ISSN 0523-1418

संपादकीय

आज सिनेमा मनोरंजन के सबसे महत्वपूर्ण साधनों में से एक है। पिछले आठ दशकों से सिनेमा और सिने-संगीत हमारे जीवन के अभिन्न अंग बने हुए हैं। चाहे कोई भी पर्व हो, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक त्योहार हों सिनेमा और सिने-संगीत हर अवसर को एक सुरीला अंजाम देते आए हैं इसका मुख्य कारण यह है कि फिल्मों में मानव-मन का प्रत्येक भाव प्रतिबिंबित होता रहा है। फिल्में यदि समाज का आईना हैं तो फिल्मी गीत-संगीत मानव मन का दर्पण है। सिनेमा आज जिस मुकाम तक पहुँचा है। उसे यहाँ तक पहुँचाने में हमारे फिल्मकारों, गीतकारों, संगीतकारों और गायकों का, उनकी अद्‌भुत प्रतिभा का, उनकी लगन का, उनके अथक परिश्रम का और सिनेमा के प्रति उनकी सच्ची निष्ठा का अमूल्य योगदान है।

पश्चिमी देशों में फिल्मों और उनके गीत-संगीत का अपना-अपना अलग अस्तित्व रहा है। वहाँ की फिल्मों में गीत-संगीत का चलन उस तरह नहीं है जैसे हमारे यहाँ है। भारतीय सिनेमा ने जब बोलना सीखा, तब गीत-संगीत को भी उसने अपने अंदर समेट लिया। इसका प्रमुख कारण यह है कि यहाँ पर संगीत हजारों वर्षों से हमारी संस्कृति से और हमारे जीवन मूल्यों से सशक्त रूप से जुड़ा हुआ है, जिसे अलग नहीं किया जा सकता। 14 मार्च 1931 का दिन भारतीय सिनेमा के लिए एक अविस्मरणीय दिन है। इस दिन देश की पहली बोलती फिल्म अर्थात् सवाक फिल्म (टॉकी) 'आलम-आरा' मुंबई के मैजेस्टिक सिनेमा घर में प्रदर्शित हुई थी।

इससे पहले मूक फिल्मों का दौर चला आ रहा था। 'आलम-आरा' ने न केवल फिल्मों को बोलना सिखाया, उन्हें आवाज़ भी प्रदान की बल्कि फिल्मों में गीत-संगीत का चलन भी इसी फिल्म से प्रारंभ हुआ।

भारत में सिनेमा के आगमन से पूर्व मनोरंजन का प्रमुख साधन 'नाटक' था, जो अलग-अलग प्रांतों में अलग-अलग रूपों में प्रस्तुत होता था। नाटकों की परंपरा इस देश में शताब्दियों पुरानी है। प्राचीन भारत ने संस्कृत नाटकों का स्वर्ण-युग देखा था। उसके बाद ड्रामा का निरंतर विकास होता गया। जैसे-जैसे अलग-अलग भाषाओं का जन्म हुआ तदनुसार अपनी-अपनी भाषा की समानताएँ और विशेषताएँ लिए हुए अलग-अलग नाट्य शैलियाँ विकसित हुई। संस्कृत थिएटर के चलन को आठवीं शताब्दी में बाहरी आक्रमणों से कुछ धक्का लगा लेकिन ऐसे समय में भी लोक-नाट्य जिंदा रहा जो आगे चलकर आधुनिक थिएटर का आधार बना। 1840 में विष्णुदास भावे ने मराठी थिएटर की शुरुआत की तथा सन् 1850 में गुजरात के पारसी संप्रदाय ने मुंबई में पारसी थिएटर की शुरुआत की। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बोलती फिल्म 'आलम-आरा' का निर्माण भी पारसी कंपनी ने ही किया था।

भारत में फिल्मों का प्रदर्शन 1896 में प्रारंभ हुआ जब 'ल्यूमियर ब्रदर्स' की फिल्मों का प्रदर्शन मुंबई के वाटसन होटल में किया गया था। इसके पाँच साल बाद 1901 में, हरिश्चंद्र सखाराम भातवाडेकर ने पहली भारतीय फिल्म 'दि रिटर्न ऑफ रेंगलर परांजपे' का निर्माण किया। इसके लिए उन्होंने 1897 में लंदन से एक सिने-कैमरे का आयात किया। भारत की पहली 'फुल लेंथ स्टोरी फिल्म' का निर्माण धुंडीराज गोविंद फाल्के, जिन्हें आज दादा साहेब फाल्के के नाम से जाना जाता है ने किया। 'राजा हरिश्चंद्र' नामक यह फिल्म 21 अप्रैल 1913 को मुंबई के कोरोनेशन सिनेमाघर में प्रदर्शित हुई और यहीं से मूक सामाजिक फिल्मों की शुरुआत हुई। इस फिल्म को लोगों ने हाथों-हाथ ग्रहण किया और फिल्म देखने के लिए हजारों की भीड़ उमड़ पड़ी थी। ऐसे में चंद आने का टिकट भी 4 रुपए तक में बिका था। फाल्के की दिखाई राह पर कई फिल्म-निर्माता चल पड़े और एक के बाद एक बहुत सी मूक फिल्में आती चली गईं।

भारतीय समाज में जैसे-जैसे आधुनिकता और फैशन का नया सूत्रपात हुआ, समाज में नई जागरूकता आती गई भारतीय सिनेमा ने भी तदनुसार रंग भरने शुरू कर दिए। जहाँ समाज ने सिनेमा को नई दिशा प्रदान की वहीं सिनेमा ने भी समाज को समय-समय पर प्रभावित किया है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए 'भारतीय एवं विश्व सिनेमा' विषय पर हैदराबाद में साहित्यिक परिसंवाद का आयोजन किया गया। इसी विषय पर भाषा का यह विशेषांक तैयार किया गया है।

भाषा के इस सिनेमा विशेषांक के तैयार करने के दौरान समस्त विश्व कॉरोना महामारी से आतंकित है। इसी बीच हिंदी सिनेमा में भी एक के बाद एक कई दुखद घटनाएँ हुईं। सिनेमा के प्रतिष्ठित कलाकार इरफान खान, ऋषि कपूर और नई पीढ़ी के सुशांत सिंह राजपूत, सरोज खान, जगदीप और राहत इंदौरी का इस संसार से विदा लेना, अत्यंत दुखदाई घटनाएँ रही। हिंदी सिनेमा में इनका विशिष्ट एवं अविस्मरणीय योगदान रहा है। भाषा परिवार इनको अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

भाषा की सदस्यता का कार्य भी निदेशालय में प्रारंभ हो गया है। सदस्यता हेतु आवेदन प्रपत्र भाषा के प्रत्येक अंक के साथ संलग्न किया जा रहा है तथा ऑनलाइन www.chdpublication.mhrd.gov.in पर भी उपलब्ध है।

(डॉ. राकेश कुमार)

आलेख

सिनेमा : समाज, साहित्य और संवेदना की सशक्त अभिव्यक्ति

डॉ. पूरनचंद टंडन

सिनेमा, दृश्य एवं श्रव्य माध्यम होने के कारण समाज के हर वर्ग को प्रभावित करता है। यथार्थ और कल्पना का अद्‌भुत सम्मिश्रण सिनेमा को रोचक एवं प्रेरक भी बनाता है। साहित्य और सिनेमा दोनों ही समाज के दर्पण होते हैं। दोनों समाज को प्रभावित करते हैं और समाज दोनों को प्रभावित करता है। समाज का अच्छा-बुरा, उन्नति-अवनति, उत्थान-पतन, विपन्नता-संपन्नता सभी कुछ साहित्य और सिनेमा दोनों के माध्यम से उजागर होते हैं। साहित्य और सिनेमा दोनों ही सामाजिकों की ज्ञान-पिपासा को तृप्त करते हैं। दोनों ही मनोरंजन भी करते हैं। दोनों ही शिक्षा भी देते हैं। राष्ट्र का इतिहास, आजादी का संघर्ष, सांस्कृतिक चेतना, पर्व-उत्सव, मेले-प्रदर्शनियाँ, रीति-रिवाज, विवाह-रस्में, रहन-सहन, खान-पान, खेल-व्यायाम, शिक्षण-प्रशिक्षण, दर्शन- मनोविज्ञान, सामाजिक समस्या और चुनौतियाँ सब कुछ हमें साहित्य तथा सिनेमा में उद्‌घाटित होता दिखाई देता है। राजनीति, पुलिस, भ्रष्टाचार, चोरी-डकैती, अत्याचार, शोषण, बलात्कार, अन्याय, अव्यवस्था, जन्म व्यवस्था के विरुद्‌ध संघर्ष, बेरोज़गारी, जनसंख्या का प्रकोप, मानवीय कमजोरियाँ, प्राकृतिक प्रकोप, पर्यावरण-प्रदूषण, राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय चुनौतियाँ, आतंकवाद, वैचारिक विरासत, साहित्यिक रचनाओं का अंतरण आदि हमें साहित्य तथा सिनेमा में एक साथ देखने को मिलता है।

साहित्य की तरह सिनेमा भी समय सापेक्ष, स्थिति या घटना सापेक्ष होता है। यह साक्षर तथा निरक्षर, अल्पज्ञ तथा विशेषज्ञ, स्त्री तथा पुरुष, बालक तथा बुजुर्ग, अमीर तथा गरीब सभी के लिए आकृष्ट करने वाला चाक्षुष माध्यम है। सिनेमा कला से तकनीक और विज्ञान से प्रौद्‌योगिकी से भी जुड़ रहा है। सन् 1936 में बनी फिल्म 'अछूत कन्या' हो या उन्हीं दिनों बनी फिल्म 'डॉ. कोटनिस की अमर कहानी', जिनमें क्रमशः छुआछूत की समस्या को तथा एक डॉ. के त्याग एवं बलिदान की सच्ची घटना को अत्यंत प्रभावी ढंग से फिल्माया गया है -- समाज के लिए आँखें खोलने, पुनर्विचार करने तथा सन्मार्ग तलाशने का काम करती हैं दोनों फिल्में।

सिनेमा ने मनुष्य जगत के मानवीय-अमानवीय, उचित-अनुचित, ग्राह्य-त्याज्य, सही-गलत या अच्छे-बुरे व्यवहार एवं आचरण को ठीक उसी तरह फिल्माया है जैसे कोई जागरूक साहित्यकार अपनी साहित्यिक रचना के कथानक का ताना-बाना बुनता है। भारतेंदु युग से अद्‌यतन दौर तक के साहित्य में, जिस प्रकार समय एवं स्थिति के बदलाव ने साहित्य और साहित्यकार को बदला है, वैसे ही सिनेमा ने भी अपने सामाजिक सरोकारों को उजागर किया है। कृषि प्रधान देश भारत की बड़ी समस्या को एक तरफ 'मदर इंडिया' उजागर करती है तो दूसरी तरफ 'पीपली लाइव' इसी समस्या को अलग तरह से उद्‌घाटित करती है। इतिहास बोध को आधार बनाकर यदि 'रज़िया सुल्तान', 'सिकंदर-ए-आज़म', 'अनारकली', 'मुगल-ए-आज़म', 'जोधा अकबर', 'लाल किला' आदि फिल्में निर्मित होती हैं तो 'पूरब और पश्चिम' जैसी भारतीय एवं पाश्चात्य मूल्यों के संघर्ष वाली फिल्में भी दिखाई देती हैं। फिल्मी गीतों

में जो राष्ट्रीय चेतना, जो साहित्यिक काव्य-मर्म और उर्दू-फारसी का गीत-गज़ल-सौंदर्य, कव्वाली, नज़्म और शेर-ओ-शायरी आदि का जो संस्पर्श हमें मिलता है वह इन फिल्मों की प्रासंगिकता, परिष्कृत अभिरुचि तथा समाज-सापेक्षता का ही परिचय देता है। वस्तुत: यदि साहित्य और सिनेमा को एक ही शृंखला की दो कड़ियाँ मान लें तो शायद अन्यथा न होगा।

कालजयी साहित्यिक रचनाओं की तरह हिंदी सिनेमा में भी अनेक सार्वजनिक फिल्में हैं; जिनमें 'आलमआरा', 'रुदाली', 'गोदान', 'गबन', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'मदर इंडिया', 'लज्जा', 'चक दे इंडिया', 'चित्रलेखा', मुग़ल-ए-आज़म', 'ब्लैक', 'अभिमान', 'आनंद', 'तारे जमीं पे' आदि अनेक उल्लेखनीय एवं स्मरणीय चलचित्र हैं जिनकी भूमिका अविस्मरणीय है। इसी शृंखला में 'सद्गति', 'देवराज', 'परिणीता', 'अनुभव', 'अंकुर', 'मंथन', 'सारा आकाश', 'रजनीगंधा', 'गर्म हवा', 'दामुल', 'चक्र', जुनून', 'आक्रोश', 'अर्द्धसत्य', 'मोहन जोशी हाज़िर हो', 'एक रुका हुआ फैसला', 'दो आँखें बारह हाथ', 'पाकीज़ा', 'सारांश' जैसी फिल्मों को भी भुलाया नहीं जा सकता जो साहित्यिक आस्वाद के साथ प्रदर्शित की गई हैं। साहित्य और सिनेमा अपनी अमिट छाप समाज और सामाजिक स्तर पर छोड़ते हैं। साहित्य और सिनेमा वस्तुत: एक-दूसरे के पूरक बनकर समाज में उभरते हैं।

यदि सिनेमाई गीतों का इतिहास उठाकर देखें तो उनमें भी समाज, संस्कृति, मूल्य, परंपरा, पर्व-उत्सव, रीति-रिवाज़, रस्में, गीतात्मक एवं प्रेरक रूप में चित्रित किए जाते हैं। अनेक फिल्मी गीत जीवन में कर्म के महत्व को उजागर करते हैं। हिंदी की पहली, गीत-संगीत का आगाज़ करने वाली फिल्म थी 'आलमआरा' जिसने 1931 में 14 मार्च को यह रचनात्मक पहल की और तब से आज तक फिल्मी गीत-संगीत की यह यात्रा कवित्व शक्ति, काव्य-मर्म, कर्णप्रियता, माधुर्य, विमोहिनी शक्ति से होती हुई आज अपनी राह भटक चुकी है। शास्त्रीय शिक्षा प्राप्त गायक, नायक-नायिका पहले स्वयं अभिनय और गायन दोनों कार्य करते थे। अशोक कुमार और देविका रानी इसके सशक्त उदाहरण हैं। धीमा संगीत होता था, भारतीय संगीत शैली तब आज के शोर-शराबे वाले पाश्चात्य पोप संगीत से आक्रांत नहीं थी। के.एल.सहगल, कानन देवी, अमीरबाई कर्नाटकी, जोहराबाई आदि ने अपने स्वरों से, माधुर्य भरे गीतों से जन-जन को मोह लिया था। पंडित केदार शर्मा के काव्यमय गीतों ने कुछ विलक्षण मिसालें कायम की थीं। संगीत में एक युग कुंदनलाल सहगल युग था। 1935 में 'देवदास' फिल्म ने भारतीय दर्शक-जगत को विमुग्ध कर लिया था। इसके बाद 1940 में 'जिंदगी', फिर 'धूप-छाँव', 'धरती' और 'शाहजहाँ' जैसी फिल्मों ने साहित्यिक अभिरुचि वाले गीतों से दर्शकों-श्रोताओं का मन-मोह लिया था। उस समय के संगीतकारों में नौशाद ने तथा शायर और कवियों में मजरूह सुल्तानपुरी आदि ने भी जी तोड़ साधना की थी। 'रतन' फिल्म के गीतों ने तो देश में धूम मचा दी थी। जोहराबाई अंबाले वाली के मधुर स्वरों ने एक से एक बेहतरीन गीत सिनेमा जगत को दिए। 1943 में 'किस्मत' फिल्म के गीतों ने धूम मचा दी थी। कवि प्रदीप के गीत और अनिल बिस्वास की धुनों ने एक नई गीति-योजना को जन्म दिया था। 1940 में बनी फिल्म 'कल्पना' के तो गीत ही छायावादी हिंदी कविता के आधार स्तंभ सुमित्रानंदन पंत ने लिखे थे।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद देश की बदलती स्थितियों-परिस्थितियों ने सिनेमा और सिनेमाई परिकल्पनाओं को भी नए आयाम दिए। देशभक्ति, राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीय गौरव-गाथा, सांस्कृतिक चेतना, स्वातंत्र्य आंदोलन की पृष्ठभूमि तथा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का स्वर गीतों में, संगीत में, सिनेमाई कथानकों में भी प्रकट होने लगा था। 'शहीद' फिल्म के गीतों में "वतन की राह में वतन के नौजवाँ शहीद हो" तथा कवि प्रदीप लिखित गीत "दूर हटो ऐ दुनिया वालों, हिंदुस्तान हमारा है" ऐसी जागरण चेतना का संचार किया कि आज भी आज़ादी के अवसर पर ये गीत गाए-सुनाए जाते हैं। वह हिंदी सिनेमा का ऐसा युग था जब गीतों के लिए, संगीत के लिए फिल्म की पूरी यूनिट एक साथ घंटों, दिनों और महीनों बैठती थी, विमर्श करती थी, रियाज़ करती थी, प्रयोग करती थी। गीतों के शब्द, गायकों के मूल्य, कलाकारों के सिद्धांत हर तरह से फिल्म को क्लासिक, गीत-संगीत को स्मरणीय और अविस्मरणीय बनाना चाहते थे। वह युग वस्तुत: साधनों का कम साधना का अधिक था। गायकों को अभिनेताओं से जोड़कर उनकी ही आवाज़ के लिए अनिवार्य सा बना दिया गया था। जब अमर गायक मुकेश का स्वर्गवास हुआ तो चारों ओर

चर्चा यह हुई कि महान कलाकार, ग्रेट शो-मैन राजकपूर की तो आवाज़ ही चली गई। देवानंद, राजेश खन्ना, अमिताभ बच्चन जैसे महान अभिनेताओं के लिए किशोर कुमार ने जो गायकी की है वह विलक्षण है, अप्रतिम है। दिलीप कुमार के लिए, भारत भूषण के लिए महान गायक मोहम्मद रफ़ी ने जो स्वर दिए हैं उन्हें देख-सुनकर तो यही लगता था कि ये इन्हीं के लिए बने हैं। एक ज़माना था जब गुलाम मोहम्मद साहब, एस.डी.बर्मन, वसंत देसाई, नौशाद साहब, अनिल विश्वास, शंकर-जयकिशन, सलिल चौधरी, सी. रामचंद्र, मदन-मोहन, रौशन, चित्रगुप्त, हेमंत कुमार, खय्याम साहब, रवि, जयदेव, ओ.पी. नैय्यर, कल्याणजी-आनंदजी, उषा खन्ना और राहुल देव बर्मन आदि ने अपने काव्यात्मक, माधुर्य से परिपूर्ण, आत्मविमुग्ध कर देने वाले संगीत से पूरे विश्व की हृदय तंत्रियों को स्पंदित कर दिया था। इनके संगीत ने कविता और शेरो-शायरी के क्षेत्र में सृजनात्मक योगदान कर रहे अनेक कवियों, गीतकारों, शायरों और रचनाकर्मियों को एक अलग पहचान दिलवाई थी। 'सोने में सुहागा' जैसे यह गीत-संगीत का योग, चोली-दामन जैसा ये रिश्ता भारतीय सिनेमा की धरोहर बन गया। नरेंद्र शर्मा, गोपाल सिंह नेपाली, कवि प्रदीप, शैलेंद्र, भरत न्यास, इंदीवर, गोपालदास नीरज, संतोष आनंद, साहिर लुधियानवी, कैफ़ी आज़मी, जाँ-निसार अख्तर, शकील बदायूँनी, आनंद बख्शी, राजेंद्र कृष्ण, हसरत जयपुरी, कमर जलालाबादी तथा राजा मेहँदी अली खाँ आदि महान रचनाकारों ने हिंदी फिल्मों के गीत-जगत को अविस्मरणीय, चिरस्मरणीय बना दिया, कालजयी बना दिया। आज भी लोग इन महान सृजनधर्मियों के गीतों एवं संगीतों को गाते-गुनगुनाते हैं। नई पीढ़ी के बहुत से युवा भी उनके अवदान से अभिभूत हैं। ऐसी यादगार एवं कालजयी फिल्मों में 'महक', 'आग', 'आचरण', 'मदर इंडिया', 'अंदाज', 'अमर', 'पतिता', 'वसंत बहार', 'दाग', 'मिर्जा ग़ालिब', 'गोदान', 'दो बीघा जमीन', 'बंदिनी', 'सुजाता', 'भाभी', 'अनारकली', 'नागिन', 'फागुन', 'तीसरी कसम', 'अनाड़ी', 'आर-पार', 'सी.आई.डी.', 'चौदहवीं का चाँद', 'संगम', 'प्यासा', 'नवरंग', 'जहाँआरा', 'नया दौर', 'पाकीज़ा', 'आराधना', 'जिस देश में गंगा बहती है', 'गंगा जमुना', 'हम दोनों', 'आरजू', 'मेरे महबूब', 'सरस्वती चंद्र', 'हीर राँझा', 'सत्यम शिवम सुंदरम्', 'मेरा नाम जोकर' आदि अनेक फिल्में हैं जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता।

किंतु पाश्चात्य संगीत, गायन शैली, गीतों का बदलता रूप-स्वरूप धीरे-धीरे इस स्वर्गिक आनंद का हत्यारा बनता चला गया। माधुर्य-मिठास समाप्त होती चली गई। हो-हल्ला और शोर-शराबा गीत के बोलों को निगल गया और उसकी आत्मा को घायल करने वाला बन गया। अब तो मुन्नी बदनाम हुई, अँखियों से गोली मारे, मैं आई हूँ यू.पी., बिहार लूटने जैसे अनेक गीतों ने बहुत निराश किया है। कुछ पुराने गीतों के रीमिक्स ने रही-सही कसर पूरी कर दी। हालाँकि निरंतर गिरावट का यह दौर चल रहा है। किंतु फिर भी बीच-बीच में आज भी कवि हृदय से निकले कुछ सुंदर, मनमोहक और अनायास होने पर आ बैठने वाले गीत लिखे और गाए जा रहे हैं।

हिंदी सिनेमा जब मूक था तब भी तथा जब सवाक हुआ तब भी और अब जब शोर-शराबे वाला हो गया तो भी हम देख सकते हैं कि कमोबेश उसका सामाजिक सरोकार समाप्त नहीं हुआ। कुछ भौंडे कॉमेडी चलचित्र भी बने तो कुछ वास्तव में उच्च स्तरीय हास्य मनमोहक व्यंग्य वाले चलचित्रों ने भी अपनी सादगी से विमुग्ध कर लिया। हिंदी सिनेमा ने हमें एक से बढ़कर एक अभिनेता दिया और महान से महान अभिनेत्री भी दी। पूरा एक इतिहास है जो शतकीय यात्रा पूरी कर चुका है। कलाकार, कहानीकार, संवाद-लेखक, अनुवादक, निर्देशक, प्रस्तुतकर्ता, वितरक, निर्माता और पूरी एक टीम जब किसी भी फिल्म से जुड़ती है तो निःसंदेह यादगार फिल्में समाज को देने का कार्य करते हैं।

'तीसरी कसम', 'सारा आकाश', 'भुवनशोम', 'रजनीगंधा', 'उसकी रोटी', 'स्पर्श', 'आक्रोश', 'गमन', 'अलबर्ट पिंटों को गुस्सा क्यों आता है', 'दामुल', '36 चौरंगी लेन', 'मिर्च-मसाला', 'इजाज़त' जैसी कुछ हिंदी फिल्मों ने हिंदी सिनेमा को एक अछूत राह की तरफ, एक नई राह की तरफ मोड़ दिया। आगे चलकर 'चक दे इंडिया', 'शोले', 'दंगल', 'तारे ज़मीं पर', 'रंग दे बसंती' आदि कुछ फिल्मों ने भी समय-सापेक्ष नए विषय अपनाए, नई दृष्टि से कुछ ज्वलंत सामाजिक-राष्ट्रीय मुद्दे उद्घाटित किए। 'आनंद', 'अभिमान', 'नमक हराम', 'मिली', 'वाटर', 'निःशब्द', 'ब्लैक' आदि फिल्मों ने भी जन-समूह को आकृष्ट और प्रभावित किया। 'चुपके-चुपके' और 'गोलमाल' जैसी फिल्में आज भी

उसी तरह ताज़ी और प्रभावी लगती हैं जैसे 30-40 वर्ष पहले लगती थीं।

फिर आगे चलकर 'खलनायक' के नायक बनने की यात्रा भी हिंदी सिनेमा ने तय की। नकारात्मक विषयों पर भी अनेक पिक्चरें बनीं। 'हत्या', 'मर्डर', 'डर्टी पिक्चर', 'फैशन', 'गुज़ारिश' आदि अनेक फिल्मों ने अपनी तरह से समस्याओं को उजागर किया। धीरे-धीरे प्रांतीय सिनेमा ने भी अपनी पहचान अखिल भारतीय स्तर पर बनानी प्रारंभ की। डबिंग से, वॉयस ओवरिंग से, अनुवाद से, संवाद अंतरण से, भाषांतरण-प्रक्रिया से भारतीय सिनेमा परस्पर यत्र-तत्र-सर्वत्र विचरण करने लगा। बाल-मनोविज्ञान की कथावस्तु पर, किसानों की समस्याओं पर, स्त्री-विमर्श संबंधी समस्याओं और कुरीतियों पर, सामाजिक विकृतियों पर, राष्ट्रीय चेतना के अनेक आयामों पर, गरीबी पर, बेरोज़गारी पर, सांप्रदायिकता पर, असमानता पर, औद्योगीकरण पर, शोषण, बलात्कार और शिक्षा के नए मायनों पर, अनाथ समस्या, अनमेल विवाह, विधवा समस्या, बुजुर्गों की समस्या, माता-पिता की उपेक्षा जैसी समस्या, हिंसा तथा आतंकवाद आदि की समस्या, शारीरिक दृष्टि से ईश्वर प्रदत्त चुनौतियों को लेकर, खेलों को लेकर, राग-द्वेष और ईर्ष्या को लेकर, प्रतिद्वंद्विता को लेकर, भ्रष्टाचार, व्यापार, भक्ति और प्रेम आदि को लेकर अनेक प्रकार की पिक्चरें बनीं और लगातार बन भी रही हैं। अतः हिंदी सिनेमा ने समाज, साहित्य, संस्कृति, इतिहास और सभ्यता आदि से संबंधित अनेक विषयों को आत्मसात किया है और गीतों, कथानकों, संवादों तथा संगीत आदि के द्वारा उन्हें अत्यंत मर्मस्पर्शी अभिव्यक्तियाँ प्रदान की हैं। नया सिनेमा, समानांतर सिनेमा, कला सिनेमा, मनोरंजन सिनेमा, हास्य-व्यंग्य का सिनेमा, दलित-विमर्श का सिनेमा, आरक्षण विषयक समस्याओं को उद्घाटित करता सिनेमा, संवेदनात्मक सिनेमा, न्याय-अन्याय की समस्या से जूझता सिनेमा, पूँजीवादी व्यवस्था से संघर्षरत सिनेमा, अंडरवर्ल्ड की चुनौतियों और समस्याओं से जूझता सिनेमा, स्टार परिवारों से घिरा सिनेमा, स्टारडम के अहंकार से ग्रस्त सिनेमा और सेंसर की गिरफ्त में सिनेमा, अश्लीलता से ग्रस्त सिनेमा, प्रदर्शन की होड़ में शामिल सिनेमा तथा विकास एवं विदेशीकरण के नए आयामों को उजागर करता सिनेमा, डॉक्यूमेंटरी सिनेमा, नैरेटिन फिल्मों से मेलोड्रामा तक पहुँचता सिनेमा, सार्थक सिनेमा, राष्ट्रीय-अंतर्राष्ट्रीय पुरस्कारों और अवार्डों की दुनिया में स्पेस को तलाशता हिंदी सिनेमा, सिनेमाई स्वप्नों का सौदागर सिनेमा, सिनेमाई भगीरथों की परंपरा की रक्षा के लिए चिंतित सिनेमा, चित्रकारों, नृतकों, खिलाड़ियों, राजनीतिज्ञों, राष्ट्रनायकों, वैज्ञानिकों और शिक्षकों की आवाज़ बनता हिंदी सिनेमा, नया अर्थशास्त्र गढ़ता और स्वर-संगीत के शिल्प को बुनता-तराशता हिंदी सिनेमा लगातार गतिशील है, नई राहों का अन्वेषी बनकर लक्ष्यगामी है। क्रांति का बिगुल बजाता, नए दर्शन का स्केच तैयार करता, रंगमंच की नई तस्वीर को उकेरता हिंदी सिनेमा चेतना का विस्तार तो कर ही रहा है किंतु कभी विचारधारा से भटकता भी प्रतीत होने लगता है। कभी रोमांटिसिज़्म की प्यास लिए, कभी असली भारत की धुंधली तस्वीर लिए, कभी कागज़ी फूलों में खुशबू की खोज करते हुए, कभी सामंतवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष की खोज करते हुए, कभी सामंतवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष करते हुए और कभी मार्क्सवादी दृष्टि से शोषक और शोषित की वास्तविकता को चित्रित करते हुए हिंदी सिनेमा निरंतर आगे बढ़ रहा है।

कभी विवाह, बंदिनी, आह, जागते रहो, बरसात, बॉबी और प्रेमरोग जैसी हिंदी फिल्मों ने देह की समस्या को, रिश्तों की महत्ता को उजागर किया है तो कभी दिलीप कुमार, देवानंद और राजकपूर की त्रिमूर्ति ने, त्रिदेव बनकर हिंदी सिनेमा को नए मायने भी दिए हैं। सच के सरोकार, रोमांस की दुनिया की अनुभूतियाँ, सुपरहिट फिल्मों का सिलसिला, साधारण की महानता की प्रतिष्ठा, प्रेम की अमरता, संवेदनाओं को छू लेने के नए धरातल, छोटी सी बात का बड़ा और अविस्मरणीय प्रदर्शन, गीतों, संवादों से खुशबू बिखेरने की कलात्मकता, रिश्तों की पड़ताल, मुस्कुराहटों के पीछे छिपे ग़मों को पढ़ लेने की अंतर्दृष्टि का उद्घाटन, सितारों और अभिनेताओं की टकराहट, अभिनय की नई सैद्धांतिकी का शास्त्र रचता सिनेमाई तंत्र, अभिनय की मौलिकता और प्रतिभा की आभा से पहचान बनाते चरित्र, कभी शोलों की चिंगारियों का जादू और कभी 'शान' से शो-मैन बनते हुए सिनेमाई जादूगर सभी ने भारतीय जीवन, जीवन-शैली, मूल्यों की सशक्त परंपरा, अपसंस्कृतिकरण का दबाव, बदलता भरतीय परिवेश और कभी विभाजन की त्रासदी से जूझता भारतीय जन-मानस, सुरों की साधिकाओं और साधकों का लोकोत्तर

अवदान, कभी संगीत का बदलता लहज़ा और कभी सौंदर्य के बदलते अर्थ तथा प्रतिमान, सभी कुछ भारतीय और विशेष रूप से हिंदी सिनेमा ने समय-समय पर उद्घाटित कर अपनी रचनात्मक भूमिका निभाई है। इधर 'पीलू' या 'पीपली लाइव' आदि फिल्मों ने एक नया सिनेमा-शास्त्र भी गढ़ा है। स्पेशल इफैक्ट्स ने 'कोई मिल गया', 'रेज', 'धूम', 'कृष', 'रोबोट', 'रावन' जैसे तकनीकी और उत्तर आधुनिक सिनेमा को भी विशेष पहचान दिलाई है।

कुल मिलाकर भारतीय सिनेमा और मुख्य रूप से हिंदी सिनेमा अनेक चेहरे बदलता है किंतु आत्मा उसकी वही बनी रहती है। अभी भी हमारे सिनेमा से यह अपेक्षा है कि वह हमें हमारे गौरवशाली अतीत से, सुनहरे इतिहास से विधिवत् परिचित कराए। हमारे युवाओं को आधुनिक तो बनाए, किंतु अपनी जड़ों से न उखड़ने की प्रेरणा और शिक्षा भी दे। बाज़ारवादी संस्कृति के पीछे दौड़ रहे युवाओं को अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्य का, दायित्व निर्वाह का, संवेदनाओं की रक्षा का भी पाठ पढ़ाए। समस्त कलाओं के भारतीय स्वर्णिम इतिहास की गरिमा का, गौरवानुभूति का बोध भी कराए। हमें नैतिक शिक्षा, सामान्य-ज्ञान शिक्षा और राष्ट्रीयता तथा राष्ट्रीय चेतना के बदले अर्थों से भी अवगत कराए। क्योंकि सिनेमा सर्वाधिक प्रभावकारी माध्यम है जो हर वर्ग के, हर उम्र के, हर क्षेत्र और राज्य के दर्शकों-श्रोताओं को आकृष्ट भी करता है, विमुग्ध भी करता है और प्रेरक भी बनाता है। दर्शकों की कच्ची दिमागी मिट्टी पर हिंदी सिनेमा जो बीज-वपन करता है, वह समाज में पल्लवित-पुष्पित होता स्पष्ट दिखाई देता है। प्रकारांतर से सिनेमा एक उस शिक्षक की भूमिका का निर्वाह करता है जो कक्षा में बैठे सैकड़ों विद्यार्थियों का यदि ठीक सृजन करता है तो वे राष्ट्र निर्माण के लिए प्रस्तुत होते हैं और यदि वह शिक्षक की भूमिका में विफल हो जाता है तो तैयार होने वाली पीढ़ी राष्ट्र के लिए घातक हो जाती है। शिक्षा केवल सैद्धांतिक नहीं होती, संस्कारों के निर्माण की भी होती है। वही होनी भी चाहिए।

– डी-67, शुभम एन्क्लेव, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063

❑❑❑

भारतीय सिनेमा का प्रारंभिक दौर : एक दृश्य चलचित्र क्रांति

हरिराम

भारतीय सिनेमा का उदय किसी क्रांति से कम न था। यह एक आश्चर्यजनक मनोरंजन पटल पर नए युग की शुरुआत थी। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दौर में विशाल प्रकाशमान की तरह पूरे वैश्विक स्तर पर भारतीय सिनेमा ने अपनी पहचान बना ली। अत: साहित्यिक नाटकों का मंचन उदाहरणार्थ रामलीला मंचन, नुक्कड़ नाटक इत्यादि मनोरंजन के भरपूर साधन थे। जब भारत में सिनेमा आया तभी सिनेमा जगत ने इन्हीं साहित्यकारों के साहित्य को फिल्मी कथा का आधार बनाकर फिल्में प्रस्तुत की। प्रारंभिक सिनेमा के निर्देशक हीरालाल सेन और मोतीलाल सेन बंधु, हरिश्चंद्र सुखाराम भटवडेकर, दादा साहेब रामचंद्र गोपाल तोरणो इसके अतिरिक्त दादा साहेब फाल्के के समकालीन अन्य निर्देशक रंगास्वामी नटराज मुदालियर, जमशेद फ्रॉमजी मदन (मदन थिएटर), रघुपति वेंकैया नायडू की प्रारंभिक सिनेमा को वैश्विक पहचान दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका रही। अत: सभी का योगदान भारतीय सिनेमा में अविस्मरणीय रहेगा।

भारतीय सिनेमा का उदय किसी क्रांति से कम न था। यह एक आश्चर्यजनक मनोरंजन पटल पर नए युग की शुरुआत थी। भारतीय सिनेमा के प्रारंभिक दौर में निर्देशित सभी फिल्में धर्म व पौराणिक ग्रंथों को आधार बनाते हुए बनाई गई। सभी फिल्में नई शिक्षा के उद्देश्य के स्तंभ का आधार बनी। प्रारंभिक स्तर पर विदेशी बाजारों में भारतीय सिने जगत को वैश्विक पहचान दिलाई। भारत में सिनेमा से पूर्व साहित्य ही मनोरंजन का समृद्ध संसार था। अत: साहित्यिक नाटकों का मंचन उदाहरणार्थ रामलीला मंचन, नुक्कड़ नाटक इत्यादि मनोरंजन के भरपूर साधन थे। जब भारत में सिनेमा आया तभी सिनेमा जगत ने इन्हीं साहित्यकारों के साहित्य को फिल्मी कथा का आधार बनाकर फिल्में प्रस्तुत की। तत्कालीन समय में जनता ब्रिटिश अत्याचारों से त्रस्त थी। अत: धर्म व पौराणिक आधारित फिल्मों को काफी सराहा गया और धर्म व पौराणिक आधार पर ही सिनेमा जगत ने अपनी एक नई अलग पहचान बना ली। प्रारंभिक दौर की फिल्में मूक फिल्में होते हुए भी सभी दर्शकों के मनोरंजन का एक आकर्षण का केंद्र थी। क्योंकि इससे पूर्व दर्शकों ने रंगमंच के नाटक देखे थे, भले ही प्रारंभिक फिल्में केवल उच्च वर्गीय लोगों तक सीमित थीं, परंतु धीरे-धीरे यह सुविधा आम जनता के लिए उपलब्ध हो गई। भारतीय सिनेमा के प्रारंभिक दौर में एक ऐतिहासिक शुरुआत के साथ 1896 में एक व्यावसायिक छायांकन जो भारत ही नहीं विश्वभर मे एक नई खबर बन गया। जिसे मुंबई में ल्यूमियर और रॉबर्ट पॉल की फिल्मों को दिखाया गया। सन् 1898 को मुंबई में प्रोफेसर स्टीवेन्सन द्वारा कलाकारों ने एक स्टेज शो के रूप में फिल्म दिखाई गई। जिसे 'द फ्लावर ऑफ पर्शिया' अर्थात् 'फारस के फूल' (1895) नाम दिया गया। कोलकाता में हीरा लाल सेन और मोती लाल सेन के साथ 1899 में रॉयल बायोस्कोप कंपनी बनाई गई। जहाँ मंच शो पर फिल्में दिखाई गईं और इन्हीं सेन बंधुओं ने 1901 से 1904 तक 'भ्रमर', 'हरि राय', 'बुद्धदेव', 'अलीबाबा' जैसी तत्कालीन समय की रोमांचकारी व भरपूर मनोरंजन की फिल्में दीं। उल्लेखनीय

भाषा ISSN 0523-1418

यह है कि इन बंधुओं का फिल्मी कारखाना 1913 में बंद हो गया और कुछ ही समय बाद एक बड़ी आगजनी में नष्ट भी हो गया। सेन बंधुओं का सिनेमा जगत का एक ऐतिहासिक प्रारंभिक कदम इतिहास बनकर रह गया। भारतीय सिनेमा उद्योग किसी भारतीय द्वारा शूट की गई पहली फिल्म हरिश्चंद्र सुखाराम भटवडेकर (मराठी नाम – हरिश्चंद्र तंगाराम भटवडेकर) ने 'द रेसलर्स' अर्थात् पहलवान (1899) फिल्म बनाई। यह फिल्म मुंबई के हैंगिंग गार्डन में हुए कुश्ती मैच को दर्शाते हुए बनाई गई थी। हरिश्चंद्र सुखाराम भटवडेकर के निर्देशन में 'एक आदमी और (1899), 'उसके बंदर' (1899) 'दिल्ली दरबार' (1903) जैसी सफल डाक्यूमेंट्री भारतीय सिनेमा को मिली। वर्ष 1899 में दादा साहेब रामचंद्र गोपाल तोरणे ने एक मूक मराठी फिल्म बनाई, जिसे कोरोनेशन सिनेमा सिनेमोग्राफ, मुंबई की ओर से 1912 में 'पुंडलिक' नाम से रिलीज किया गया। यह हमारे भारतीय सिनेमा इतिहास की एक महत्वपूर्ण फिल्म रही है क्योंकि इस फिल्म के लिए 'द टाइम्स ऑफ इंडिया' ने 25 मई, 1912 को अपने समाचार पत्र में एक बड़े विज्ञापन के साथ प्रस्तुत करते हुए फिल्म को देखने की अपील की थी। यह फिल्म तत्कालीन समय में दर्शकों के लिए एक सफल फिल्म रही। यह फिल्म मुख्यतः मराठी साहित्य नाटक के आधार पर रची गई।

भारतीय सिनेमा उद्योग में पूर्णावधि की प्रारंभिक फिल्म – दादा साहेब फाल्के अर्थात् धुंडीराज गोविंद फाल्के जो भारतीय भाषाओं के बहुभाषाओं के अच्छे विद्वान थे। उन्होंने भारतीय संस्कृति व पौराणिक ग्रंथों को आधार बनाकर सन् 1931 में 'राजा हरिश्चंद्र' फिल्म का निर्माण किया। इस फिल्म के सभी पात्रों की भूमिका पुरुषों ने की। 'राजा हरश्चिंद्र' एक फिल्म कोरोनेशन सिनेमा मुंबई की ओर से एक मील का पत्थर साबित हुई और व्यावसायिक स्तर पर अपार सफलता भी प्राप्त की। दादा साहेब फाल्के को भारतीय फिल्म उद्योग का पितामह कहा जाता है, क्योंकि उन्होंने भारतीय सिनेमा जगत में अपना जीवन समर्पित करते हुए भारतीय फिल्म उद्योग को बढ़ावा दिया और हिंदुस्तान सिनेमा कंपनी की स्थापना की। इन्होंने ही पहली बार सन् 1913 में 'मोहिनी भस्मासुर' फिल्म का निर्माण किया। जिसमें महिला पात्रों को भी स्थान देते हुए एक नया कदम उठाया अर्थात् 'मोहिनी भस्मासुर' फिल्म में पहली बार महिला कलाकारों को लिया गया था। 'सेतु बंधन' भारतीय सिनेमा जगत की वह पहली फिल्म थी, जिसे आवाज देकर एक डबमूवी का पहला सफल प्रयोग भी किया गया था। दादा साहेब के निर्देशन में यह पहली डब मूवी थी। वहीं दूसरी ओर पहली बोलती फिल्म 'गंगावतरण' बनाई गई, जो दादा साहेब की अंतिम फिल्म थी। दादा साहेब फाल्के ने अपने 19 सालों के कॅरियर में 95 फिल्में व 27 शार्ट फिल्में बनाई। दादा साहेब के सिनेमा जगत के अथक संघर्ष के इतिहास और प्रतिष्ठा को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने भारतीय सिने जगत को वैश्विक पहचान दिलाने के लिए 1969 को 'दादा साहेब फाल्के पुरस्कार' की स्थापना की। प्रारंभिक सिनेमा के निर्देशक हीरा लाल सेन और मोती लाल सेन बंधु हरिश्चंद्र सखाराम भटवडेकर, दादा साहेब रामचंद्र गोपाल तोरणे इसके अतिरिक्त दादा साहेब फाल्के के समकालीन अन्य निर्देशक रंगास्वामी नटराज मुदालियर, जमशेद फ्रॉमजी मदन (मदन थिएटर), रघुपति वेंकैया नायडू, अर्देशिर ईरानी की प्रारंभिक सिनेमा को वैश्विक पहचान दिलाने में महत्वपूर्ण भूमिका रही। अतः सभी का योगदान भारतीय सिनेमा में अविस्मरणीय रहेगा।

पहली सवाक (बोलती फिल्म)– अर्देशिर ईरानी कृत 'आलम आरा' (14 मार्च, 1931) एक सवाक (बोलती फिल्म) फिल्म भारत के इतिहास की यह पहली फिल्म थी। जब दर्शकों ने पहली बार एक पर्दे पर नाचते हुए कलाकारों को बोलते हुए अपनी भावनाओं को पर्दे पर उतारते हुए, अभिनय को हू–ब–हू अपनी तरह करते देखा। इसी वर्ष दक्षिण में तमिल भाषा की पहली बोलती फिल्म एच. एम. रेड्डी द्वारा 'कालीदास' (1931) व बंगाली भाषा में अमर चौधरी द्वारा मदन थियेटर लिमिटेड की ओर से 'जमाई षष्ठी' (1931) फिल्म बनाई गई। यह भारतीय सिनेमा में एक दृश्य क्रांति का प्रथम व वैश्विक पहचान का स्वर्ण कदम था।

दादा साहेब फाल्के का भारतीय सिनेमा में योगदान – 'राजा हरिश्चंद्र' (1913) फिल्म में महिला कलाकारों के लिए तारामती किरदार के लिए दादा साहेब फाल्के ने अथक प्रयास किए, लेकिन कोई महिला कलाकार तैयार नहीं हुई। अतः दादा साहेब फाल्के की दूरगामी सोच को किसी ने नहीं समझा।

इसके बावजूद तत्कालीन समय की परिस्थितियों को देखते हुए वे नहीं रुके। दादा साहेब फाल्के भारतीय थे, उन्होंने भारतीय सिने जगत की वैश्विक पहचान बनाते हुए सिनेमा की आजीवन सेवा की। दादा साहेब फाल्के तत्कालीन समय में वे स्वयं कैमरामैन थे, स्वयं ही आर्ट डायरेक्टर थे, स्वयं ही कॉस्टयूम डिजाइनर थे, स्वयं ही एडिटर प्रोसेस प्रिंटर थे, स्वयं ही डेवलपर थे, स्वयं ही प्रोजेक्ट डिस्ट्रीब्यूटर थे अतः सभी भूमिकाओं में बस अकेले खड़े थे। उनका साथ देने वाला कोई नहीं था। फिर भी उन्होंने संघर्ष करते हुए 'राजा हरिश्चंद्र' (1913) फिल्म के लिए फिल्मी महिला पात्र तारामती की भूमिका में एक पुरुष कलाकार को लिया और अपनी फिल्म का निर्माण किया। दादा साहेब फाल्के के इस स्वर्णिम योगदान को भारतीय सिनेमा जगत अपनी अविस्मरणीय श्रद्धांजलि देता है। जोनाथन क्रो के अनुसार "भारतीय गाथा से अनुग्रहित फिल्म पुण्यकालीन राजा की चिंता है जो अपने कर्तव्य के बोध और सत्य के प्रेम के लिए अपने राज्य का लगभग त्याग कर देते हैं। निर्देशक के प्रगतिशील विचारों की इच्छाओं के बावजूद फिल्म में एक पुरुष कलाकार था। राजा हरिश्चंद्र में पूरी तरह से गैर पेशेवर कलाकारों के चालक दल को चित्रित किया।" इस कथन से हम समझ सकते हैं कि दादा साहेब फाल्के को तत्कालीन समय में विभिन्न परेशानियों का सामना करना पड़ा और उनसे जूझते हुए सफलता हासिल की। आज के भारतीय सिनेमा की वैश्विक पहचान जो है, वो दादा साहेब की देन है दादा साहेब के सिनेमा जगत को वैश्विक पहचान दिलाने पर 1969 को 'दादा साहेब फाल्के पुरस्कार' की स्थापना की। यह पुरस्कार भारतीय सिनेमा का सबसे बड़ा पुरस्कार है। दादा साहेब फाल्के को 'दादा साहेब फाल्के' के सिनेमा जगत योगदान पर भारत सरकार के डाक विभाग ने भी डाक टिकट (1971) जारी करते हुए श्रद्धांजलि दी। "दादा साहेब फाल्के" के 148 वें जन्म दिन पर 2018 में गूगल ने भी 'डूडल' कई देशों में अपने आइकन में दादा साहेब फाल्के को याद करते हुए श्रद्धांजलि दी। अतः भारतीय सिनेमा का इतिहास एक दृश्य चलचित्र क्रांति से कम न था। यह एक आश्चर्यजनक मनोरंजन पटल पर नए युग की शुरुआत थी। जिसमें प्रारंभिक निर्देशकों को विभिन्न समस्याओं से जूझते हुए अमिट योगदान के कारण ही आज भारतीय सिनेमा का परचम विश्व में सबसे ऊँचा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हिदी साहित्य और सिनेमा – विवेक दुबे वेब पेज।

2. साहित्य और सिनेमा – अजय कुमार चौधरी, निबंध साहित्य और सिनेमा, सहायक प्राध्यापक, पी एन दास पलता।

3. हिंदी साहित्य और सिनेमा का अंतर्संबंध– रमेश चंद्रा, वेब ब्लॉग।

4. सिनेमा हिंदी साहित्य – इकबाल रिजवी, हिंदी समय में इकबाल रिजवी की रचनाएँ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा ईपत्रिका।

5. सिनेमा और दलित समाज – डॉ. जय प्रकाश कर्दम, (निबंध) पंकज पुस्तक मंदिर दिल्ली।

6. गूगल वेब पेज – दादा साहेब फाल्के।

7. ईपत्रिका – द न्यूयार्क टाइम्स 5 नवंबर, 2012 से जोनाथन क्रो का आलेख।

– हिंदी शिक्षक, शिक्षा निदेशालय, राष्ट्रीय राजधानी, दिल्ली–10086

❑❑❑

सिनेमा - भाषा, साहित्य, कला एवं संस्कृति का संवाहक

डॉ. एम. रामचंद्रम

भारत दुनिया का सबसे बड़ा फिल्म निर्माता है। अरबों रुपयों की लागत से प्रतिवर्ष एक हजार से अधिक फिल्में हमारे देश में बनती हैं और लगभग रोज दो करोड़ लोग फिल्में देखते हैं अर्थात् इसमें बहुत अधिक पैसा लगता है और इसे बहुत लोग देखते हैं। एक ओर यह बहुतों को काम देता है तो दूसरी और बहुत बड़े पैमाने पर समाज को प्रभावित करता है। अपनी व्यापक पहुँच के कारण समाज की मानसिकता को बदलने में यह बड़ी भूमिका निभाता है। इसलिए उसके कलात्मक औए सामाजिक सरोकारों की चिंता किसी भी समाज के लिए जरूरी है। शायद यही सोचकर जार्ज बर्नाड शॉ ने बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में कहा था कि,- "आविष्कार के रूप में सिनेमा प्रिंटिंग प्रेस से ज्यादा महत्वपूर्ण साबित होगा क्योंकि यह शिक्षित और उनके आचरण को प्रभावित करेगा। देश की चेतना, देश में आदर्श और आचरण की कसौटी वही होगी जो सिनेमा की होगी।" राम मनोहर लोहिया ने भी कहा था कि "भारत को दो चीजें बदल सकती हैं एक तो गांधी और दूसरा सिनेमा।"

हम जानते हैं कि भारत में कई भाषाओं में सिनेमा बनते हैं लेकिन सबसे अधिक फिल्में हिंदी में बनती हैं। हिंदी सिनेमा सिर्फ हिंदी क्षेत्र में ही नहीं बल्कि पूरे भारत में और आजकल लगभग पूरी दुनिया में विशेष कर जहाँ भारतीय हैं प्रदर्शित और प्रशंसित होती है। हिंदी सिनेमा अपनी शक्ति और संभावनाओं के कारण क्रमशः अंतरराष्ट्रीय प्रतिष्ठा प्राप्त करता जा रहा है, कथ्य के स्तर पर हालांकि हालीवुड से अभी भी काफी पीछे है।

हिंदी सिनेमा के इतिहास में राजा हरिश्चंद्र पहली मूक फिल्म थी जो एक लोकप्रिय हिंदू पौराणिक कथा पर आधारित थी। भारत में 1912 से 1930 तक लगभग 1300 फिल्मों का निर्माण हुआ। इन में अधिकतर फिल्मों की कथाओं का आधार भारतीय जीवन में रचे-बसे ऐतिहासिक और पौराणिक पात्रों के जीवन और उससे जुड़ी घटनाएँ ही थी। 1931 में आर्देशिर ईरानी ने भारत की पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' का निर्माण किया यह वही समय था जब भारत अपनी सांस्कृतिक चेतना के संरक्षण के लिए कोशिश कर रहा था। वर्ष 1931 में ही तमिल की पहली सवाक फिल्म 'कालीदास' और तेलुगु की बोलती फिल्म 'भक्त प्रहलाद' का निर्माण हुआ। इनका प्रदर्शन वर्ष भी यही है। अपनी सांस्कृतिक प्रतिबद्धता के लिए विख्यात बंगाल में भी फिल्मों का निर्माण आरंभ हो चुका था। न्यू थियेटर्स ने 1931 में बांग्ला भाषा में 'चंडीदास' का निर्माण किया। गौर से देखें तो इन फिल्मों में भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण हिस्सा बन चुके पात्रों का ही चरित्रांकन हुआ था।

हिंदी फिल्मों में संस्कृति के विस्तार में साहित्यिक कृतियों पर बनी फिल्मों ने निर्णायक भूमिका अदा की। साहित्यिक कृतियों के सिनेमाई रूपांतरण ने भारतीय जनमानस में नई भावनाओं का संचार किया। दरअसल सिनेमा समाज के परिवर्तनकारी आंदोलनों की ही अभिव्यक्ति है। साहित्य द्वारा समाज में जीवन का सत्य अनुभव तो प्रकाशित होता ही है लेकिन उसकी अपनी कुछ सीमाएँ भी हैं। जो प्रस्तुतीकरण के लिए

बाधक भी बनती है, जबकि सिनेमा की पहुँच बहुतायत लोगों तक होती है और उनमें वे सारे दृश्य प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जिसे साहित्यिक विधाओं के माध्यम से प्रस्तुत करना असंभव तो नहीं पर दुष्कर अवश्य होता है। जब किसी कहानी या साहित्यिक कृति का अन्य किसी भी विधा में लेखन होता है तो उसे पढ़ने वालों की संख्या बहुत कम होती है और उसे लोगों तक पहुँचाने में समय भी लगता है लेकिन सिनेमा द्वारा इसका विस्तार आसानी से किया जा सकता है।

साठ का दशक भारतीय संस्कृति को और समझने के लिए महत्वपूर्ण है। इस दशक के आरंभ में ही 'मुगल-ए-आज़म' जैसी विशाल कलेवर वाली फिल्म का प्रदर्शन होता है। इस फिल्म ने अपार लोकप्रियता प्राप्त की। रोमांस, इमोशन और ट्रेजेडी का भव्य रूप इस फिल्म में देखने को मिलता है। इस फिल्म में तत्कालीन भारतीय समाज को देखा जा सकता है।'दो बीघा जमीन' 'जिस देश में गंगा बहती है' 'आवारा' 'परिणीता', 'प्यासा', 'गरम हवा', 'पतिता', 'हम दोनों', 'गाइड', 'गंगा-जमुना', 'जागते रहो', 'साहब बीबी और गुलाम' 'बंदिनी', मुझे जीने दो और 'देवदास' जैसी फिल्में भारतीय समाज का सच्चा आईना प्रस्तुत करती हैं। इन फिल्मों में भारतीय जन जीवन को बहुत नजदीक से देखा जा सकता है।

सत्तर के दशक में दो तरह की फिल्मों का निर्माण शुरू हुआ। व्यावसायिक और कलात्मक फिल्में या समानांतर फिल्में बनने लगी थीं। सत्तर दशक के उत्तरार्ध में मल्टीस्टार फिल्मों का भी दौर आरंभ होता है। 'दीवार', 'त्रिशूल', 'अमर अकबर एंथोनी', रमेश सिप्पी की शोले ने हिंदी सिनेमा को नया मुकाम दिया। अमिताभ बच्चन के आगमन ने हिंदी सिनेमा के अर्थशास्त्र को ही बदल दिया। अमिताभ द्वारा अभिनित 'जंजीर', 'दीवार', 'खून पसीना', 'कालिया', 'परवाना', 'कभी-कभी', अमर अकबर एंथोनी, मुकद्दर का सिकंदर जैसी फिल्मों ने तत्कालीन व्यवस्था और राजनीति के बदलते समीकरण को प्रस्तुत कर जनता की भावना का दोहन आरंभ किया। लोग ऐसी फिल्मों को देखने के लिए बार-बार सिनेमा घर तक जाते थे। हालांकि इन फिल्मों में जनता का व्यवस्था के प्रति जो आक्रोश था, वही पर्दे पर चित्रित हो रहा था। जिसे आम जनता अपने साथ जुड़ा हुआ पाती थी। इसके साथ ही 'सत्यकाम', 'मैं तुलसी तेरे आंगन की', 'मेरा गाँव मेरा देश', 'धर्मात्मा', 'आँधी' और 'किस्सा कुर्सी का' जैसी फिल्में भी बन रही थीं जिनके केंद्र में भारतीय समाज की आस्था, विश्वास और आदर्शवादी भावना एवं राजनीतिक व्यवस्था के प्रति आक्रोश दिखाई दे रहा था।

अस्सी के दशक में 'नदिया के पार' नामक फिल्म प्रसारित हुई। गोविंद मुनिस द्वारा निर्देशित यह फिल्म केशव प्रसाद मिश्र के हिंदी उपन्यास 'कोहबर की शर्त' पर केंद्रित थी। 'नदिया के पार' पूर्वांचल की संस्कृति के समाजशास्त्र को समझने के लिए महत्वपूर्ण है। इस फिल्म ने पूरे भारत के जनमानस को इतना प्रभावित किया कि इसे देखने के लिए कई-कई बार लोग परिवार सहित सिनेमा हाल की तरफ मुखातिब हुए।

सिनेमा के आरंभ से ही उसमें हिंदुस्तानी भाषा का ही प्रयोग होता रहा है। पौराणिक और ऐतिहासिक पात्रों के जीवन पर बनने के कारण प्रारंभिक फिल्मों की भाषा संस्कृत मिश्रित हिंदी थी। आरंभ में पारसी थियेटर का प्रभाव सिनेमा पर बहुत ज्यादा था, इसके कारण उर्दू और फारसी भाषा का प्रभाव सिनेमा पर हुआ। उस समय बंबई में और लाहौर में पारसी और उर्दू नाटक खूब खेले जाते थे। ये नाटक बहुत लोकप्रिय भी थे। भारतीय जीवन में बसे काल्पनिक घटनाओं को प्रेम और इमोशन मिश्रित भावनाओं को जोड़कर आम जनता का मनोरंजन कर उससे पैसे कमाना पारसी थियेटर का मूल कार्य था। पारसी थियेटर की लोकप्रियता ने हिंदी सिनेमा में भी अपना स्थान बना लिया।

सिनेमा और भाषा का संबंध उसी तरह है, जिस तरह देह और आत्मा का। भाषा सिनेमा की आत्मा है। आरंभिक मूक फिल्मों में भी सांकेतिक भाषा का प्रयोग होता था। भाषा तो मानव की भावनाओं की वाहिका है जो उसके अंदर छुपी भावना को दूसरे तक संप्रेषित करती है। सिनेमा भी भावनाओं के संप्रेषण का सशक्त माध्यम है। हिंदी भाषा विश्व में सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषाओं में से एक है। वर्तमान में उसकी मार्केटिंग का आंकड़ा अरबों में है। हिंदी फिल्मों में भाषा की भूमिका को देखना इस अर्थ में भी आवश्यक है कि भाषा ही पात्रों के परिवेश और घटनाओं को पूर्णता प्रदान करती है। हिंदी सिनेमा में जिन फिल्मों का निर्माण होता है वह केवल विशुद्ध हिंदी वाले नहीं बल्कि सम्पूर्ण

भारत में ही नहीं, पूरे विश्व में फैले हिंदी समझने और बोलने वाले भी उसे देखते हैं। जिन्हें हिंदी समझ में नहीं आती वे भी अपनी अपनी भाषाओं में डबिंग के माध्यम से हिंदी फिल्में देखते हैं। वर्तमान में हिंदी फिल्में राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय मुद्दों और विमर्शों को भी अपने अंदर समाहित करने लगी हैं। हाल ही में प्रसारित 'न्यूटन', 'करीब-करीब सिंगल', 'लंच बाक्स', 'शमिताभ', 'रा-वन' जैसी फिल्मों ने हिंदी भाषा का नया समाजशास्त्र तैयार किया है जिसे देखने के लिए दर्शकों का एक बड़ा वर्ग उस ओर आकर्षित हुआ है। भारत की संस्कृति, समाज और राजनीति को प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत करने में भाषा की निर्णायक भूमिका रही है क्योंकि बिना किसी सार्थक भाषा के फिल्मों के विषय और पात्र को अलग करके देखना बहुत मुश्किल है।

इस प्रकार देखें तो सिनेमा किसी भी समाज की संस्कृति और भाषा को अपने अंदर सँजो कर रखती है। समय के साथ भाषा और संस्कृति के बदलते रूपों को भी वह प्रस्तुत करता है। सिनेमा की एक बड़ी विशेषता यह होती है कि वह कभी रूढ़ नहीं होता। सिनेमा की भाषा उन भाषागत रूढ़ियों का उन्मूलन करती है जो समाज के विकास में हितकारी नहीं मानी जा सकती हैं। समाज में होने वाले राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परिवर्तनों को दर्ज करता हुआ सिनेमा आगे बढ़ता है। यही कारण है कि आज सिनेमा की भाषा और उसके विषय-वस्तु में बड़ा परिवर्तन देखने को मिल रहा है और यही हमारी भाषा को पुष्ट और समृद्धि भी प्रदान कर रहा है।

– प्राचार्य (एफ.ए.सी.), गवर्नमेंट डिग्री कालेज मलकाजगिरी, मेड्चल जिला

❑❑❑

कला, हिंदी सिनेमा और भारतीय समाज : एक वैचारिक पहलू

प्रवीण कुमार

प्रस्तुत आलेख कला, सिनेमा और भारतीय समाज के संदर्भ में है। इसमें कला की वैचारिकी, कला और सिनेमा के संबंध, उसके सरोकार और प्रभाव के साथ-साथ वर्तमान में सिनेमा के कारण उत्पन्न संकट और चुनौतियों का भारतीय समाज एवं संस्कृति पर कैसा प्रभाव पड़ रहा है। इस आलेख में उसके वैचारिक पहलुओं को समझने का एक प्रयास है।

भारतीय सिनेमा अपने सफर के सौ वर्ष पार कर चुका है। इस सफर में सिनेमा ने अपने कई प्रतिमानों को तोड़ा है और कई नए प्रतिमानों को गढ़ा भी है। गढ़ा ही नहीं बल्कि उसे खड़ा भी किया है। इस दौरान सबसे अहम बात यह हुई कि सिनेमा ने अपनी वैचारिक अवधारणा के स्वरूप को बहुत तेजी से बदला है। जिसके कारण सिनेमा मनोरंजन के साधन से अलग समाज के सामने एक आईना बनकर उभरा है। विश्व पटल पर फ्रांस में पहली बार फिल्म प्रदर्शन के बाद भारत में 7 जुलाई 1896 में पहली बार 'ल्यूमिएर ब्रदर्स' की फिल्मों का प्रदर्शन हुआ। सन् 1913 में भारत में पहली फिचर फिल्म दादा साहेब घुंडीराज गोविंद फाल्के ने बनाई। यह फिल्म थी 'राजा हरिश्चंद्र।' यह एक मूक फिल्म थी। मूक फिल्मों का यह सिलसिला 1931 में आकर बदला। सन् 1931 में अर्देशिर एम ईरानी ने पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' बनाई। इस फिल्म ने सिनेमा को एक नए कलेवर में ढाला। इस संदर्भ में यह ध्यान रखना जरूरी है कि "मूक फिल्मों की कथावस्तु अधिकांशतः पौराणिक-धार्मिक आधारित होती थी। कुछ फिल्मों में इससे अलग सामाजिक समस्याओं को चित्रित किया जाता था।" (भारतीय संस्कृतिः 196) इस तरह भारतीय सिनेमा शनैःशनैः समसामयिक समस्याओं को अपने कलेवर में समेटती हुई आगे बढ़ने लगी।

सिनेमा शब्द जो कि फ्रेंचभाषा के शब्द 'सिनेमैटोग्राफ' से बना है। यूँ भी कह सकते हैं कि यह सिनेमा शब्द सिनेमैटोग्राफ का ही संक्षिप्त रूप है। और जिसे यूनानी भाषा में 'किनेमैटोग्राफ' भी कहा जाता है। हिंदी में इसे 'चलचित्र' कहा जाता है। इसका इतिहास बहुत ही रोचक और संघर्ष भरा रहा है। यह संघर्ष हमेशा से एक तकनीकी प्रयोग कर रहा है। इस तकनीकी प्रयोग के माध्यम से ही आज एक घर में भी पूरे सिनेमा का स्वरूप तैयार हो जाता है। इस इतिहास को डॉ. एस. आर. जयश्री ने अपनी पुस्तक 'सिनेमा एक सफरनामा' में विस्तार से उल्लेख किया है। यहाँ इस विस्तार को अनावश्यक रूप से बढ़ाना उचित नहीं है। इस पत्र का उद्देश्य यह है कि वर्तमान में सिनेमा को एक कला के रूप में देखा जाता है तो इस सिनेमा और कला में क्या संबंध है? क्या सिनेमा ने कला को सामाजिक रूप से पदच्युत किया है? क्या सिनेमा का प्रभाव वैसा ही है जैसा कला का समाज में रहा है? क्या साहित्य और सिनेमा के बीच कोई संबंध है? क्या आज सिनेमा हमारी संस्कृति को संक्रमित कर रहा है? इसी के साथ यह भी जानने का प्रयास है कि हिंदी सिनेमा अपने सफर में कितना आधुनिक और कितना पारंपरिक है?

सर्वप्रथम हम कला की अवधारण पर विचार करते हैं। कला का जन्म कैसे हुआ और समाज में कला

भाषा ISSN 0523-1418

का महत्व कैसा रहा है और मानवीय सभ्यता के विकास में कला का क्या योगदान रहा है। कला का संबंध मानवीय जीवन के भावनात्मक सृजन से है। मानव जब अपनी अनुभूति को भावनात्मक छवि या बिंब के रूप में प्रस्तुत करता है तब जाकर कहीं न कहीं वह भावनात्मक छवि का रूप कला की संज्ञा से जाना जाता है। जिसे लियो तोल्स्तोय ने 'मनुष्य का भावनात्मक संसर्ग कहा है।' (कला के सामाजिक उद्‌गम: 23) वहीं इसका एक दूसरा पक्ष यह भी है कि कला मनुष्य के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन के बीच अनुभूत घटनाओं, विचारों, भावनाओं का ही प्रतिरूप है जो विभिन्न बिंबों के बीच अपना आकार और स्वरूप ग्रहण करता है। प्लेखानोव के शब्दों में कहा जाए तो "कला एक सामाजिक परिघटना है।" (कला का सामाजिक उद्‌गम : 30) कला तब जन्म लेती है जब मनुष्य अपने इर्द-गिर्द के यथार्थ के प्रभाव के अंतर्गत अनुभूत भावनाओं और विचारों को अपने भीतर पुन: जाग्रत करता है और उन्हें निश्चित बिंबों में अभिव्यक्त करता है। इसे यूँ कह सकते हैं कि कला जीवन की और जीवन में अनुभूत भावों, दृश्यों, घटनाओं, विचारों आदि की अभिव्यक्ति और संप्रेषण है। जिसके माध्यम विभिन्न हैं लेकिन मूलत: विभिन्न कलाओं को विद्‌वानों आदि की अभिव्यक्ति और संप्रेक्षण है। जिसके माध्यम विभिन्न है लेकिन मूलत: विभिन्न कलाओं को विद्‌वानों ने और समाज के द्‌वारा छह स्वरूपों में स्वीकार किया गया है। जो कि इस प्रकार से हैं- 1. स्थापत्य कला 2. मूर्तिकला एवं चित्रकला 3. नाट्य कला 4. संगीत कला 5. नृत्य कला और 6. काव्य कला। वस्तुत: कला के इन रूपों में समाज का जीवनमूल्य निहित है। यह एक कलाकार की दृष्टि है जोकि उनके जीवन संघर्ष की सामाजिक अनुभूति है और उससे निर्मित उनके वैचारिक मूल्यों का संप्रेषण भी। इन सब कलाओं की सामाजिक स्थिति भिन्न-भिन्न है और समाज में इन कलाकारों की सामाजिक परिस्थिति अलग-अलग रही है। भारत में इन कलाओं का विभाजन विद्‌या और उपविद्‌या में किया गया है जोकि भारतीय सामाजिक संरचना में व्याप्त वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था का प्रतिफलन है। काव्य कला की विद्‌या में गिनती की जाती है जिसका टूल है- अक्षर और बाकी अन्य कलाओं की उपविद्‌या में गिनती की जाती है जिसके टूल्स क्रमश: छेनी-हथौड़ी, रंग, संवाद, स्वर-लय और भंगिमा हैं इन्हीं टूल्स के माध्यम से इन कलाओं का सौंदर्य उत्पन्न होता है और वह सौंदर्य के प्रतिमान को भी स्थापित करता है। वस्तुत: यह विभाजन, श्रम-शारीरिक और मानसिक का विभाजन है। जिसका समाजशास्त्रीय अध्ययन भारतीय समाज में कलाओं के विकास के साथ-साथ भारतीय समाज के विकास का द्‌योतक है। ये सभी कलाएँ समाज में भिन्न-भिन्न देशकाल में अपना महत्व रखती हैं। इन सभी कलाओं को तकनीकी माध्यम से एक समुच्चय स्वरूप में सिनेमा प्रस्तुत करता है। या यूँ कह सकते हैं कि आधुनिक युग में कलाओं का समुच्चय सिनेमा है। एक सिनेमा में सभी कलाओं का दर्शन-निदर्शन हो जाता है। इस आलोक में सिनेमा को कला व्यक्त करने और उसके सामाजिक सरोकारों को जनता तक पहुँचाने का एक मशीनी यंत्र भी कह सकते हैं। लेकिन सवाल उठता है कि क्या सिनेमा सिर्फ कलाओं का मशीनी यंत्र के माध्यम से प्रदर्शन है या कुछ और भी? निश्चय ही इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि सिनेमा एक कला भी है जिसमें कलाकार अपनी गतिविधियों के माध्यम से जीवन के विविध रंगों को प्रदर्शित करता है। इसे इस रूप में समझा जा सकता है कि सिनेमा कला भी है और कला के विविध रूपों को जनता तक पहुँचाने का माध्यम भी। इसे सभी ललित कलाओं का कोलाज भी कहा जा सकता है। कुछ विद्‌वानों ने इसे (सिनेमा) 'जनसंचार' का माध्यम भी कहा है और उसी रूप में समझने-समझाने का प्रयास किया है। डॉ. बलबीर कुंदरा ने भारतीय सांस्कृतिक संदर्भों में सिनेमा को सर्वाधिक लोकप्रिय और शक्तिशाली संचार माध्यम कहा है तो वहीं रूपचंद गौतम का मानना है कि "जनसंचार के इस (सिनेमा) माध्यम से ध्वनि, दृश्य, गीत-संगीत, अभिनय, वेशभूषा आदि का पढ़े-लिखे, अनपढ़, अमीर-गरीब, बूढ़े, जवान और बच्चों पर सीधा असर पड़ता है।" इससे यह स्पष्ट होता है कि सिनेमा सभी वर्गों-समुदायों के बीच जीवनशैली के प्रबोधन का माध्यम बन गया है। इसी में सिनेमा के सामाजिक सरोकारों को भी समझा जाना चाहिए कि आज समाज में हर दौर के सिनेमा का अद्‌भुत प्रभाव उस देशकाल में देखने को मिलता है। हर पीढ़ी में अपने-अपने आस्वाद

के अनुसार उसकी व्याख्या, विवेचन-विश्लेषण देखने को मिलता है। हर पीढ़ी के युग में उसके दौर के सिनेमा का अनुकरण है और उससे वह प्रभावित-द्रवित देखा जा सकता है। राजा हरिश्चंद्र के सत्यवादी होने और बनने की प्रक्रिया से लेकर माँ के वात्सल्य कारुणिक द्रवन की क्रिया से लेकर 21वीं सदी के 'साड़ी के फॉल सा कभी मैच किया कभी छोड़ दिया रे' तक का प्रभाव युवा जनमानस में सहज ही देखा जा सकता है।

वस्तुत: फैंटसी, कल्पना, रोमानियत, यथार्थ, हास्य, शोक, त्रासदी, इतिहास, वर्तमान और भविष्य इन सभी भावनाओं तथा विचारों का कलात्मक रूप है सिनेमा। इस दृष्टि से सिनेमा एक सामूहिक कला है सिनेमा को न तो साहित्य से अलग करके देखा जा सकता है और न ही संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, पेंटिंग, अभिनय, नृत्यकला आदि से। साहित्य का इन सब कलाओं से संबंध प्राकृतिक संयोग है और फिल्म निर्माण इसका परिणाम। जिसका उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ सामाजिक परिवर्तन, सांस्कृतिक मूल्य और चेतना को समाज में विकसित करना है। आज का सिनेमा अत्यधिक विकसित एवं वैज्ञानिक तकनीकी प्रणाली से युक्त है। इतना ही नहीं समय-सापेक्ष सिनेमा का उद्देश्य बदलता रहा है। वर्तमान में सिनेमा का लक्ष्य मानव जीवन शैली को व्यक्त करने के साथ समाज की जीवनशैली को परिवर्तित करना हो गया है। वह पूरी तरह से जीवन की संजीदगी और संवेदना के विविध पहलुओं को समेटने में लगा है। पूंजीवादी व्यवस्था और बाजारवाद के बीच लोगों की जिंदगी कैसे बदल रही है? कैसे लोगों का जीवन 'शुतुरमुर्ग' की तरह होता जा रहा है? जीवन के संघर्ष और स्वप्न को व्यक्त करने का माध्यम बन गया है। 'अनुकरण' और 'संस्कृतिकरण' के बीच बदलती जिंदगी का पर्याय बन गया है सिनेमा। सभ्यता-संस्कृति को वहन करने का माध्यम बन गया है। शादी-विवाह के रीति-रिवाजों से लेकर जीवन के अन्य रस्मों को सिनेमा की तर्ज पर समाज में देखा जा सकता है। यूँ कह सकते हैं कि सभ्यता-संस्कृति को वहन करने के साथ-साथ सभ्यता-संस्कृति के बदलते स्वरूप को प्रकट करने का सबसे सशक्त यांत्रिक माध्यम बन गया है। सबसे बड़ी बात यह है कि सिनेमा अपनी प्रकृति में 'रोजगार' और व्यवसाय का बड़ा प्लेटफार्म बन गया है। इस प्लेटफार्म से किस वर्ग-समुदाय को रोजगार मिला है और मिल रहा है तथा किसका व्यवसाय चल रहा है? यह भी विचारणीय सवाल है। फिलहाल यह देखा जा सकता है कि सिनेमा की विषयवस्तु सामाजिक विडंबना, आदर्श, विकृतियों, रूढ़िवादिता, यांत्रिका, भौतिकवादिता, सामाजिक विकास, धार्मिकता, कर्मकांड, जातिवाद, आतंकवाद, शोषण, उत्पीड़न, द्वंद्व -अंतर्द्वंद्व, प्रेम, शिक्षा, मनोरंजन, आर्ट, भक्ति, देशभक्ति, राष्ट्रनिर्माण आदि विषयों से जुड़ी हुई है।

कला और समाज का संबंध

कला समाज की उपज होती है और कला-सौंदर्य, उसकी संवेदना एवं सरोकार समाज के परिवर्तन में महत्वपूर्ण योगदान देता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि कला और समाज में अन्योन्य संबंध है। कला समाज का पथप्रदर्शक भी है और अनुगामी भी। दोनों एक-दूसरे से प्रेरित व प्रभावित होते हैं। पथप्रदर्शक भी समाज के भविष्य के बारे में बताते हैं। इस संदर्भ में कला यथार्थवादी होती है और कला का यथार्थवादी स्वरूप समाज में क्या हो रहा है और भविष्य में क्या होने वाला है? उससे जनता को रू-ब-रू कराती है। उसकी पूरी संभावनाओं को प्रस्तुत करती हैं। अनुगामी इस अर्थ में है कि कला समाज के उन्नत-विकसित मूल्यों को जनता के सामने एक आदर्श के रूप में उपस्थित करती है और जनता उसका अनुकरण करती है और अपनी जीवन-पद्धति को बेहतर बनाने के लिए उद्यम करती है।

वैसे भी कला की प्रकृति यथार्थवादी है क्योंकि यथार्थ ही कला का मुख्य स्रोत होता है। कला की जड़ें वास्तविक जीवन में होती है और यह सामाजिक जीवन से ही नि:सृत होती हैं। प्लेखानोव के शब्दों में कहें "तो कला का कार्य मानवीय चेतना के विकास में मदद करना है, मानवीय सामाजिक प्रणाली को उन्नत बनाना है।" इसका संबंध सृजनात्मक उत्पादन की प्रक्रिया और श्रमसौंदर्य से है इससे अलग उद्देश्य की आपूर्ति का साधन बनाना चाहे वह उद्देश्य कितना ही ऊँचा क्यों न हो; कला के मूल्यों की तौहीन ही होगा। इस संदर्भ में यह बात हमेशा ध्यान रखनी चाहिए कि कला अपने आप में एक उद्देश्य है। "कला सिर्फ जीवन की

पुनर्प्रस्तुति ही नहीं है बल्कि उसकी व्याख्या भी करती है। उसकी प्रस्तुतियों में बहुधा जीवन की परिघटनाओं पर फैसले देने का उद्देश्य भी निहित होता है।" (कला के सामाजिक सरोकार : 140) वह मनुष्य में इंसानियत की संवेदना पैदा करती है और अपने समाज-राष्ट्र में एक नागरिक भी बनाती है। उसे नागरिकता से भी लैस करती है। लेकिन यह सब बहुत आसान नहीं होता है क्योंकि एक ही कलाकार एक देशकाल में एक बात को प्रस्तुत करता है और दूसरे देशकाल में दूसरी बात। इसका मतलब यह हुआ है कि एक समय में एक कलाकर का दृष्टिकोण अलग होता है और दूसरे देशकाल में दूसरा। इसे इस प्रकार से भी कहा जा सकता है कि 'क्या होना चाहिए' सिर्फ इसी ओर नहीं सोचना चाहिए। बल्कि "वास्तव में क्या है और क्या होता आ रहा है" इस पर भी ध्यान देने की जरूरत है। इसका भी ख्याल रखना चाहिए। यहीं से समाज में कला की सार्थकता और उसके सरोकारों को देखा जाता है। कला की सार्थकता का अभिप्राय और उसके सरोकारों को दो स्तर पर समझा जा सकता है। जब एक कलाकार अपनी कला को जन्म देता है तब उसका लक्ष्य क्या होता है? क्या यह लक्ष्य सीधे बाजार से जुड़ा हुआ होता है या वह अपनी अनुभवजन्य ज्ञान को विचारों में पिरोकर कला के माध्यम से समाज तक पहुँचाना चाहता है। इस संदर्भ में जब कला की व्याख्या होती है या उसे समझने-समझाने की बात की जाती है तब वहीं से कला के प्रति लोगों की दृष्टि भी उभरकर सामने आती है। जिसे सामान्यत: कला के मूल्यांकन के संदर्भ में 'कला कला के लिए' और 'कला जीवन के लिए' समझा जाता है यह दो दृष्टि कला के सरोकार को स्थापित करती हैं और उसकी सार्थकता भी। इससे अलग अब कला को समझने का एक प्रयास जो होता है वह सत्ता के गलियारों से किया जाता है ध्यान रहे कि सत्ता हर चीज के प्रति अपना नजरिया रखती है जिसका मकसद सिर्फ और सिर्फ सत्ता में अपने आप को बनाए रखना होता है इसलिए वह हर एक चीजों को उपयोगितावादी दृष्टिकोण से देखती है। यह उपयोगितावादी दृष्टिकोण भले ही आधुनिक पूंजीवाद और बाजारवाद की दुनिया की सोच लगती है लेकिन इसका इतिहास बहुत ही पुराना है और सत्ता के साथ हमेशा से ही इसका गठजोड़ रहा है यह 'कला के लिए' दृष्टिकोण का नया स्वरूप है। इस आलोक में कला की व्याख्या और उसके सरोकार को समझने का प्रयास है कि कला अपनी प्रकृति में हमेशा ही जनवादी रही है और वह सत्ता के विरोध में खड़ी होती है लेकिन सत्ता कला के इस स्वभाव को अपने लिए इस्तेमाल करती है। उदाहरण स्वरूप 'रंगरसिया' फिल्म को देखा जा सकता है। रंगों के बीच जब एक स्त्री की प्रतिमूर्ति तैयार की जाती है तब वह कैसे कॉस्ट्यूम के साथ देवी के रूप में स्थापित हो जाती है और बाजार उसे समाज में उतार देता है। जिसके कारण उन कॉस्ट्यूम की धूम बाजार में मच जाती है। लेकिन जैसे ही कलाकार उसे जीवन के रूप में देखना शुरू कर देता है। तभी बाजार उसे एक अलग जगह दे देता है और उसे देवी से कुलटा स्त्री में तब्दील कर देता है। यह एक उपयोगिता से उपभोक्तावादी सोच की परिणति है जिसका इस्तेमाल राजनैतिक सत्ता हमेशा करती है। इसी को आप 'ओ माई गॉड' फिल्म में देख सकते हैं। इसमें परेश रावल मूर्ति का दुकानदार है और उसने दुकान का बीमा करा रखा है। बीमा के कारण वह अपनी क्षतिपूर्ति की मांग करता है और समाज 'भगवान' के ऊपर मुकदमा दायर करता है। वह एक जनवादी सोच से चीजों को देखता है लेकिन जैसे ही वह सत्ता को परास्त करता है तभी सत्ता उसे आगोश में लेकर उसे ही अपना हथियार बना लेती है। यहाँ उपयोगिता से उपभोक्तावादी दृष्टिकोण है। सोचिए, क्या एक कलाकार जब अपनी कला को मूर्त रूप देता है तब वह क्या सोचता है? संभवत: नहीं। वह ऐसा कभी नहीं सोचता है। वह तो सिर्फ अपनी भावनाओं को मूर्त कर रहा होता है। उसे क्या पता जिसे वह मूर्त रूप दे रहा है वह समाज में इस रूप में होगा। समाज तो उस कला को अपने आस्वाद के अनुरूप देखता है और उसे प्रस्तुत करता है। यहीं से कला के सामाजिक सरोकार कला की नि:सृत होने से लेकर समाज की सहृदयता के प्रत्यक्षीकरण-आस्वाद तक में स्पष्ट होता है। प्रत्यक्षीकरण इसलिए कहना चाहिए क्योंकि यह सब कुछ सहृदय के 'मूड' पर निर्भर करता है। यही वजह है एक सिनेमा एक सहृदय को आनंद प्रदान करता है तो दूसरे में 'उबाऊपन' को जन्म देकर उसे बोरिंग की अवस्था में पहुँचा देता है। दूसरी बात कला की भाषा सभी को

समझ में नहीं आती है। कला की भाषा तो उसका टूल होता है जिसका जिक्र पूर्व में किया जा चुका है। सिनेमा की भाषा कैमरा का शॉट(प्रतिबिंब) है, सीन(दृश्य) है और सीक्वेंस (अनुक्रम) है। जिसे संक्षेप में एसएसएस (ट्रिपल एस) कहा जाता है। दृश्यात्मक माध्यम में 'दृश्य' कथानक भी है और भाषा भी। सिनेमा की भाषा कैमरे की भाषा होती है और वह दृश्य के माध्यम से उभरती है। दृश्य जो बोलता है दर्शक वही देखता और समझता है। भले ही ट्रिपल एस निर्माता की दृष्टि में कुछ और हो लेकिन दर्शक और बाजार उसे अपने ढंग एवं आस्वाद से ही देखता है। यहीं से कला-सिनेमा और समाज का रिश्ता बनता है। उसका संबंध निर्मित होता है।

कोई भी कला समाज के बिना अस्तित्व में आ ही नहीं सकती है। समाज ही कला का आदि और अंत भी है। आदि और अंत इसलिए है क्योंकि कलाकार भी एक सामाजिक प्राणी है और समाज से ही वह ऊर्जा ग्रहण कर अपनी कला को जन्म देता है और कला समाज में ही पैठकर अपने मूल्यों का आकलन करती है। अपनी जमीं को स्थापित करती है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि कला समाज से ही ऊर्जा और प्रेरणा ग्रहण करती है और अपनी अवधारणा में समाज को बदलने की क्षमता रखती है। फिल्म की ऊर्जा, प्रेरणा और अवधारणा इससे अलग नहीं है। यह बदलाव सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक स्तर पर मूलरूप से देखा जा सकता है। लेकिन इस बदलाव में फिल्म की वैचारिकी को भी देखा जा सकता है। यह वैचारिकी गांधीवादी, मार्क्सवादी, राष्ट्रवादी आदि से लेकर अधुनातन अंबेडकरवादी और आदिवासियत दर्शन से भी प्रभावित है। परंतु हाशिए के अध्ययन (सबाल्टर्न स्टडीज) से पूर्व फिल्म की वैचारिकी अंबेडकरवादी और आदिवासियत दर्शन का प्राय: लोप ही दिखता है। डॉ. एस आर जयश्री के अनुसार, "प्रत्येक दशक की फिल्में उस समय की सामाजिक नीतियों, रूढ़ियों व भावनाओं को दर्शाती हैं। अपने प्रारंभिक काल में सिनेमा धार्मिक व ऐतिहासिक कथाओं पर आधारित था, साथ ही अपनी सरल प्रभावशाली संप्रेषणीयता के कारण लोगों के लिए आकर्षण का केंद्र रहा। उनमें भारतीय संस्कृति की महक थी, तथा विभिन्न आयामों में भारतीयता का चित्रण था। ब्रिटिश साम्राज्यवाद और सामाजिक कुरीतियों के विरोध, गांधीवाद, मानवतावाद और मार्क्सवादी समाजवाद के दर्शन फिल्मों में होते थे।" (सिनेमा एक सफरनामा: 156) इतना ही नहीं नवजागरण के दौर के वैचारिक संघर्ष को भी फिल्म में देखा जा सकता है। "स्वतंत्रता से पूर्व के दौर में फिल्मों को सेंसर के डर से सीधे तौर पर आजादी की लड़ाई का वाहक बनाना तो संभव नहीं हुआ, परंतु पौराणिक-ऐतिहासिक कथाओं के माध्यम से स्वतंत्रता संग्राम की अंतर्वस्तु की अभिव्यक्ति बराबर दी जाती रही।" (भारतीय संस्कृति: 196) इस दौर में अधिकतर मूक फिल्में बना करती थीं। जिसकी कथावस्तु अधिकांशत: पौराणिक-धार्मिक ही हुआ करती थी। सन् 1936 में 'अछूत कन्या' फिल्म बनी थी। जिसका संबंध सामाजिक परिवर्तन से रहा और यह पूरी तरह से महात्मा गांधी के दर्शन से प्रभावित फिल्म है। लेकिन उसी दौर में डॉ. अंबेडकर का सामाजिक परिवर्तन का आंदोलन चल रहा था। जिससे फिल्मी दुनिया पूरी तरह से अलग रहा। इससे यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक परिवर्तन के इस दौर और देशकाल से फिल्मी जगत अछूता नहीं रहा। और आजादी के बाद भी यह परिवर्तन का सिलसिला चलता रहा। स्वाधीनता के पश्चात् भारतीय समाज जैसे-जैसे परिवर्तन और स्वप्न के बीच गतिशील होता रहा। उसका प्रभाव फिल्म में भी देखने को मिलता है। यह परिवर्तन सीधे तौर पर फिल्म में नहीं दिखाई पड़ता है। फिल्म में यह परिवर्तन वाया 'परिवर्तन के फिल्मीकरण' से होकर आता है जो सिनेमा निर्माता, निर्देशक और फिल्मी कलाकारों की सामाजिक प्रतिबद्धता पर निर्भर करता है इसी पर फिल्म और समाज का संबंध भी निर्भर करता है और वह निर्मित भी होता है और यह सब पूरी तरह से जुड़ा होता है आर्थिक लाभांश और व्यवसाय से। परंतु यह आर्थिक लाभांश और व्यवसाय अप्रत्यक्ष रूप से समाज से जुड़ा होता है लेकिन समाज उसे मनोरंजन के तौर पर ही देखता है।

निश्चित तौर पर फिल्म का एक मकसद मनोरंजन करना है और वह मनोरंजन का सबसे सस्ता माध्यम भी है। लेकिन वह सबसे बड़ा व्यवसाय है। रोजगार का क्षेत्र है। जिसे समाज का आम जन नहीं के बराबर जानता है वह सिर्फ मनोरंजन और सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तन

को अनुकरण के रूप में महसूस करता है। फिल्म सिर्फ गतिशीलता और परिवर्तन को यथावत प्रस्तुत ही नहीं करती है बल्कि उसमें विकास के मार्ग की भी प्रस्तुति का सवाल भी निहित होता है। उसमें समाज को प्रेरित व प्रबोधित करने की शक्ति भी होती है। सन् 1936 के फ्रोज ऑस्टन की 'अछूत कन्या' से लेकर 'कबाली', 'पिंक' तक के सफर में इसे सहज ही देखा जा सकता है इस विकास में फिल्म के सांस्कृतिक पक्ष को अनदेखा नहीं किया जा सकता है। वर्तमान में भारतीय संस्कृति को व्यापक फलक पर पहुँचाने और वैश्विक स्वरूप प्रदान करने में फिल्म की भूमिका अहम रही है। लेकिन यह सांस्कृतिक परिवर्तन व संक्रमण एकतरफा नहीं है। यह दुतरफा है। फिल्म ने भारतीय संस्कृति को दुतरफा संक्रमित भी किया है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि फिल्म ने भारतीय संस्कृति के स्थानीय और राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य को एक जगह से दूसरी जगह तथा उत्तर-दक्षिण-पूरब-पश्चिम सभी स्थानों पर पहुँचाने और उभारने का काम किया है। इस प्रक्रिया में संस्कृति के पारंपरिक स्वरूप तक के प्रभाव को संक्रमण एवं परिवर्तन के रूप में महसूस किया जा सकता है। इसे यूँ भी कह सकते हैं कि संक्रमण और परिवर्तनकामी संस्कृति में पारंपरिक भारतीय संस्कृति से लेकर मास कल्चर, मॉल कल्चर और फिर पॉपुलर कल्चर तक के सफर को भी फिल्मी दुनिया ने अपनी कायनात में समेटा है। अधुनातन समाज इन कल्चरों का अनुकरण फिल्मों के माध्यम से ही करता रहा है। जैसे कैफे कल्चर, डेनिम कल्चर, इंटरटेनमेंट कल्चर, लिव इन रिलेशनशिप कल्चर, फिटनेस कल्चर, मोबाइल कल्चर का संकट, मॉल कल्चर, डेटिंग कल्चर जैसे पॉपुलर कल्चर ने स्थापित भारतीय संस्कृति में 'कल्चर पर कल्चर' पैदा किया है रीमिक्स कल्चर और विज्ञापन कल्चर ने जिस नई संस्कृति को प्रचालित किया है वह पुरातनपंथियों के लिए 'अपसंस्कृति' है तो युवा जनमानस के लिए नई संस्कृति है। जिसे 'मास कल्चर' भी कहा जाता हैं सबसे बड़ी बात यह है कि 'मास कल्चर' में कोई आदर्श नहीं होता है और न ही उसका कोई स्वरूप ही।' (भाषा, साहित्य और संस्कृतिः 417) यही बात विज्ञापन कल्चर में भी देखी जा सकती है। विज्ञापन की कोई विचारधारा नहीं होती है वह सिर्फ पूंजी की बाजारिक धारणाओं पर आधारित होता है जिसके कारण उसमें आकर्षण और अपकर्षण के साथ 'अपसंस्कृति' (भाषा, साहित्य और संस्कृतिः 418) का भी समावेशन रहता है। इस संस्कृति को बड़े पर्दे से लेकर छोटे पर्दे के सभी यांत्रिक उपकरण की सभ्यता (मोबाइल, टीवी, सिनेमा और सोशल मीडिया आदि यांत्रिक उपकरण) ने सबसे ज्यादा गति प्रदान की है। सूचना क्रांति के इस युग में यांत्रिक उपकरण की सभ्यता ने युवा जनमानस का अपहरण कर लिया है। इससे समाज की सभी पीढ़ी प्रभावित है। यह प्रभाव आज ऐसा है कि वह जीवन का अभिन्न अंग बन गया है यह सब संभव हुआ है सिर्फ और सिर्फ बाजार और मीडिया की सांठगांठ की वजह से। इस संदर्भ में मास कल्चर और फोक कल्चर दोनों को अलग रखने की जरूरत है। यह इसलिए कि मास कल्चर के पास अपना कोई आदर्श मूल्य या उच्च विचार नहीं है वहीं फोक कल्चर के अपने बिंब, प्रतीक, आदर्श, विश्वास, प्रथाएँ, आचार-व्यवहार हैं। अद्यतन सिनेमा में अधिकांशतः मास कल्चर का प्रचलन है और यही वह वर्ग है जिसकी चाहत फिल्म प्रौद्योगिकी को सबसे ज्यादा है। इसीलिए आज मास कल्चर फिल्म का मूल कल्चर है। यही बात आज की युवामानस में सबसे ज्यादा प्रचलित व पल्लवित-पुष्पित हो रही है। इसीलिए यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सिनेमा ने युवामानस का अपहरण कर लिया है। उसके 'स्वप्न' को कैद कर लिया है और उसे 'उपभोक्तावादी संस्कृति' में तब्दील कर रहा है। सिनेमा के बढ़ते इस प्रभाव के कारण समाज के सामने सबसे बड़ी चुनौतियाँ आ खड़ी हुई हैं। ये चुनौतियाँ और संकट वाया बाजारवाद है क्योकि वर्तमान में फिल्म सबसे बड़ा प्रौद्योगिकी क्षेत्र है और इस बाजारवाद का सबसे बड़ा वर्ग उपभोक्तावादी संस्कृति की गिरफ्त में आ चुका है। बाजार ने सिनेमा के माध्यम से भारतीय संस्कृति और उपभोक्तावादी संस्कृति में परिवर्तित कर भारतीय संस्कृति को संकट में डाला है और भारतीय जीवन मूल्यों में बदलाव किया है। वैश्वीकरण ने मनुष्य के मन का बाजारीकरण किया है और जिसका सबसे सशक्त माध्यम सिनेमा है। डॉ. जयकौशल के फेसबुक वॉल से शब्द उधार लेकर कहूँ तो वर्तमान में यह संकट ऐसा है कि "सिनेमा समाज के आगे चलने वाली मसाल हो गई है।" यह संकट इस

कदर है कि साहित्य, समाज और संस्कृति तीनों ही इससे प्रभावित हैं। और यह तीनों के लिए ही संकट का भी संकेत है। इस पर विचार करने की जरूरत है और यही चिंता का विषय है। खैर इस सबके बावजूद सिनेमा ने युवाफ्रीडम, अस्मिता–अस्तित्व, पारिवारिक संबंध और उसका टूटना, उपेक्षा–असुरक्षा, अनुकरण–प्रतिस्पद्र्धा, प्रतिरोध के स्वर, जनतंत्र और जनमानस के सवाल, भाषाई जटिलता, अनुवाद, रीति–रिवाजों का बाजारीकरण, फिल्मी पत्रकारिता आदि पहलुओं को उठाया है और उस पर विचार करने, सोचने पर लोगों को मजबूर किया है। उसको भी समझने की जरूरत है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. गिओर्गी प्लेखानोव, 2013 कला के सामाजिक उद्गम, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

2. डॉ. एस आर जयश्री, 2015 सिनेमा एफ सफरनामा, केरल यूनिवर्सिटी प्रेस, तिरूवनंथपुरम्

3. राजेंद्र प्रसाद शर्मा, श्याम नारायण प्रधान, 2015, भारतीय संस्कृति, स्पेक्ट्रम बुक्स प्रा. लि., नई दिल्ली

4. विमलेश कांति वर्मा, मालती, 2007, भाषा, साहित्य और संस्कृति, ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्रा. लि., नई दिल्ली

5. प्रमोद मीणा, 2016, हिंदी सिनेमा: दलित–आदिवासी विमर्श, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली

6. लमही, सं.–ऋत्विक राय, जुलाई–सितंबर 2010

– सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक, मध्य प्रदेश–484887

❑❑❑

इक्कीसवीं सदी का हिंदी सिनेमा : बदलते दौर का सच

मनोज पांडेय

बीसवीं शताब्दी को पूरी दुनिया में महान उपलब्धियों का स्वर्णिम दौर कहा जाता है। इस दौर में दुनिया के मानचित्र पर अनेकानेक आयामों से आमूलचूल परिवर्तन हुआ। सामाजिक-राजनैतिक-सांस्कृतिक कमोवेश समस्त स्तरों पर मानव-समाज की दिशा ही बदल गई। दुनिया के तमाम मुल्कों में आज़ादी आई, स्वतंत्रता की चाह फलित हुई। मनुष्य अपने राष्ट्र-राज्य में गुलाम नहीं, बल्कि आज़ाद नागरिकता का हकदार बना। राष्ट्रीय अस्मिताएँ प्रबल हुईं। दो विश्व युद्ध भी इसी सदी ने झेले। नरसंहार की विभीषिका से मानवता को काँपते हुए भी देखा गया और नई रोशनी के सहारे नई राह बनाने की, तलाशने की जद्दोजहद भी यहाँ दिखी। ज्ञान-विज्ञान की अनंत उपलब्धियाँ भी यहाँ दर्ज हुईं। ज्ञान-विज्ञान की चकाचौंध का मनुष्य शिकार भी हुआ। आधुनिक वैज्ञानिक उपलब्धियों ने जहाँ एक तरफ मनुष्य को जीवन की नई राह दिखाई, सफलता की गगनचुंबी इमारतें खड़ी की, वहीं दूसरी तरफ उसे निरंकुश और अहंकारी भी बनाया। विज्ञान के सहारे मनुष्य की सब-कुछ को विजित करने की चाह ने उसे प्रकृति का शत्रु बना दिया, उसके अंदर मनुष्यता का हरण होने लगा, उसकी संवेदना का आयतन सिकुड़ने लगा, उसकी अपरिमित महत्वाकांक्षाओं ने उससे लाभ-लोभ से परे सोचने का वक्त ही छीन लिया। फलतः शती के अंतिम दशकों तक आते-आते उसकी अपार उपलब्धियों, विकास के तमाम आयामों पर प्रश्नचिह्न लगने लगे।

हिंदी सिनेमा इसी दौर की देन है। हिंदी सिनेमा मनुष्य की सर्जनात्मक आकांक्षा और वैज्ञानिक आविष्कार का एक ऐसा अद्भुत रूप है जो अपने प्रारंभिक काल से ही मनुष्य को चौंकाता आ रहा है। यह 'रील लाइफ' को मनोरंजन, ज्ञान, सूचना आदि प्रदान करने की दृष्टि से आविष्कृत हुई। पहली बार 7 जुलाई 1896 को मुंबई के वाटसन होटल में लुमिएर बंधुओं-लुईस और आगस्ट-नाम के दो फ्रांसीसियों ने भारतीयों को सिनेमा से परिचित कराया। उस दिन लोग बेजान तस्वीरों को चलता -फिरता देखकर दंग रह गए। फिल्म समीक्षक विनोद भारद्वाज बताते हैं "7 जुलाई 1896 के दिन मुंबई के वाटसन होटल में लुमिएर बंधुओं की फिल्म दिखाई गई। भारत में पहली बार फिल्म विधा का जादू पर्दे पर देखने को मिला। एक रुपए का टिकट था।"[1] भारत में पहली मूक फीचर फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' बनी जिसका 3 मई 1913 को मुंबई के कोरोनेशन थिऐटर में प्रदर्शन किया गया। इसके निर्माता थे भारतीय सिनेमा के जनक दादा साहेब फाल्के। इस तरह 1913 से भारतीय सिनेमा की शुरुआत मानी जाती है। भारतीय दर्शकों ने इसे काफी पसंद किया। यह फिल्म महाभारत की कथा पर आधारित थी। 1931 में 'आलमआरा' के निर्माण से मूक फिल्म का दौर समाप्त हुआ और सवाक (बोलती हुई) फिल्म का दौर प्रारंभ हुआ। अर्देशिर ईरानी के निर्देशन में बनी इस फिल्म के मुख्य कलाकार थे पृथ्वीराज कपूर और जुबैदा। यहाँ से सिनेमा यथार्थ की ओर अग्रसर हुआ। यह दौर देश के स्वाधीनता संग्राम की प्रखरता का था, इन दिनों आई फिल्मों ने हालांकि इस दिशा में कोई प्रयास नहीं किया, प्रायः मनोरंजन तक सीमित रहीं, अधिक से अधिक समाज-सुधार तक की

चंद कोशिशें ही इस दौर में देखने को मिली। आजादी के बाद लगभग सन् 1950 से 1965 तक का दौर हिंदी सिनेमा की बुलंदियों का माना जाता है। इसी दौर में 'मुगल-ए-आजम', 'आवारा', 'श्री 420', 'बूट पालिश', 'झाँसी की रानी', 'नीलकमल' जैसी फिल्में आईं जिन्होंने बॉक्स ऑफिस पर खूब धूम मचाई। सिनेमा इस समय तक रंगमंच से काफी आगे निकल चुका था। 'शॉट', 'सीन' और 'एक्शन' के तकनीकी प्रयोग ने सिनेमा को सर्वाधिक लोकप्रिय विधा बना दिया।

नवें दशक तक हिंदी सिनेमा में बहुविध प्रयोग हुए। विशेषकर 50 से 90 तक आईं फिल्में मसाला फिल्में थीं, कॉमेडी और सस्ती लोकप्रियता के लिए भी उनमें कई परिवर्तन हुए, किंतु साथ ही यह भी कहना होगा कि सार्थक फिल्में भी इस दौर में बहुतायत में बनी। सत्यजीत रे, राज कपूर, मृणाल सेन, केतन मेहता, गोविंद निहलानी, श्याम बेनेगल, अमोल पालेकर ने सिनेमा को विशिष्ट पहचान दी। शबाना आज़मी, नसीरूद्दीन शाह, ओमपुरी, स्मिता पाटिल, दीप्ति नवल, अमिताभ बच्चन, धर्मेंद्र, राजकुमार, दिलीप कुमार, अशोक कुमार, जितेंद्र, राजेश खन्ना, रेखा, प्राण, आदि ने अपने किरदार से सिनेमा को नई ऊँचाई दी। इस दौर में फिल्म इंडस्ट्री पर व्यावसायिकता पूरी तरह हावी थी, लेकिन सामाजिक प्रतिबद्धता भी बची हुई थी। 'प्रतिघात', 'पिंजर', 'अर्थ', 'रुदाली', 'खंडहर', 'सुजाता', 'पार', 'लज्जा', 'जाग उठा इंसान', 'सद्गति', 'तमस', 'आक्रोश' आदि सोद्देश्य फिल्में थीं।

इक्कीसवीं सदी भूमंडलीकरण की मंडी-नीति से शुरू होती है जिसकी केंद्रीय अवधारणा बाजार आधारित उपभोक्ता संस्कृति को बढ़ावा देना है। यहीं से दर्शक, पाठक, यंत्र, पर्दा (सिनेमा) का रिश्ता नए सिरे से परिभाषित होने लगता है। पूंजी के अथाह प्रवाह, संचार क्रांति का विस्फोट, सैटेलाइटों की कृपा से चैनलों की भरमार, गाँव और शहर ही नहीं, देश-परदेश के बीच की घटती (और लगभग घिसती-सिमटती) दूरी ने सिनेमा को नए आयाम भी दिए और नई चुनौतियाँ भी पेश की। 'मल्टीप्लेक्स' के उदय ने सिनेमा का 'दर्शक' सीमित कर दिया। अब जैसे उपभोग की वस्तु के अनुरूप सिनेमा ने दर्शक को भी उपभोक्ता बना दिया है और न केवल फिल्म का उत्पादन ही उसकी रुचि से हो रहा है, बल्कि उसकी रुचि को प्रसंस्कृत करने का कार्य भी फिल्म द्वारा किया जा रहा है। आशीष त्रिपाठी ठीक कहते हैं "विशेष सांस्कृतिक अभिरुचि में पले-बढ़े होने के कारण सिनेमा से उनकी मांग पहले के पारंपरिक दर्शक से भिन्न है। अब हिंदी सिनेमा में चाक्षुष सौंदर्य (विजुएल एस्थेटिक्स) का आग्रह बढ़ा है और खास तरह का चमकूपन घटा है।"[2] कहना न होगा यहीं से फिल्म उद्योग राजनीति, पूंजीपति और माफिया के गठजोड़ की उर्वर भूमि बना है। बेशक, यहीं से इसका चाल-चरित्र बदला है। सामाजिक प्रतिबद्धता, सुरुचि-संस्कार संवर्धन का ख्वाब अब सपना हो गया है। इसकी जगह शुद्ध मुनाफे ने ले ली है। जाहिर है सुरुचि-संस्कार निर्माण के फिल्मांकन में तगड़ा मुनाफा नहीं हो सकता। यही वजह है कि इक्कीसवीं सदी के हिंदी सिनेमा में मेलोडी के युग का आगमन हुआ है और फिल्मों में प्रेम-त्रिकोण, हिंसा, नंगापन, यौनिकता, फूहड़ संगीतात्मकता बढ़ी है। इसके बावजूद यह कहना होगा कि 'गदर', 'लगान', 'मंगल पांडे : द रायजिंग', 'बैंडिट क्वीन' जैसी फिल्में भी इस दौर में बनी हैं और सिनेमा की मुख्यधारा का हिस्सा रही हैं, केवल मनोरंजन प्रधान न होने के बावजूद इन्होंने देश-विदेश में भारतीय सिनेमा की धाक जमाई है और कमाई के हिसाब से भी शीर्ष क्रम में गिनी गई हैं। यह जरूर है कि इस दौर में बाजार नियंता हो गया है, वही दर्शक की पसंद भी तय कर रहा है। वैश्वीकरण के इस दौर में 'सबसे बड़ा रुपैया' वाली बात पूरी तरह चरितार्थ हो रही है। आज फिल्म की सफलता का मापदंड ही बॉक्स ऑफिस की कमाई पर केंद्रित हो गया है।

जाहिर है दोष महज फिल्मों का नहीं है, दरअसल यह दौर ही ऐसा है। उदारीकरण से पनपे उपभोक्तावाद ने सारे मान-मूल्यों को, रीति-नीति को, सोच-संस्कार को एकाएक बदलने पर मजबूर कर दिया है। आज मनुष्य में ताड़ के पेड़ की तरह एकाएक बड़े होने, सफल होने, आरामतलब जिंदगी जीने की महत्वाकांक्षा कुछ इस कदर बलवती हुई है कि इसके लिए वह कुछ भी करने को, कुछ भी कुर्बान करने को तैयार है। परिणामस्वरूप समाज में समस्त स्तरों पर गिरावट आई है, हमारी सोच संस्कार और व्यवहार सब-कुछ दोहरे होते गए हैं। कला कोई भी हो, वह समाज में आते

परिवर्तनों की अनदेखी नहीं कर सकती। यह ठीक है कि उसका एक पक्ष-बेशक, जिम्मेदार पक्ष-मनुष्य को मनुष्यता से परिपूर्ण बनाना भी है। हाँ, यह सच है कि मनोरंजन के नाम पर फिल्मी दुनिया मोटी कमाई तक सिमटती जा रही है, लेकिन सामाजिक बदलाव के चलचित्र भी इसी बीच अंधेरे में रोशनी की तरह यदा-कदा अवश्य चमचमाते रहते हैं। कई जिम्मेदार फिल्मकार, निर्माता, निर्देशक, नायक, नायिकाएँ अभी भी हैं और सदैव रहेंगी जो बदलते दौर में उम्मीद कायम रखे हुए हैं और व्यावसायिकता के साथ सामाजिक चिंताओं को, आवश्यकताओं को भी उठा रहे हैं। सिनेमा को कोरा मनोरंजन और 'टाईमपास आयटम' की बजाय प्रतिरोध और हस्तक्षेप का कारगर हथियार भी बनाए हुए हैं। अनुराग कश्यप, संजय लीला भंसाली, यश चोपड़ा, मधुर भंडारकर, नंदिता दास, आशुतोष गोवारीकर, कबीर खान, राकेश मेहरा, रितुपर्णो घोष आदि सिनेमा की कलात्मकता को संजोते हुए सिनेमा के स्वरूप को बदल रहे हैं। सिनेमा के बदलते स्वरूप के बारे में प्रहलाद अग्रवाल ने ठीक लिखा है, "बीसवी शताब्दी के अंतिम दशक में निर्देशकों की एक और अत्यंत सामर्थ्यवान नई पीढ़ी का आगमन हुआ जिसने 21 वीं सदी की शुरुआत के साथ ही हिंदी सिनेमा में एक नए स्वर्ण युग के आगमन की पदचाप सुनाई। आदित्य चोपड़ा, करन जौहर के साथ ही साथ संजय लीला भंसाली, रामगोपाल वर्मा, आशुतोष गोवारीकर, मधुर भंडारकर, सुधीर मिश्रा, जोया अख्तर आदि अनेक निर्देशकों ने अपने नजरिए से सिनेमा के जन पक्ष को बहुआयामी बनाया। प्रकाश झा, अपर्णा सेन, गोविंद निहलानी नए रुझान के साथ आए। सिनेमा का स्वरूप ही एकबारगी पूरी तरह बदल गया। 21 वीं सदी में मल्टीप्लेक्स संस्कृति उदित हुई। सिनेमा की औरत बदली, उसके परिधान बदले। नायक की मर्दानगी के पैमाने बदले। सिल्वर, गोल्डन जुबलियों के जमाने हवा हुए। एक वीक भी नहीं, महज एक वीकएंड तीन, चार, पाँच दिनों में हिट-फ्लाप के फैसले होने लगे। 21 वीं सदी का सिनेमा महानगरीय और वैश्विक समाज का सिनेमा है।"[3]

इक्कीसवीं सदी के हिंदी सिनेमा का सच यह है कि एक तरफ उसे बाजार संस्कृति की मांग को तरजीह देना है दूसरी तरफ भारतीय दर्शक की मनोभावना को भी महत्व देना है। भारत गाँवों का देश है, गँवई मानसिकता को एकाएक वैश्विक नहीं बनाया जा सकता। परंतु, देश की लगभग 60 प्रतिशत युवा जनसंख्या की सोच को जरूर फोकस किया जा सकता है। यही वजह है कि हिंदी सिनेमा इधर पूरी तरह युवा छवि केंद्रित होता गया है। उसका लक्ष्य युवा मन को प्रभावित करना है। परिवार, समाज और मूल्य चिंता की बजाय उसमें युवा दिलों के सपने बेचने की प्रवृत्ति इसीलिए इन दिनों बढ़ी है। साथ ही अप्रवासी जगत को भी हिंदी सिनेमा ने अपने केंद्र में लिया है। मोटी विदेशी पूंजी की चाह ने सिनेमा का कायांतरण कर दिया है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि ग्राम और ग्रामीण चेतना लगभग गायब होती गई, बची भी है तो केवल छौंक की तरह, यदा-कदा नयनाभिराम लोकगीतों-नृत्यों में जैसे "सखि सइयां तो बहुतई कमात है/महंगाई डायन खाए जात है"। इसकी जगह महानगरीय चकाचौंध बढ़ी है। जैसे समाज में गाँव शहरों में, कस्बों में तब्दील होते गए है, वैसे ही फिल्मों में भी। कहना न होगा यह सामयिक बदलाव है, वक्त के मुताबिक परिवर्तनीयता आती ही है। फिर शिकायत केवल सिनेमा से ही क्यों? फिल्म समीक्षक अजय ब्रह्मात्मज का कहना सही है कि "हमेशा पिछली पीढ़ी को शिकायत रहती है कि अब न तो वह समय रहा और न वैसे लोग. ..... अगर हिंदी फिल्मों के संबंध में बात करें तो इसी शिकायत के शब्द बदल जाते हैं..... न तो अब वैसी फिल्में बनती हैं .... अमूर्त शिकायत की यह परंपरा पीढ़ी दर पीढ़ी आगे चलती रहेगी। इस शिकायत के बावजूद हिंदी फिल्में अपनी गति से विस्तार कर रही हैं। उसने भारतवासियों के साथ-साथ ही विदेश में बसे भारतवासियों को भी आकर्षित किया है। हिंदी फिल्में गैर भारतीय दर्शकों तक पहुँचने लगी हैं। निश्चित ही इस बीच दर्शकों की रुचि बदली है।"[4]

इक्कीसवीं सदी के सिनेमा का सच यह भी है यहाँ आत्मकेंद्रीयता अधिक है, लाभ-लोभ और स्वार्थ-हित से परे सोचने का वक्त ही जैसे अब नहीं बचा है। बीसवीं सदी के महानायक अमिताभ की फिल्मों में जबरदस्त मारधाड़ 'एंग्री यंग मैन' वाली छवि उभरी थी, जो आजादी के बाद के मोहभंग और नैराश्यजनित विद्रोह को दर्शाती थी, 'जंजीर', 'त्रिशूल', 'दीवार' जैसी

फिल्मों में नायक का जबरदस्त प्रतिरोधी तेवर नजर आता है किंतु परिवार, समाज और संस्कारगत आस्था का विलोप वहाँ नहीं हुआ था, जबकि इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक दौर में ही बनने वाली फिल्मों से ऐसा लगता है कि अब जैसे यह सब अतीत के चलचित्र बनकर रह गए हैं। शाहरुख खान की बादशाहत वाली फिल्में 'नायक' की बजाय 'प्रतिनायक' को उपस्थित करती हैं। इस दौर की फिल्मों में आतंकवाद, सांप्रदायिकता, बढ़ती मँहगाई, युवावर्ग में बढ़ती बेरोजगारी, मनोवांछित कार्यक्षेत्र की कमी तदुपरांत आती कुंठा, निराशा, हताशा, हाशिए के समाज के प्रति बदलता नजरिया, उन्हें नायकत्व देने की बढ़ती मांग, स्त्री, दलित-आदिवासी, अल्पसंख्यक, विकलांग, भिखारी, निर्धन वर्ग की अनुगूंज भी फिल्मी पर्दे पर प्रमुखता से अंकित हुई है। 'गदर एक प्रेमकथा', 'लज्जा', 'चाँदनी बार', 'चोरी चोरी-चुपके चुपके', 'सत्ता', 'बागवान', 'गंगाजल', 'मातृभूमि' 'ए नेशन विदाऊट वुमन', 'पिंजर', 'ब्लैक', 'पेज थ्री', 'काबुल एक्सप्रेस', 'कार्पोरेट', 'चक दे इंडिया', 'ट्रैफिक सिग्नल', 'रॉक ऑन', 'थ्री इडियट्स', 'पीपली लाईव', 'मिर्च', 'गुजारिश' 'माँ तुझे सलाम', 'मृत्युदंड', 'मिस्टर एंड मिसेज अय्यर', 'रंग दे बसंती', 'लगान', 'मुन्नाभाई एम.बी.बी.एस.', 'क्या कहना', 'कभी अलविदा न कहना', 'द डर्टी पिक्चर', 'माँ', 'हीरोइन', 'फैशन', 'प्यार का पंचनामा', 'रुस्तम', 'ए दिल है मुश्किल', 'हॉलिडे' 'तारे जमीन पर', 'टू स्टेटस', 'टाइगर जिंदा है', 'संजू', 'हिचकी' जैसी अनेक फिल्में इस दौर में आई हैं जिनमें 21वीं सदी के विविध स्वर फिल्मांकित हुए हैं।

तकनीकी परिवर्तन और प्रतिस्पर्धा इस दौर की एक अमिट सच्चाई है। जाहिर है कि फिल्मकार को जमाने के साथ चलना है तो वैश्विक स्तर पर हो रहे तकनीकी विकास का सहारा लेना ही होगा, लेकिन टेक्नोलॉजी के साथ जिंदगी की किताब से भी सीखना जरूरी है। केवल तकनीक संवेदना और भावना नहीं पैदा कर सकती, जबकि मानव मात्र का सच यह है कि इंसानी जज्बात ही उसे न केवल मानवीय बनाता है बल्कि उसे जोड़े रखता है। 'सिंगल स्क्रीन प्ले से 'मल्टीप्लेक्स' तक के विकास में टेक्नोलॉजी ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। सिनेमा को जनप्रिय बनाने में और जन-जन तक पहुँचाने में कई चीजें एक साथ सक्रिय भूमिका निभाती हैं। गीत-संगीत, आइटम सांग, मोबाइल रिंगटोन से भी कमाई हो रही है, साथ ही फिल्म का प्रचार-प्रसार भी। यहाँ मुझे ललित जोशी की यह बात काबिलेगौर लगती है कि "हिंदी सिनेमा ने जहाँ एक ओर आकृतियों की केंद्रीयता, प्रतीकात्मकता, प्रदर्शन की गीतात्मकता और भावातिरेक के जरिए उसे पूर्व आधुनिक कला रूपों से जोड़ा है तो दूसरी ओर हॉलीवुड शैली के रेखीय संपादन, शॉट, रिवर्स शॉट, आई लाईन मैच, प्वाईंट ऑफ व्यू, एडिटिंग तथा यूरोपीय सिनेमा के नव यथार्थवादी बिंब विन्यासों से संवेदनयुक्त बनाया। बॉलीवुड कहलाए जाने के बाद उसके लिए और भी जरूरी हो गया है कि नृत्य, गीत तथा भावातिरेक का ढाँचा बरकरार रखते हुए विश्व सिनेमा से लगातार कुछ न कुछ ग्रहण करता रहे। तभी वह लंबे समय तक एक वैश्विक उत्पाद के रूप में बाजारों पर आसीन रह सकता है।"[5]

यह भी कहना होगा कि व्यावसायिकता के साथ ही प्रतिबद्धता के स्वर भी कभी-कभार अवश्य उभरते रहे हैं। कुछ फिल्मकार हैं जो भारतीयता को बचाये हुए हैं, हालांकि जैसा अजय देवगन अपने एक साक्षात्कार में कहते हैं "भारतीयता की फिल्में बनती हैं तो दर्शक रिजेक्ट कर देते हैं। कहते हैं यह तो तीस-चालीस साल पहले देख चुके हैं। मीडिया भी सपोर्ट नहीं करता। आज की पीढ़ी को आठवें दशक की चीजें नहीं दी जा सकती। हम लोग फिल्मों में मुद्दे कैसे लाते हैं? सातवें दशक में बहू या सास खलनायक होती थी या परिवार का कोई सदस्य। आठवें दशक में तस्कर आ गए। नौवें दशक में राजनीतिज्ञ खलनायक बने। उसके बाद अंडरवर्ल्ड आया और अब आतंकवादी खलनायक है। समकालीन समस्याओं पर ही फिल्में बनेंगी न? फिल्म कोई भी हो, भावनाएँ आपको भारतीय रखनी पड़ेगी। हम कितना भी बदल जाएँ, लेकिन मूल रूप से भारतीय हैं। सवाल है आप प्रेजेंट कैसे करते हैं? संस्कृति तो नहीं बदली है, पर आचार-व्यवहार बदला है। कभी आप रोज पिता के पाँव छूते होंगे, आज नहीं छूते। इसका मतलब यह नहीं है कि आप आदर नहीं करते। आज अगर रोज पाँव छूते बेटे को दिखाएँगे तो वह नकली लगेगा। आप ही कहने लगेंगे कि क्यों नाटक कर रहा है।"[6] असल में यही हकीकत है। समाज में आए बदलाव के अनुरूप सिनेमा

भी बदला है। यद्यपि बाजार की प्रकृति के अनुरूप बहुत कुछ को अपनाने पर सिनेमा को मजबूर भी होना पड़ा है। यह सच्चाई है कि सिनेमा का 'टेस्ट' ही नहीं, 'टेक्स्ट' भी बदल गया है। विजय अग्रवाल इस पूरे परिदृश्य की पैमाईश करते हुए कहते हैं ''अब निम्न या मध्यम वर्ग नहीं, बल्कि उच्च या उच्च मध्यमवर्ग फिल्मों में चित्रित होने लगा। 'ताल' और 'हम आपके हैं कौन' जैसी फिल्मों के गीत और संगीत कभी-कभी यह घोषणा करते हुए मालूम पड़ते हैं कि अब लोकगीतों तथा भारतीय संगीत की वापसी हो रही है, किंतु शीघ्र ही इस घोषणा का जीवनकाल बहुत छोटा मालूम पड़ने लगता है। नृत्य तो लगभग गायब ही हो चुके हैं। उसका स्थान एयरोबिक्स ने लिया है। .....एक अच्छी बात यह है कि फिल्मों की मृत्यु की घोषणा लगभग बंद-सी हो गई है और दर्शक थिएटरों में जाने लगे हैं। यह लक्षण इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के लिए एक शुभ लक्षण कहा जा सकता है।''[7] यह भी देखना होगा कि बाजारवाद के दबाव के बीच ही कुछ ऐसी फिल्में भी समय-समय पर आती रही हैं जिन्होंने अपनी तरह से भारतीय सिनेमा को प्रस्तुत किया है। 'लेकिन', 'लम्हे', 'रुदाली', 'सलाम बांबे', 'कामसूत्र', 'फायर', 'मम्मी', 'पा' आदि को इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

'कभी खुशी कभी गम', 'इंडियन', 'बागवान', 'स्वदेश', 'पेज थ्री', 'रंग दे बसंती', 'लगे रहो मुन्नाभाई', 'चक दे इंडिया', 'चीनी कम', 'थ्री इडियटस्', 'किसान', 'अतिथि तुम कब जाओगे', 'लगान', 'माँ तुझे सलाम' जैसी भारतीय जन-जीवन को लेकर बनी फिल्मों की पटकथा आश्वस्त करती है कि फिल्मों में अभी भी भारतीय परिवार और उसको स्वस्थ मनोरंजन व कहीं-कहीं नैतिक सीख देने का प्रयास अवश्य बचा हुआ है। और हो न हो, यही वजह हो जो ये फिल्में बॉक्स ऑफिस तक दर्शकों को खींचने में सफल रही हों। युवा वर्ग के सपनों और उसके स्वाभाविक विद्रोह को स्वर देने वाली फिल्म 'आँखे', 'रेनकोट', 'सलाम नमस्ते', 'लाइफ इन अ मेट्रो', 'कारर्पोट', 'फैशन', 'थ्री इडियटस्', 'चांस पे डांस,' राजनीति', 'उड़ान', 'आक्रोश', 'सरकार' तथा बाल शोषण को केंद्र मे रखकर बनने वाली 'तारे जमीन पर', 'पेज थ्री', 'पा', 'बम-बम बोले', में भी सामाजिक बदलाव को लक्षित किया जा सकता है।

एक और प्रसंग के साथ इस लेख का पटाक्षेप करना चाहूँगा, वह है समाज की आधी आबादी की हकदार स्त्री की उपस्थिति। स्त्री की फिल्म में शुरू से ही केंद्रीय भूमिका रही है। नायक के साथ नायिका की परिकल्पना पहली बोलती फिल्म 'आलमआरा' से ही स्पष्ट हो चुकी थी। इक्कीसवीं सदी में स्त्री की स्थिति में उल्लेखनीय परिवर्तन आया है, फिल्मों ने भी इसको रेखांकित किया है। हालांकि पितृसत्ता को कड़ी चुनौती देने वाली, उसकी कथित मर्यादा, नैतिकता और यौन-पवित्रता आदि को चुनौती देने वाली फिल्में प्रायः इस दौर में भी देखने को नहीं मिलती। फिर भी एक संघर्षशील स्त्री की छवि गढ़ने, उभारने में फिल्मों की जरूरी भूमिका है। 'बैंडिट क्वीन', 'पेज थ्री', 'चाँदनी बार', 'मकबूल', 'लज्जा', 'मृत्युदंड', 'पिंजर' आदि फिल्में नई स्त्री की छवि प्रस्तुत करती हैं जो पितृसत्ता से टकराती हैं और समता, स्वतंत्रता, बंधुता की पक्षधर के रूप में सामने आती हैं। ये स्त्रियाँ न तो यथास्थितिवादी हैं न समझौतावादी, बरक्स इससे ये संघर्ष करती हैं और सह-अस्तित्व की पेशकश करती हैं। हालांकि इस दौर में 'द डर्टी पिक्चर', 'हीराइन', 'फैशन' जैसी फिल्में भी आई हैं जिन्होंने स्त्री को 'बाजारू' रूप में परोसा है। इसके बावजूद यह कहना होगा कि "फिल्मों में ही स्त्री अपने अस्तित्व को पूरी समग्रता में रख सकी है। वह स्वयं और समाज से सीधा साक्षात्कार पर्दे पर ही करती है। यह दूसरी बात है कि कई कारणों से वह अपने बृहत्तर समाज से सीधे रू-ब-रू नहीं हो पाती है।"[8] लेकिन इक्कीसवीं सदी में पर्दे (फिल्म) का विस्तार जिस प्रकार हुआ, अभिव्यक्ति की आजादी और अपना हुनर दिखाने का अवसर उपलब्ध हुआ, उससे नूतन, नर्गिस, मीना कुमारी, मधुबाला, आशा पारेख, स्मिता पाटिल जैसी अभिनेत्रियों की दबी-छुपी कसक शबाना आज़मी, रेखा, आदि से होते हुए इक्कीसवीं सदी की अभिनेत्रियों तक खुलकर सामने आने लगी। विद्या बालन, प्रियंका चोपड़ा, दीपिका पादुकोण, ऐश्वर्या राय तक बनी यह छवि पूरी तरह से सामाजिक बदलाव का आहट देती है।

कुल मिलाकर इक्कीसवीं सदी की हिंदी सिनेमा में वक्ती बदलाव आया है। बदलाव एक निरंतर गतिशील प्रक्रिया का नतीजा है। हिंदी सिनेमा वक्त के साथ

कदमताल करते हुए बढ़ा है। मूक फिल्म से लेकर सवाक, ब्लैक एंड व्हाइट और फिर रंगीन और आज तो 'थ्री डी' से 'एट डी' इफेक्ट तक से भरपूर फिल्म का जमाना है। कहना यह है कि बदलते दौर के सच को हिंदी सिनेमा ने अपने तरीके से बखूबी उद्घाटित किया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. सिनेमा : कल, आज और कल- विनोद भारद्वाज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ. 188,

2. प्रतिरोध की टूटती साँसें, आशीष त्रिपाठी, समयांतर (सं.पंकज विष्ट) फरवरी 2009, पृ. 37

3. हिंदी सिनेमा: आदि से अनंत-प्रहलाद अग्रवाल, साहित्य भंडार, इलाहाबाद 2014, पृ. 19-20,

4. सिनेमा समकालीन सिनेमा-अजय ब्रह्मात्मज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ.7

5. अनभै, जुलाई-सितंबर, 2013, पृ. 48

6. सिनेमा की सोच-अजय ब्रह्मात्मज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृ.188

7. फिल्म का सौंदर्यशास्त्र और भारतीय सिनेमा- सं. कमला प्रसाद, शिल्पायन, दिल्ली, 2010, पृ. 233

8. फिल्म का सौंदर्यशास्त्र और भारतीय सिनेमा- सं. कमला प्रसाद, शिल्पायन, दिल्ली, 2010, पृ. 217

– हिंदी विभाग, रा.तु.म. नागपुर विश्वविद्यालय, शैक्षणिक परिसर, अमरावती मार्ग, नागपुर, महाराष्ट्र-440033

❑❑❑

हिंदी साहित्य और सिनेमा में समाज-हित और राष्ट्रीयता का भाव

डॉ. अमित सिंह

साहित्य में समाज प्रतिबिंबित होता है। जिस प्रकार साहित्य में समाज का आकलन दिखलाई देता है ठीक वैसे ही सिनेमा में भी उसकी छवियाँ उभरकर सामने आती हैं। दोनों की पाठकीय-दर्शकीय क्षमता के अंतरानुसार विषय की प्रतिपादन शैली में अंतर होना स्वाभाविक है। किसी भी राष्ट्र की उन्नति में सामाजिक समरसता का होना बहुत महत्वपूर्ण होता है। साहित्य और सिनेमा के माध्यम से इसी प्रकार की समरसता के तार बुने जाते रहे हैं और राष्ट्रीय अस्मिता को मजबूत करने का कार्य इन दोनों के माध्यम से निरंतर होता रहा है। हिंदी साहित्य का बहुत सारा पाठ हिंदी सिनेमा का आधार बनता रहा है, दोनों पारस्परिक रूप से आज के समय से संबद्धता रखते हैं। यद्यपि साहित्य प्रथम श्रेणी में गणित होगा तथापि साहित्यिक पाठ की संवेदनशीलता जब सिनेमा के पर्दे पर उतरती है तो एक व्यापक जन समूह के हृदय को वह प्रभावित-द्रवित करती है और साहित्य का एक बेहतर संदेश जन समूह तक सरलता से पहुँच जाता है। हमारे देश की बदलती परिस्थितियों का विवरण साहित्य और सिनेमा दोनों में बराबर दिखलाई देता है। जहाँ एक ओर आजादी से पहले के भारत और गुलामी की त्रासद स्थितियों को देखा जा सकता है वहीं दूसरी ओर आजादी के बाद का विभाजनकारी परिवेश, विकसित होने की चुनौतियों और मोहभंग की स्थितियाँ भी साहित्य और सिनेमा में द्रष्टव्य हैं। राष्ट्रीय अस्मिता, विकसित होने की चुनौती व संघर्ष, सांप्रदायिकता, आतंकवाद जैसे मुद्दे भी साथ ही प्रतिबिंबित हुए हैं। अतीत के गौरव के साथ ही वर्तमान की कसौटी और भविष्य के प्रति आशावादी स्वर हिंदी साहित्य और सिनेमा में हमें दिखलाई देता है। हिंदी सिनेमा में कभी-कभी ऐतिहासिक आकलन को लेकर प्रश्नचिह्न अवश्य ही लगते रहे हैं जो इस बात को भी प्रमाणित करते हैं कि हमारा जातीय गौरव अभी भी हमारे संस्कारों में समूचा रचा-बसा है। राष्ट्र के प्रति कृतज्ञता और उसकी आंतरिक-बाह्य संप्रभुत्ता की सुरक्षा का भाव ही हमारा जातीय गौरव रहा है और आगे भी रहना चाहिए। साहित्य और सिनेमा के अंतर्संबंध पर विचार किया जाए तो हम यह पाते हैं कि दोनों के पाठकीय एवं दर्शकीय समाज में एक बड़ा अंतर होता है जहाँ साहित्य जनसमूह का हृदय होते हुए भी मास तक नहीं पढ़ा जाता वहीं लोकप्रिय होने के कारण सिनेमा हर तबके का दर्शक जुटा लेता है। इस रूप में हर तबके के समाज को ध्यान में रखकर ही फिल्म का निर्माण होता है जबकि साहित्य की अपनी एक अलग श्रेणी हो जाती है भले ही वह भी हर किसी के लिए ग्राह्य होता है। इस रूप में साहित्य की पहुँच गहन होते हुए भी लोक तक उस स्तर पर नहीं पहुँच पाती जिस स्तर पर लोकप्रिय होने के कारण सिनेमा की पहुँच होती है। यह भी एक मान्य तथ्य है कि साहित्य को आधार बनाकर भी बहुत सी फिल्मों का निर्माण हुआ है और फिल्मी गीत तो बहुतेरे ही साहित्यिक गीतों से अभिप्रेरित है। फिल्म स्क्रिप्ट और गीतों का लेखन हिंदी साहित्य से ही बहुत-सा आधार लेकर निकला है। सैकड़ों वर्षों पश्चात् कैसे साहित्यिक अंश सिनेमा एवं फिल्मी गीतों का जीवंत हिस्सा बन जाता है और सार्थक

बन जाता है इसके बहुत सारे उदाहरण हिंदी साहित्य और सिनेमा में देखे जा सकते हैं। वो चाहे प्रत्यक्ष ग्राह्य हों या अप्रत्यक्ष लेकिन उनमें सादृश्यता बराबर द्रष्टव्य है। साहित्य औार सिनेमा की पारस्परिकता को इस रूप में भी देखा जा सकता है कि जीवन में कुछ घटनाओं पर लोगों की प्रतिक्रिया भी सहज रूप में देखने को मिलती है कि 'आजकल ऐसा ही तो हो रहा है' इन दोनों प्रतिक्रियाओं की पारस्परिकता मानव जीवन और सिनेमा के अंतर्संबंध की एकरूपता को ही हमारे समक्ष रखती है। साहित्य और सिनेमा की पारस्परिकता एवं अंतर्निहित सादृश्यता को यहाँ एक उदाहरण के माध्यम से देखना बेहतर होगा। जहाँ केवल एक गीत की सादृश्य स्थिति ही नहीं है बल्कि सामाजिक टिप्पणी भी उसके स्रोत में निहित है। जयशंकर प्रसाद ने 1914 में एक काव्य रचना 'प्रेम-पथिक' का सर्जन किया जिसमें एक पात्र चमेली है जिसका विवाह उसकी मर्जी के खिलाफ किया जा रहा है और बाहर शहनाई बज रही है उसी समय वह अंदर बैठी क्रंदन कर रही है लेकिन शहनाई के स्वर में उसके क्रंदन को सुनने वाला कोई नहीं है और उसका क्रंदन शहनाई के स्वर में दब जाता है। यहाँ प्रसाद जी ने स्त्री अस्मिता की बात को अपने समय में उठाया है, जो आज के बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओं के समय में बहुत महत्वपूर्ण है। अब हम देखते हैं कि प्रसाद ने चमेली की इस स्थिति पर टिप्पणी स्वरूप किस प्रकार की काव्य पंक्तियाँ प्रस्तुत की-

रूखा शीशा जो टूटे तो हर कोई सुन पाता है
कुचला जाना हृदय कुसुम का किसे सुनाई देता है।[1] (प्रेम-पथिक)

जयशंकर प्रसाद द्वारा 20वीं सदी के प्रारंभ में यह प्रश्न उठाना बहुत बड़ा महत्व रखता है। अब हम बात करते हैं प्रसाद की इन काव्य पंक्तियों की हिंदी सिनेमा में उपलब्ध सादृश्यता के विषय में जिसे एक फिल्म के गीत के बीच में नायक द्वारा इस प्रकार गाया गया है-

कहीं कोई शीशा टूटे बड़ी आवाज होती है
मगर दिल टूटने की सदा किसे सुनाई देती है।[2]

उपरोक्त पंक्तियों के तुरंत बाद गाने के मुखड़े के आगे बढ़ाते हुए फिल्म में अक्षय कुमार गाते हुए कहने लगता है "मैं आवारा, मैं आवारा, मैं आवारा, मैं आवारा" यहाँ हम देखते हैं कि इन पंक्तियों में जयशंकर प्रसाद की उपरोक्त पंक्तियों का ही जैसे रूपांतर हुआ है।

अभी पीछे वास्तविक जीवन की घटनाओं को कई बार फिल्म जैसी कहे जाने की बात हमने की एवं ऐसा तो फिल्मों में होता ही है आदि। 'दामिनी' फिल्म में अभिनेता सनी देओल एक वकील के रूप में एक लड़की के बलात्कार और हत्या का केस बिना फीस लिए लड़ता है जिसकी गवाह दामिनी नाम की एक पात्र बनती है, केस जीतकर उस लड़की पर हुए अत्याचार की जीत होती है तथा दोषी को सजा मिलती है यह एक फिल्म का तथ्य है जिसे निर्भया के केस में हकीकत के रूप में देखा जा सकता है जहाँ सात साल तक निर्भया का केस एक स्त्री वकील ने बिना फीस ही लड़ा और अंततः दोषियों को 20 मार्च 2020 की सुबह फाँसी दी गई। इस रूप में साहित्य और सिनेमा दोनों में ही जीवन की सच्चाई देखने को मिलती है। आज हमारे राष्ट्र में सांप्रदायिकता का प्रश्न रह-रहकर उठ खड़ा होता है और धर्म जाति के नाम पर लोग अनावश्यक रूप से ही विभाजित होने लगते हैं जो किसी भी राष्ट्र की उन्नति में एक बड़ी बाधा बन जाता है। एक हिंदी फिल्म 'अमर अकबर ऐंथनी' का यह गीत भी धर्म आदि के बंधनों से मुक्त भावना के बल पर राष्ट्रीय अस्मिता को आगे बढ़ाता गीत दिखलाई देता है जहाँ इंसानी एकता के दम पर अनहोनी को होनी और होनी को अनहोनी कर देने की मिसाल पेश की गई है-

अनहोनी को होनी कर दे, होनी को अनहोनी एक
जगह जब जमा हों तीनों अमर, अकबर, ऐंथनी[3]

वस्तुतः हिंदी साहित्य में भी ऐसे बहुत सारे उदाहरण दिखलाई देते हैं जो धर्म-जाति के बंधनों को नकार कर मानवता की जीत को सामने रखते हैं। कुछ फिल्मों में हिंदू परिवार में जन्मा मुस्लिम परिवार में पलता और प्यार पाता इंसान दिखलाई देता है। धर्म के नाम पर लोगों के बीच में जहर घोलकर राष्ट्र के लिए चुनौती खड़ी करना और हिंसक व आतंकी परिवेश पैदा करना आज के समय की एक बड़ी चुनौती बन गया है। इसीलिए साहित्य और सिनेमा में समरसता के उदाहरण अपना कहीं अधिक महत्व रखते हैं। फिल्मों में यथार्थ के आग्रह का उल्लेख करते हुए सत्यजीत रे के इन

शब्दों को देखा जा सकता है जहाँ वे फिल्मी पर्दे पर भी यथार्थ के धरातल को प्रमुख मानते हैं- "मैं जिस डिटेल (विवरण) की बात करना चाहता हूँ, विमूर्त माध्यम से उसका कोई वास्ता नहीं है। विषयवस्तु को प्रस्फुटित करना या स्मृद्ध करना ही इस डिटेल का उद्देश्य है। स्थान, काल, पात्र, घटना, मन के भाव-सब कुछ के वर्णन में इस डिटेल का प्रयोजन होता है और शिल्पी की अनुभूति पर ही इसके प्रयोग की सार्थकता निर्भर करती है। हमारे देश के अधिकांश छायाचित्रों में डिटेल का दैन्य देखकर दुख होता है क्योंकि भारतीय शिल्प-साहित्य में डिटेल को जो मर्यादा मिली है, विश्व साहित्य में उसकी कोई तुलना नहीं है। यहाँ मैं सिनेमा पूर्व के युग के शिल्प-साहित्य की चर्चा खासतौर पर कर रहा हूँ। चलचित्र भले ही बीसवीं सदीं का कला माध्यम हो, लेकिन उसकी रचनानीति में प्राचीन शिल्प-साहित्य अंतर्निहित है, इस विषय में कोई संदेह नहीं है।"[4]

देश की गुलामी की दासता जिस प्रकार तत्कालीन साहित्य में दिखलाई देती है उसी प्रकार फिल्मों में भी उसे बराबर देखा जा सकता है। हिंदी फिल्मों की कथा और उनमें प्रयुक्त गीत सीधे-सीधे राष्ट्रीय भावना से संबद्ध दिखलाई देते हैं। उदाहरण के लिए कुछ गीतों को यहाँ प्रस्तुत कर देना उचित होगा। जहाँ तक हिंदी फिल्मों में राष्ट्रीय गीतों की बात की जाए तो हम देखते हैं कि ऐसे बहुत सारे फिल्मी गीत हैं जो राष्ट्रीय एकता के स्वर को बढ़ावा देते हैं। उदाहरण के तौर पर-

"सुन सुन सुन मेरे मुन्ने सुन, सुन सुन सुन मेरी मुन्नी सुन
प्यार की गंगा बहे, देश में एकता रहे...
खत्म काली रात हो, रोशनी की बात हो
दोस्ती की बात हो, जिंदगी की बात हो
बात हो इंसान की, बात हिंदुस्तान की
सारा भारत ये कहे, प्यार की गंगा बहे
प्यार की गंगा बहे, देश में एकता रहे"

हिंदी सिनेमा में राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत ऐसे ही और भी बहुत से गीत हैं जिनमें से कुछ गीतों पर यहाँ ध्यान देना समीचीन होगा। ऐसा ही एक गीत है हकीकत फिल्म का जिसमें वतन पर प्राण न्योछावर करने वाले शहीदों को यहाँ श्रद्धांजलि दी गई है-

कर चले हम फिदा जान ओ तन साथियों
अब तुम्हारे हवाले वतन साथियों
सांस थमती गई, नब्ज जमती गई
फिर भी बढ़ते कदम को ना रुकने दिया
कट गए सर हमारे तो कुछ गम नहीं
सर हिमालय का हमने न झुकने दिया
मरते-मरते रहा बाँकपन साथियों
अब तुम्हारे हवाले वतन साथियों।[6]

सांप्रदायिकता आज के समय की एक बड़ी समस्या है। हिंदी फिल्मों में धर्म-मजहब से परे एक सच्चे हिंदुस्तानी बनने की अपील दिखलाई देती है। ऐसी ही अपील 'धूल का फूल' फिल्म में मोहम्मद रफी द्वारा गाया गया साहिर लुधियानवी का यह गीत धर्म और मजहब की दीवारों से परे इंसानियत को सबसे बड़ा धर्म बतलाता है-

"तू हिंदू बनेगा ना मुसलमान बनेगा, इंसान की औलाद है इंसान बनेगा।
अच्छा है अभी तक तेरा कोई नाम नहीं है, तुझको किसी मजहब से कोई काम नहीं है
जिस इल्म ने इंसान को तकसीम किया है, उस इल्म का तुझ पर कोई इल्जाम नहीं है
मालिक ने हर इंसान को इंसान बनाया, हमने उसे हिंदू या मुसलमान बनाया।
कुदरत ने तो बक्शी थी हमें एक ही धरती, हमने कहीं भारत कहीं ईरान बनाया।
जो तोड़ दे हर बंद वो तूफान बनेगा, इंसान की औलाद है इंसान बनेगा।[7] "

इंसानियत के साथ ही राष्ट्रीय भाव हिंदी सिनेमा में सजीव रूप में दिखलाई देता है। हिंदी फिल्मों में ऐसे और भी बहुत सारे गीत हैं जिनमें आजादी के संघर्ष के और उसके बाद चुनौतियों के बीच उभरते राष्ट्र-भाव को लीडर फिल्म के निम्नांकित गीत में देखा जा सकता है-

अपनी आजादी को हम हर्गिज मिटा सकते नहीं,
सर कटा सकते हैं लेकिन सर झुका सकते नहीं
हमने सदियों में ये आजादी की नेमत पाई है,
सैंकड़ों कुर्बानियाँ देकर ये दौलत पाई है
मुस्कुरा कर खाई हैं सीनों पे अपने गोलियाँ,
कितने वीरानों से गुजरे हैं तो जन्नत पाई है

खाक में हम अपनी इज्जत को मिला सकते नहीं,
अपनी आजादी को हम हर्गिज मिटा सकते नहीं[8]

आजादी के बाद भारत के समक्ष अपने विकास की राह पर चलना जरूरी था और विकास की इस राह पर बरती जाने वाली सावधानियों की ओर हिंदी साहित्य और सिनेमा दोनों में बराबर ध्यान दिया गया है। लंबे समय से झेली गई यातनाओं और किए गए संघर्ष के बाद मिली आजादी के बाद राष्ट्रीय स्तर पर स्वयं को मजबूत करने के लिए सामूहिक प्रयत्नों की गुंजाइश बराबर बनी रही। निम्नांकित फिल्मी गीत में भी सावधानीपूर्वक आगे बढ़ने की बात की गई है–

हम लाए हूँ तूफान से कश्ती निकाल के, इस देश को रखना मेरे बच्चों संभाल के
तुम ही भविष्य हो मेरे भारत विशाल के, इस देश को रखना मेरे बच्चों संभाल के
दुनिया के दाँव पेंच से रखना न वास्ता, मंजिल तुम्हारी दूर है लंबा है रास्ता
भटका न दे कोई तुम्हें धोखे में डालकर, इस देश को रखना मेरे बच्चों संभाल के
हम लाए हैं तूफान से कश्ती निकाल के।[9]

उपरोक्त फिल्मी गीतों में जिस प्रकार से राष्ट्रीय भाव झलक रहा है ऐसे ही हिंदी साहित्य में बहुत से गीत–कविताएँ हैं जो आजादी के लिए लिखी गई हैं। जयशंकर प्रसाद के नाटक 'चंद्रगुप्त' में आए एक गीत की निम्नलिखित पंक्तियाँ–

हिमाद्रि तुंग श्रृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती। स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतंत्रता पुकारती।।
अमर्त्य वीर पुत्र हो, दृढ़ प्रतिज्ञ सोच लो। प्रशस्त पुण्य पंथ है, बढ़े चलो बढ़े चलो।।[10]

आजादी के लिए प्राण न्योछावर कर देने की दृढ़ संकल्पना माखनलाल चतुर्वेदी की कविता 'पुष्प की अभिलाषा' की इन पंक्तियों में दिखलाई देती है–

मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।।[11]

साहित्यिक रचनाओं को आधार बनाकर भी बहुत–सी हिंदी फिल्में बनी हैं। साहित्यिक रचनाओं पर आधारित इन फिल्मों में साहित्य का विस्तारित रूप भी देखने को मिलता है क्योंकि उसके दर्शक समुदाय की परिधि काफी दीर्घ हो जाती है। उदाहरण के तौर पर प्रेमचंद्र के उपन्यासों और उनकी कहानियों पर कई फिल्में बनी उनकी कहानी 'दो बैलों की कथा' पर 'हीरा–मोती' फिल्म बनी। मन्नू भंडारी की कहानी 'यही सच है' पर 1974 में 'रजनीगंधा' नाम से फिल्म बनी। मोहन राकेश की कहानी 'उसकी रोटी' पर इसी शीर्षक से फिल्म बनी। फणीश्वरनाथ रेणु की कहानी 'मारे गए गुलफाम उर्फ तीसरी कसम' पर आधारित फिल्म 'तीसरी कसम' आई। काशीनाथ सिंह के उपन्यास 'काशी का अस्सी' पर 'मोहल्ला अस्सी' फिल्म का निर्माण हुआ और इसी प्रकार साहित्यिक रचनाओं को आधार बनाकर बहुत सी फिल्में हिंदी सिनेमा के पर्दे पर आती रही हैं जिनमें साहित्यिक पाठ के प्रसारण–प्रदर्शन द्वारा सामाजिक–हित एवं राष्ट्र–भाव को बराबर साधा गया है। राष्ट्र–भाव एवं राष्ट्रीय प्रेम की भावना नवयुवकों में निरंतर बनी रहनी चाहिए विशेषकर भारत जैसे राष्ट्र में जहाँ सर्वाधिक संख्या युवकों की हो। राष्ट्रीय भावना का बीजवपन एवं पल्लवन चाहे वह साहित्य के माध्यम से हो चाहे सिनेमा के माध्यम से लेकिन उसका होना महत्वपूर्ण हो जाता है। हमारी सांस्कृतिक जड़ें और विरासत के प्रति नवयुवकों में लगाव की भावना को पैदा करने और बनाए रखने के लिए साहित्य और फिल्मों में भी उससे संबद्ध संस्कार का बने रहना जरूरी है। साहित्य और सिनेमा का प्रभाव जन मानस पर अवश्य पड़ता है। 21वीं सदी की विभिन्न चुनौतियों के बीच भारत में भी जागरूकता और अपनी सहज संस्कृति के प्रति लगाव व उसी के अनुकूल आचरण की प्रेरणा का होना आज के समय की मांग है जिसकी पूर्ति न केवल साहित्य अपितु हिंदी सिनेमा के माध्यम से भी निरंतर होती रहनी चाहिए। निम्नांकित जिज्ञासा एवं प्रश्न इसी प्रकार की पूर्ति की मांग हमारे सम्मुख रखती हैं जो महत्वपूर्ण भी हैं– "आखिर ऊर्जा और स्फूर्ति से लबरेज युवा क्यों अपने देश–समाज, भाषा और संस्कृति के ऐसे प्रतीक नहीं बन पाते जिन्हें हमारी मनुष्यता का सही प्रतिनिधि कहा जा सकता? इक्कीसवीं सदी में बनी दो फिल्मों के जरिए से यह जाना जा सकता है कि हमारा युवा आज किस मोड़ पर है और उसकी मानसिकता क्या है। कुछ वर्ष पहले 'रंग दे बसंती' फिल्म आई थी। इसमें

दिखाया गया कि विश्वविद्यालयीन परिवेश में मध्य और निम्नमध्यवर्ग का युवा विद्यार्थी अपने इतिहास से इतना कट चुका है कि उसको जीवन के किसी ध्येय और उसके आदर्शों का अंदाजा ही नहीं है। उसका जीवन मौज मस्ती और सामयिक उदासीनता का ऐसा सम्मिश्रण है जिसके अपने सुख और दुख हैं। ....शिक्षा के स्वर्णिम काल में वह नहीं जान पाया है कि इस देश का राजनैतिक भविष्य क्या है।"[12]

पीछे हमने कुछ उदाहरणों के माध्यम से देखा कि कैसे राष्ट्रीय-भाव हिंदी साहित्य और सिनेमा में स्पष्ट झलकता है। राष्ट्र की आंतरिक बाह्य संप्रभुत्ता बनाए रखने की मंगलकामना इन उदाहरणों में बराबर दिखलाई देती है वस्तुतः आजादी के बाद हिंदुस्तान में विकसित होने की शेड में जो सांस्कृतिक चुनौतियाँ हमारे समक्ष उठ खड़ी हुईं उनके वर्णन के साथ-साथ सामाजिक-राजनैतिक अवसरवादी स्थितियाँ भी हिंदी साहित्य और सिनेमा में दिखलाई देती हैं, जिसे मोहभंग के रूप में देखा जा सकता है। वस्तुतः जिस बुनियाद एवं सपनों को लेकर आजादी की लंबी लड़ाई लड़ते हुए भारतमाता के सैंकड़ों-हजारों वीर सपूतों ने अपनी जान की बाजी लगाई। आजादी पाने के बाद देश में विकसित होने के साथ ही मोहभंग की स्थिति बनने लगी। समाज और राजनीति दोनों स्तरों पर स्वार्थ व्याप्त होने लगा और आजादी की कीमत को बहुत हल्के में आँकना शुरू कर दिया जिसके कारण देश की उन्नति में बाधा बनती रही। हिंदी साहित्य और सिनेमा दोनों में ही समय-समय पर राजनैतिक विद्रूपता और सामाजिक विषमता पर तीखी टिप्पणियाँ भी बराबर होती रहीं। जहाँ एक ओर मैथिलीशरण गुप्त 'भारत-भारती' में अतीत, वर्तमान और भविष्य की लकीर खींचते हुए प्रश्नांकित करते हैं-

"हम कौन थे, क्या हो गए हैं और क्या होंगे अभी
आओ विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी।" [13]

वहीं दूसरी ओर हिंदी सिनेमा में 'उपकार', 'करमा', 'रोजा', 'पूरब और पश्चिम', 'द हीरो' आदि फिल्मों में देश के प्रति प्रेम भाव झलकता दिखलाई देता है। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि जिस प्रकार समाज और राजनीति की विद्रूपता ने भारतीयों की मानसिकता को प्रभावित किया है उसी प्रकार परिवर्तित भारतीय मानसकिता से ही दर्शक जुटाने वाले सिनेमा ने भी मनोरंजन को कई बार अपनी फिल्मों की केंद्रीयता प्रदान करना शुरू किया, जिससे सामाजिक स्तर पर राष्ट्र एवं जीवन के प्रति आवश्यक एवं मूल्यवान संदेश अक्षुण्ण पड़ जाता है। ऐसी स्थिति में सिनेमा को भी मध्यममार्ग से कार्य करने की आवश्यकता है क्योंकि बाजारवाद के दौर में स्वयं को टिकाऊ बनाए रखने के लिए ऐसा करना एक मजबूरी भी बन जाता है लेकिन उसे कमजोरी नहीं बनने दिया जाना चाहिए। समाज में हिंसा का होना हानिकारक है, चूँकि वह समाज में है तो साहित्य और प्रदर्शनकारी कलाओं के रूप में सिनेमा में भी उसे जगह मिलती है। इस संदर्भ में यह ध्यान देने की बात है कि सिनेमा में अधिक उत्तेजनामय एवं हिंसक दृश्यों की भरमार दर्शकों को अभिभूत करने के लिए प्रयोग में नहीं लानी चाहिए। मानव जीवन की बेहतरी के लिए जो आवश्यक हो उसे ही रोचक व मनोरंजक रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए। साहित्य और सिनेमा की अद्यतन एवं सामयिक स्थिति पर बात की जाए तो हम पाते हैं कि दोनों क्षेत्रों में अपने समय की सच्चाई को उकेरा जाता है। आजकल वैश्विक स्तर पर चीन से फैले कोरोना वायरस का आतंक फैला हुआ है और हजारों की संख्या में लोग मौत का शिकार हो रहे हैं। हमारा भारत भी अब इसकी चपेट मे आ चुका है। पूरे देश में लॉकडाउन की स्थिति है लेकिन श्रमिक वर्ग महानगरों से पलायन कर अपने गाँव-घर (विशेषकर उत्तर प्रदेश और बिहार) में लौटने के लिए सड़कों पर आ गए हैं जो इस महामारी के समय चिंता का विषय है। इस महामारी और साथ में हो रहे पलायन पर सोशल मीडिया और टी. वी. पर लोगों के विचार बराबर देखने को मिल रहे हैं।

जिसे आने वाले समय में साहित्य और सिनेमा में भी देखा जा सकेगा और लोगों को इन माध्यमों से जागरूक व संवेदनशील भी किया जाएगा।

समाहार रूप में कहा जाए तो हिंदी साहित्य और सिनेमा दोनों में ही समय-समय पर सामाजिक हित भाव के साथ-साथ राष्ट्र-भाव भी बराबर प्रसारित हुआ है। प्रस्तुत शोध पत्र में हिंदी साहित्य से दिए गए उदाहरणों के अलावा ऐसे ही और सैकड़ों उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किए जा सकते हैं जो अपने समय की मांग को रचनात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं। साहित्य और सिनेमा

दोनों में ही मानव जीवन के कल्याण का मार्ग प्रस्तुत हुआ है और आगे भी आता रहेगा। भारतीय अतीत के गौरव, वर्तमान की चुनौतियों और स्थितियों के अनुकूल चिंतन-मनन व भविष्य के प्रति आशावान व प्रेरक स्थितियों को बनाने में हिंदी साहित्य और सिनेमा का योगदान सदैव प्रस्तुत रहेगा इसी शुभेच्छा के साथ...।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. प्रेम-पथिक-जयशंकर प्रसाद
2. https//mhindimala.net
3. https//gaana.com
4. जीवन को गढ़ती फिल्में-प्रयाग शुक्ल
5. www.bhajanganga.com
6. kavitakosh.org
7. https//geetmanjusha.com
8. https//kaavyaalaya.org
9. kavitakosh.org
10. चंद्रगुप्त-जयशंकर प्रसाद
11. https//kaavyaalaya.org
12. साहित्य और सिनेमा : अंतर्संबंध- प्रो. रतन पांडेय
13. भारत-भारती : मैथिलीशरण गुप्त

– सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, श्यामलाल कॉलेज (सांध्य), दिल्ली

❑❑❑

साहित्य, सिनेमा और समाज का अंतर्संबंध

कुंतला दत्त

आधुनिक युग तथा सभ्यता का अद्‌भुत चमत्कार है सिनेमा या चलचित्र, जिसे आज फिल्म, पिक्चर, मूवी आदि के नाम से भी जाना जाता है। मानव सभ्यता को विज्ञान का दिया हुआ यह अनमोल और प्यारा सा उपहार सिनेमा असल में निर्देशक के हाथ का खेल है। तभी तो सेट्स पर खड़े सभी लोग उनके 'लाइट, एक्शन, कैमरा' के निर्देश की प्रतीक्षा में रुके हुए होते हैं। सिनेमा सबसे पहले मनोरंजन का माध्यम, समाज के नकारात्मक शक्तियो के विरुद्‌ध आवाज बुलंद करने का माध्यम, सत्य-प्रेम- सुंदरता और मानवीयता को सर्वोच्च स्थान देने का माध्यम होने के साथ-साथ ग्लैमर और फैशन की एक दुनिया बसाने का माध्यम भी है।

विषय-प्रवेश से पहले बचपन में सुना हुआ एक गाना बार-बार मेरे कानों में गूंजने लगा है "ओहरे.... ताल मिले नदी के जल में/नदी मिले सागर में/सागर मिले कौन से जल में कोई जाने ना" कहने का तात्पर्य यह है कि सागर-महासागर बने विश्व सिनेमा, भारतीय सिनेमा और नदी-ताल रूपी प्रादेशिक सिनेमा के समाज पर पड़े व्यापक प्रभाव को इस कटोरे में कैसे समेटा जाए, जो हॉलीवुड, बॉलीवुड, टॉलीवुड आदि के रूप धारण किए हुए हैं। भारतीय समाज यानी लोगों के दिलों-दिमाग में सिनेमा इस कदर छाया हुआ है कि वे सिनेमा को खाने-पीने, उठने-बैठने, सजने-सँवरने, बातचीत करने और यहाँ तक कि सोचने-विचारने के ढंग में भी शामिल किए हुए हैं। इस पर हम जैसे साधरण लोग नहीं, बल्कि मनोवैज्ञानिक स्तर पर सोच-विचार किया जा सकता है। हम तो कभी-कभी यह सोचने पर मजबूर हो जाते हैं कि ये सिनेमा, ये फिल्मी संगीत न होते तो क्या होता? जिंदगी कितनी फीकी-फीकी और नीरस लगती। लोग बस हाथ-पाँव हिलाते हुए बेजान कठपुतलियों जैसे नजर आते। अतः हम कह सकते हैं कि सिनेमा रूपी यह सामाजिक कला हम जैसे साधारण लोगों के हृदय और मन-मस्तिष्क में ऐसे जड़ फैलाए बैठी हैं कि इसे उखाड़ना मुश्किल ही नहीं बल्कि नामुमकिन है। तो यहाँ हम भारतीय सिनेमा और भारतीय दर्शकों को ही सामने रखकर अपनी बातें जारी रखेंगे और साहित्य भी समाज को प्रतिबिंबित करने वाला और मानव जीवन पर व्यापक प्रभाव छोड़ने वाला एक सामाजिक कला है। पर हजारों सालों से इनका जितना प्रभाव समाज पर पड़ा है, इसके मुकाबले में सिनेमा ने केवल सौ सालों में ही भारतीय समाज को जीने की एक नई शैली दी। चिंतन में एक नयापन अर्थात् आधुनिकता लाई, जिससे समाज में एक नई लहर-सी पैदा हुई। इसके माने यह कतई नहीं कि साहित्य का मानव जीवन में या समाज में कोई महत्व नहीं। साहित्य का मानव जीवन तथा समाज में एक अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। जिसमें मानव समाज और सभ्यता का इतिहास समाया हुआ है, इसलिए साहित्य को मानव समाज और सभ्यता के अतीत से लेकर वर्तमान तक के लिखित दस्तावेज के रूप में अभिहित किया जा सकता है।

इस तरह से यह देखा जाता है कि साहित्य और सिनेमा समाज से जुड़ी दो सामाजिक कलाएँ हैं। पर इन दोनों कलाओं को समाज तक पहुँचाने का माध्यम

अलग-अलग होने के कारण दोनों का प्रभाव भी अलग-अलग होता है। ऐसे देखा जाए तो सिनेमा भी एक प्रकार का साहित्य ही है पर दृश्य-श्रव्य माध्यम होने के कारण सिनेमा 'दर्शक' और साहित्य लेखन माध्यम होने के कारण 'पाठक' पैदा करते हैं। एक अच्छे पाठक बनने के लिए सिर्फ साक्षर होना ही काफी नहीं है, बल्कि उन्हें सोचने-समझने की गहन मनःस्थिति और लेखक समाज को लेखन के माध्यम से जो संदेश देना चाहते हैं उसे ग्रहण करने की शक्ति हो तो पाठक अपनी मननशीलता, अनुभूति और काल्पनिक शक्ति से लेखक के वक्तव्य को परखकर अपने जीवन में उतारते हैं और समाज-निर्माण की प्रक्रिया में प्रयोजन अनुसार कार्यान्वित करते हैं। अतः पाठकों पर समाज निर्माण का स्वयं संस्कार का गंभीर दायित्व व्याप्त रहता है, जिसमें वे समाज से तमाम बुराइयों को हटाकर एक स्वच्छ समाज का निर्माण कर सकें। इसके विपरीत दर्शकों को चाहिए बस दर्शन योग्य दो आँखें, सिर्फ चंद रुपए और दो से तीन घंटें का समय, न कि पाठकों जैसी दिमागी कसरत और कई दिनों या महीने की खपत। तो बस "पैसे फेंको और तमाशा देखो "वह चाहे दिल्ली-आगरा का कुतुबमीनार, ताजमहल हो, लंदन, पेरिस का इवनिंग हो, लव इन टोकियो हो, टाइटैनिक या जुरासिक पार्क हो, सती साध्वी सिंदूर-मंगलसूत्र और अन्य आभूषणों से लदी करवाचौथ का व्रत पालन करती हुई भारतीय नारी हो या कोठे-कैबरे वाली नर्तकी यानी कलंकिनी खलनायिका हो, अच्छे माता-पिता, भ्राता-भगिनी, दोस्त-दोस्ताना, भाईचारा, देशभक्ति, नेता-राजनेता, राजनीति, शासन-अपशासन, कुशासन, धनी-निर्धनी, गाँव-शहर सामाजिक दबाव, प्रेम-विरह, जीवन-मृत्यु, हास्य-क्रंदन, प्रेम और आदर्श के नाम पर मर मिटने वाला नायक हो या शराबी, जुआरी, हिंसा-बदला-अपरहण, लूटमार-डकैती, दंगा-फसाद से जुड़े खलनायक हों। इस तरह सिनेमा जिंदगी के हर पहलू को छूता हुआ दर्शकों तक पहुँचता है और दर्शक अपने आपको उन पहलुओं में कहीं न कहीं महसूस करने लगते हैं। इसी तरह सिनेमा दर्शकों को झकझोर देने में समर्थ होता है। तो यह जाहिर है कि सिनेमा के दर्शकों के मुकाबले साहित्य का पाठक अत्यंत सीमित है और साथ-साथ प्रभावित भी। साहित्य में भिन्न-भिन्न पाठक एक ही पात्र या चरित्र को अपनी कल्पनाशक्ति के जरिए भिन्न रूप से देखते हैं और समझते भी हैं। इसके विपरीत सिनेमा में सबके लिए सब किरदार एक समान होते हैं, वहाँ जो कुछ दिखाया जाता है सब एक जैसे ही देखते हैं। इसलिए साहित्य और सिनेमा दोनों सामाजिक कला होते हुए भी रेल की पटरियों की तरह आस-पास होकर भी अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण कभी एक नहीं हो पाते पर जिस तरह रेलगाड़ी को संतुलित रखने के लिए दोनों पटरियों को सही जगह पर होना अत्यंत आवश्यक होता है, ठीक उसी तरह कहानियों यानी साहित्य का सहारा लिए बिना सिनेमा कभी परिपूर्ण नहीं हो सकता। अनेक कलाओं को अपने आप में समाहित किए हुए सिनेमा और साहित्य समाज को संतुलित रखने में लगे हुए हैं।

वैसे पौराणिक काल से ही भारतीय समाज में नाट्य-परंपरा के आधार पर गीत-संगीत, नृत्य-नाटिका, नुक्कड़-नाटक, स्वांग-यात्रा, कठपुतलियों का नृत्य, नौटंकी, ओजापालि, आलेख्य और असम के महान संत महापुरुष श्रीमत शंकरदेव द्वारा पंद्रहवीं सदी में ही ईजाद किया हुआ 'भाओना' जो धार्मिक कहानियों पर आधारित हैं; इन सभी का समाज में महत्वपूर्ण स्थान हैं, कृष्ण-कन्हैया की लीला पर आधारित रास-भाओना जहाँ दुष्टों का दमन और संत के पालन का आदर्श स्थापित करती है, ये सब नाट्य-साहित्य का ही अंग है, जो समाज को सुधारने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती आई है और असम में भी बदलते हुए समय में नई-नई सामाजिक समस्याएँ और मुद्दे को लेकर जनप्रियता के शिखर पर चढ़ी हुई चलायमान या मोबाइल थिएटर ने दर्शकों को भरपूर मनोरंजन देने के साथ-साथ समाज को नई दिशा देने में समर्थ हुए हैं, जहाँ बखूबी तकनीकी प्रयोग से स्टेज पर ही 'टाइटैनिक' जैसे नाटक को मंचस्थ कर दर्शकों के बीच तहलका मचा दिया था। असम के अलावा ऐसे नाट्य-परंपरा शायद ही और कहीं हो। इसके अतिरिक्त मंच या स्टेज नाटक, रेडियो नाटक भी लोग बड़े चाव से देखते-सुनते हैं और इसी नाटक का विकसित रूप ही सिनेमा या चलचित्र है, पर सिनेमा शिल्प इन सबसे अलग होने के कारण सबसे अधिक लोकप्रिय बना हुआ हैं।

साहित्य की और एक महत्वपूर्ण विधा है गीत जिनके बिना भारतीय फिल्मों की कल्पना ही नहीं की जा सकती। क्योंकि भारतीय संगीत और फिल्मों का आपस में चोली-दामन का साथ है और यह रिश्ता दोनों

ने बखूबी निभाया भी है। एक तरफ फिल्मों ने गीतकार-संगीतकार, गायक-गायिका और उनके द्वारा गाए गए मधुर गीत, शास्त्रीय-संगीत, लघु-संगीत, ग़ज़ल-कव्वाली को पनपने और फूलने-फलने की जगह दी हैं, और दूसरी तरफ भारतीय पार्श्व गायक-गायिकाओं ने अपनी सुरीली आवाज़ का जादू बिखेरकर संगीत प्रेमियों को मंत्रमुग्ध कर सिनेमाघरों तक पहुँचने पर मजबूर कर दिया है और ऐसे बहुत से सिनेमा हैं जो इन मनभावन गीतों की बदौलत ही सुपरहिट बने हैं।

आज भारतीय सिनेमा जिस मुकाम पर पहुँचा है। इस गगनचुंबी ईमारत की नींव की पहली ईंट डाली गई थी दादा साहेब फाल्के जी के अथक श्रम और प्रयास से हिंदी के पहले गद्य-लेखक भारतेंदुजी की नाटिका से प्रेरित होकर धार्मिक कहानियों के आधार पर 21 अप्रैल सन् 1913 में बनाई गई पहली फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' के नाम से तो पहले बनी मूक अर्थात् निर्वाक फिल्म, 'आलम-आरा' तक सवाक बनते-बनते बाइस्कोप से टॉकी और नए-नए वैज्ञानिक आविष्कार और तकनीकी उपकरणों की सहायता से बनी आधुनिक और श्याम-श्वेत रूप बदलकर रंगीन बनी फिल्म को सिनेमा के नाम से जाना जाने लगा।

सिनेमा और साहित्य का दायरा और स्वरूप अलग-अलग होते हुए भी दोनों का संबंध समाज से ही जुड़े होने के कारण तीनों में एक अंतर्संबंध बनता है, जिस संबंध से अलग होकर इन तीनों में से किसी का भी अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है। पर चूँकि सिनेमा कई तकनीकी कलाओं का सम्मिश्रण है, तो वहाँ सैकड़ों-हजारों कलाकारों का श्रम जुड़ा रहता है। इसी वजह से सिनेमा के साथ बजट, मार्केट, व्यवसाय आदि शब्द जुड़ते गए और यह एक व्यावसायिक कला बनता गया, तो साहित्य का हू-ब-हू प्रतिफलन सिनेमा में असंभव सा हो गया। व्यवसाय की दृष्टि से सिनेमा में निर्माताओं को मसाला यानी थ्रिल, रोमांस, सैक्स, सस्पेंस आदि का तड़का लगाना पड़ता है। ऐसे में साहित्य में विकृति आ जाती है, तो लेखक का नाराज होना स्वाभाविक है और जहाँ साहित्य, मंच और रीयल लाइफ में कहीं भी 'री-टेक' की गुंजाइश नहीं, वहीं सिनेमा में 'री-टेक' से सब कुछ अत्युत्तम किया जा सकता है। दर्शकों को खुश करने की हर कोशिश फिल्ममेकर जारी रखते हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि साहित्यिक-सिनेमा नहीं बना। उपन्यास सम्राट मुशी प्रेमचंद का 'गोदान', 'सेवासदन', 'ग़बन', 'स्वामी', 'शतरंज के खिलाड़ी', शरतचंद्र चटर्जी का 'देवदास'; जिस पर तीन बार फिल्में बनी पहली असम के प्रमथेश बरुआ द्वारा, दूसरी विमल मित्र द्वारा, तीसरी संजय लीला भंसाली द्वारा, मन्नू भंडारी की कहानी पर आधारित 'रजनीगंधा', भगवती चरण वर्मा का 'चित्रलेखा', चंद्रधर शर्मा गुलेरी का 'उसने कहा था' 'रेणु की तीसरी कसम', भीष्म साहनी का 'देश-विभाजन' पर लिखा गया मार्मिक उपन्यास 'तमस', अमृता प्रीतम का 'पिंजर' पर 'गदर एक प्रेम कथा', युवा वर्ग के जनप्रिय लेखक चेतन भगत का 'थ्री इडियट्स' आदि के अलावा भी 'पति पत्नी और वो', 'मौसम', 'आषढ़ का एक दिन', 'हिना', 'आँधी' आदि अनेक साहित्यिक फिल्में बनीं पर कुछ ही दर्शकों की कसौटी पर खरी उतर पाईं।

चूँकि सिनेमा एक व्यावसायिक कला है तो निर्माता कभी-कभी दर्शकों को लालायित कर सिनेमाघरों तक लाने के लिए अजब-गजब नामों का सहारा लेते हैं। ऐसा एक उदाहरण है। 'रामपुर का लक्ष्मण' ऐसे में धार्मिक सिनेमा की प्रतीक्षा कर रहे दर्शकों का तांता लग जाता है। सहज सरल दर्शकों को अंत तक उनके दर्शन नहीं होते, जिन्हें देखने वे आए थे। बाद में वे अन्य लोगों के सामने हास्य-विनोद का कारण भी बनते हैं।

सिनेमा के लिए हमेशा नई-नई कहानियों की तलाश होती रहती है इसका समाज पर कैसा प्रभाव पड़ता है और फिल्मों के दीवाने किस तरह फिल्मों के सहारे अपने जीवन के सपने बुनने लगते हैं और जीवन के कटु वास्तव का सामना उन्हें किस तरह करना पड़ता है ऐसे विषय को लेकर भी कई फिल्में बन चुकी हैं। 'गुड्डी' और 'बांबे टू गोवा' ऐसी ही कहानी को लेकर बनी हुई फिल्म है। जहाँ गुड्डी का किरदार निभाती हुई जया भादुड़ी जो स्कूल जाती हुई किशोरी है वह हीरो धर्मेंद की जबरदस्त अनुरागी है और अपनी कल्पना की उड़ान भरकर अपने जीवन संगी के रूप में पाना चाहती है। पर अपनी जगह पर जब किसी फिल्म की शूटिंग के दौरान वह धर्मेंद से मिलती है,तो उसे वास्तविकता का आभास होता है। वहीं एक फिल्म-दीवाना युवक के रूप में असरानी को दिखाया गया, जो अपना घर छोड़कर बॉलीवुड पहुँचा और कोई रोल पाने की आस लिए यहाँ-वहाँ के चक्कर काटते हुए भटकने लगा।

इसी तरह सिनेमा दर्शकों को सपनों की दुनिया की सैर कराता है और ऐसे नासमझ कहीं के नहीं रह जाते, न घर के न घाट के। इसी तरह एक हास्य प्रधान फिल्म है 'बांबे टू गोवा' जहाँ फिल्मी हिरोइन बनने के चक्कर में दुष्ट-चक्र में पड़ी और शिकार बनी एक गुमराह और बिगड़ी हुई युवती के रूप में अरुणा इरानी अपने घर से बहुत सारे रुपए लेकर गोवा भागती है और उसी बस में एक सुलझे हुए युवक के रूप में अभिताभ बच्चन ने उसे रास्ता दिखाया और दुष्टों के बिछाए हुए जाल से निकालकर सही राह पर लाया। समाज को सीख देने के लिए फिल्म-निर्माता ऐसी फिल्में बनाते रहते हैं ताकि वे कभी किसी कुचक्र में न फंसे और कल्पनालोक में न खो जाएँ, वास्तविकता का ध्यान रखें ओर सिर्फ मनोरंजन के लिए सिनेमा देखें और हो सकें तो इसका फायदा उठाए, न कि खुद को हीरो-हिरोइन या विलेन-वैंप समझने लगें।

फिल्म-जगत के अंदर और बाहर ऐसे अनगिनत किस्से-कहानियाँ हैं जिनके कारण हॉलीवुड के अनुकरण से बॉलीवुड बनी फिल्मी नगरी मुंबई धीरे-धीरे मायानगरी बनती गई। हाँ ऐसी मायानगरी जिसकी तरफ लोग खुद-ब-खुद खींचे चले आते हैं, चाहे उस खिंचाव का कारण रोजी-रोटी की तलाश हो या अपने हुनर को एक पहचान देने की ख्वाहिश हो। इसलिए लोग नदियाँ, दरिया, सागर होते हुए इस गहरे जाम में डूबने चले आते हैं और इस नशीली दुनिया में खो जाते हैं। इस पेशे में जो नशा है इसी वजह से आज भारतीय फिल्म इंडस्ट्री से प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से लाखों-करोड़ों लोग जुड़े हुए हैं। स्टूडियों-सिनेमाघरों से लेकर फिल्म-इंस्टीट्यूट और विद्यार्थियों, फैशन-टेकनोलॉजी, मॉडलिंग, ब्यूटी-कॉन्टेस्ट, हर राज्य में संगीत-नृत्य के अनगिनत कलाकार, रियलिटी शो, टीवी के सिनेमा और फिल्म संगीत के कितने चैनल और क्या-क्या? फैंस क्लब्स, फिल्म-संगीत के रेडियो लिस्नर्स क्लब्स, फिल्मी दीवानों के अपने प्रिय अभिनेता की नकल उतारने का स्टेज परफॉर्मेंस और उनसे जुड़े दर्शक, हास्य कलाकारों के मीमीक्री से छोटे पर्दे के दर्शकों का मनोरंजन, शो, फिल्मी समीक्षा साहित्य, फिल्म मैगजीन्स पब्लिकेशंस, डिस्ट्रिब्यूशन, प्रमोशन वगैरह-वगैरह। अपने प्रिय कलाकारों की नकल युवा वर्ग के प्रायः सभी लोग करना पसंद करते हैं और फिल्मी गप्पें हाँकते रहते हैं। धर्मेंद्र के "कुत्ते-कमीने.. ..मैं तेरा खून पी जाऊँगा", शत्रुघ्न के "खामोश...", राजेश खन्ना की आँखों का इशारा, अमिताभ बच्चन का "तेरे पास क्या है?" और जबाब में शशी कपूर का "मेरे पास माँ है" किंग खान शाहरुख का "कककिरण. ..." सन्नी का "ढाई किलो का हाथ" किसे मालूम नहीं हैं? इसी प्रकार दर्शकों को भारतीय सिनेमा अपने मोहिनी मंत्र से बांध के रखता है जितने भी तनावग्रस्त वे क्यों न हो, मुँह पर एक हंसी की झलक आ ही जाती है। महान भूमिका निभाई है हिंदी फिल्मों ने हिंदी भाषा के जरिए। भाषा की सीख देने के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता, अखंडता, देशभक्ति की भावना कूट-कूटकर भर दी है भारतवासियों के दिल में। यहाँ एक राज की बात बताऊँ जब कभी भी हमें भाषागत लिंग-निर्णय में मुश्किलें आई है तब फिल्मीं गानों ने हमें बहुत सहारा दिया है।

महिलाओं में आत्मसम्मान की भावना, स्वाभिमान, सदियों से चले आ रहे दमन-उत्पीड़न के विरुद्ध आवाज उठाने की शक्ति सिनेमा ने भारतीय नारी को दी है। साथ ही साथ कई कुप्रथाएँ सतीदाह, बालविवाह, दहेज पर कठोर आघात पहुँचाया है भारतीय सिनेमा ने। नारियों के प्रति समाज की हीनभावना को दूर करने के लिए भारतीय सिनेमा ने हमेशा आवाज बुलंद रखी और नारी को सम्मान की दृष्टि से देखा। इसी तरह साहित्य की ही भाषा कुछ अलग ढंग से निरूपित कर समाज को कुछ हद तक बदलने में सक्षम हुए हैं भारतीय सिनेमा। हम भारतीय दर्शकों को और स्वयं हमें नारी होने के कारण भारतीय सिनेमा पर गर्व है।

यहाँ कुछ ऐसी फिल्मों का नाम लेना उचित होगा, जिनका भारतीयों की मानसिकता में परिवर्तन लाने में योगदान रहा। इनमें 'अछूत कन्या', 'गोदान', 'जागृति', 'अनाड़ी', 'दो बीघा जमीन', 'हकीकत', 'मिलन', 'श्री 420', 'नया दौर', 'मदर इंडिया', 'खिलौना', 'उपकार', 'ब्रह्मचारी', 'साहिब बीवी और गुलाम', 'आदमी और इंसान', 'आँखें', 'मेरा साया', 'मेरा नाम जोकर', 'हाथी मेरा साथी', 'समाज को बदल डालो', 'नया जमाना', 'पाकिज़ा', 'कटी पतंग', 'आनंद', 'सफर', 'दुश्मन', 'अमर प्रेम', 'हरे रामा हरे कृष्णा', 'पूरब और पश्चिम', 'कुवाँरा बाप', 'जंजीर', 'पवित्र पापी', 'आपकी

कसम', 'सौदागर', 'अमानुष', 'इंसाफ का तराजू', 'आनंद आश्रम', 'शोले', 'आँधी', 'मासूम', 'नमक हलाल', 'निकाह, रुदाली', 'आखिर क्यों', 'दामिनी', 'लगान', 'तारे जमीन पर', 'लगे रहो मुन्नाभाई', 'थ्री इडियट्स', 'कृष', 'ब्लैक', 'पा' आदि इनमें प्रमुख हैं।

सिनेमा के इस विशाल जगत की कोई परिधि नहीं है। अतः हम विश्व में सर उठाकर कह सकते हैं कि भारतीय सिनेमा ने दिलीप कुमार, सत्यजीत रे, राज कपूर जैसे अभिनेता-निर्देशक, कोकिल-कंठी लता जी, आशा जी के साथ-साथ रफी, मुकेश, किशोर जी, मन्ना डे, महेंद्र कपूर जैसे आवाज के जादूगर, अनेक मनभावन गीतों के गीतकार-संगीतकार, राजेश खन्ना जैस सुपरस्टार, ही मैन धर्मेंद्र, ट्रेजेडी क्वीन मीना कुमारी, हेमा मालिनी जैसी ड्रीमगर्ल, शर्मीली शर्मीला, सबके दिलों पर राज करने वाली एवरग्रीन रेखा, श्रीदेवी, हाल ही में अभिनय जीवन का पचासवाँ साल पूरे किए हुए 'सदी के महानायक' अभिताभ बच्चन, परफैक्शनिस्ट आमीर खान, किंग खान शाहरुख, सपनों का राजा सलमान, एक्शन हीरो अक्षय कुमार और कितनों को अपने मुकाम पर पहुँचाया है।

यह सिनेमा ही है जिनकी बदौलत हमें भारतीय सिनेमा का जनक रूपकोवँर ज्योतिप्रसाद आगरवाला, अभिनेता, निर्माता-निर्देशक प्रमथेश बरुआ, दादा साहेब फाल्के पुरस्कार विजेता-भारतरत्न-सुधाकंठ डॉ. भूपेन हजारिका, संगीतकार जितु-तपन, निर्माता-निर्देशक जाह्नु बरुआ, विश्वस्तरीय अभिनेता आदिल हुसैन, बैंडिट क्वीन ख्यात अभिनेत्री सीमा विश्वास, निर्माता-निर्देशक, संगीतकार-नायक-अभिनेता जुबिन-जतिन-पापन, सरल-ग्राम्य जीवन को सरल ढंग से उपस्थापित करने वाला विश्वप्रसिद्ध निर्माता-निर्देशक रिमा दास नहीं मिलते। धन्य है भारतीय सिनेमा!

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विज्ञान की प्रगति के साथ-साथ मोबाइल, इंटरनेंट के युग में बदलते हुए परिदृश्य में हमें यह आशा रखना कि सब कुछ पहले जैसा हो जाए... कहाँ तक संगत होगा यह कहना मुश्किल है। आज सिनेमा में सैक्स, रेप, अपहरण, दंगा-फसाद, लूटपाट आदि की भरमार होते हुए भी दर्शकों को सतर्क रहना होगा कि हम मक्खी या मधुमक्खी बने, गरल या अमृत चुने।

अंततः हमें फिल्म-निर्माताओं से विनम्र निवेदन है कि यंत्रों, तकनीकी प्रयोगों के बीच रहते-रहते और बजट, बाजार का कैलकुलेशन करते-करते मानवीय संवेदनाओं को न भूल जाएँ...समाज के प्रति वे अपने उत्तरदायित्व को न भूलें और समाज को बिगाड़ने के बजाए सवाँरने का काम करें।

– ऋषिकेश अपार्टमेंट, न्यू गुवाहाटी, पी. ओ. नूनमाटी, जिला-कामरूप(मेट्रो), असम-781020

❑❑❑

सिनेमा और समाज

डॉ. अर्चना झा

सिनेमा हृदय और मस्तिष्क, भाव और विचार के साथ-साथ सामाजिक, सांस्कृतिक साहित्यिक परिवेश का जीवंत रागात्मक सर्जना है। साहित्य भी अपने परिवेश और समाज के कैनवास पर उकेरा जाता है, वहीं दूसरी तरफ सिनेमा भी अपने समय, युगबोध परिवेश का सामाजिक प्रतिबिंब है जो जुड़ता है हृदय की 'रागात्मकता' के साथ-साथ मस्तिष्क की बौद्धिकता, सौंदर्यात्मक राग-विराग के साथ। सिनेमा मानव, जीवन की आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, उत्कर्ष-अपकर्ष, कुंठा एवं त्रास का एक समग्र चित्रण है, दृश्य-श्रव्य माध्यम के रूप में।

वर्तमान समाज में नैतिकता एवं मूल्यो की उपेक्षा, मानवीय संबंधों के प्रति उदासीनता, परिवर्तित सामाजिकता, संस्कार, संस्कृति साहित्य में भी ध्वनित है, तो भला सिनेमा कैसे अछूता रह सकता है। सिनेमा भी 'कथानक' समाज और साहित्य से लेता है। क्लासिक भावना और मूल संवेदना को समेटे हुए कई फिल्में बनी हैं, जो सामाजिक परिप्रेक्ष्य में मील का पत्थर साबित हुई हैं।

युगीन सिनेमा आज किसी एक लीक या परिपाटी में बंधी हुई नहीं है। बल्कि वह व्यक्ति एवं जीवन के तमाम छुए-अनछुए पहलुओं, नैतिकता एवं वर्जनाओं की खिलाफत करते हुए, ग्राह्य एवं अग्राह्य की नवीन परिभाषा गढ़ते, हुए, उभयपक्षी बिंदुओं को आत्मसात् करता चलता है। व्यक्ति की बाह्य समस्याओं को ही नहीं बल्कि आंतरिक मनोग्रंथि से रूबरू होते हुए एक खुरदरे यथार्थवादी सौंदर्यशास्त्र को फिल्मों के कथ्य में ढाला गया है।

फिल्मों की यह यात्रा 'जागृति', 'दो बीघा जमीन', 'पूरब पश्चिम', मदर इंडिया, आँखे, गाइड, तीसरी कसम, देवदास, चित्रलेखा आदि फिल्मों के विचारबोध, आदर्शवादी यथार्थ से गुजरते हुए एक नए सिनेमाई नीति, सौंदर्यशास्त्र को अपनाता है जहाँ वेदना-संवेदना के गीले आँसू न होकर परिवेशगत, व्यक्ति के ऊहापोह, मोहभंग, कुंठा, अराजकता, मूल्य, रीति-नीति सभी अपनी संपूर्णता के साथ सिनेमा के कथ्य बनने लगे। आधुनिकता के तकनीकी यांत्रिकता से गुजरता हुआ मनुष्य उपभोक्तावादी और यांत्रिक होता गया। 'थ्री इडियट्स' फिल्म 'सफलता' की दक्षता के कागजी आंकड़ों की पारंपरिक सोच की पोल खोल कर रख देती है। एक नीतिवाक्य कहा गया है कि, हर मनुष्य के अंदर अलग-अलग तरह की प्रतिभा है। हर मनुष्य में कोई एक विशिष्ट प्रतिभा होती है। परंतु आज के समाज में व्यक्ति प्रतिस्पर्धा एवं प्रतियोगिता के युग में जीता है। जहाँ बच्चों के लिए पहले से ही माँ-बाप उनका कैरियर, पद, मुकाम सोच लेते हैं और उसी के अनुरूप बच्चे को झोंक देते हैं उस गला-काट प्रतिस्पर्धा में जहाँ वह अपने अंतर्मन की आवाज न सुन सके। इसका सूक्ष्म अंकन 'तारे जमीन पर' फिल्म में किया गया है।

अतीत में भी 'कथानक' कथ्य, भाव-विचार को रुपहले कोरी कल्पनात्मकता एंव भावुकता से निकालकर इसे व्यक्ति, समाज, संस्कृति के एक सशक्त प्रतिनिधि के रूप में अभिव्यक्त किया गया। 'अंकुर', 'आक्रोश', 'अद्धसत्य', 'सारांश', दो आँखे बारह हाथ, 'स्वदेश' 'हिंदी मीडियम', 'वेडनसडे' जैसी फिल्में है।

भाषा ISSN 0523-1418

'परिवर्तन' प्रकृति का शाश्वत नियम है। यह परिवर्तन सृष्टि के मूल में हर क्षेत्र में है। समाज सिनेमा का बहुआयामी अंतर्संबंध है जिनका एक-दूसरे पर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। यही वजह है कि सिनेमा का 'कथ्य' भी इनसे प्रभावित होकर ही अपने संरचनात्मक ताने-बाने को बुनता है। आज शिक्षा जगत में राजनीति, भाई-भतीजावाद, अवसरवादिता फल-फूल रही है और भोथरे चाकू से योग्य आदर्शवादी शिक्षकों का गला रेत दिया जाता है। 'चाक एन डस्टर' फिल्म में समाज एवं शिक्षा जगत के कोढ़ को दिखाया गया है। शिक्षा का मंदिर भी पैसा बटोरने, नाम कमाने का सहज साधन व्यापार बनकर रह गया है। बिल्कुल ताजा एवं यथार्थ के ताने-बाने से बुनी इस फिल्म का 'कथ्य' बेबाक, विवेचन विश्लेषण करते हुए शिक्षा जगत के तमाम स्याह पन्नों को परत दर परत खोलती चलती है बगैर किसी लाग-लपेट के। इसकी आंशिक झलक हमें श्रीलाल शुक्ल के 'रागदरबारी' उपन्यास में दृष्टिगोचर होती है।

सिनेमा समाज का दर्पण माना जाता है। जब देश की सरजमीं के टुकड़े होते हैं तो यह विभाजन न केवल हमारी जमीन को बाँटता है बल्कि हमारे दिलों दिमाग में एक ऐसा नासूर बना दिया जाता है जिसकी टीस सड़ांध के रूप में सरजमीं के साथ मानस में भी फैलती रहे। इस त्रासदी को भारतीय हिंदी सिनेमा के रजतपट पर बखूबी चित्रित किया गया। 1947 'अर्थ' फिल्म हो या श्याम बेनेगल की 'मम्मा' जिसकी नायिका 'महमूदा' के अंर्तमन को भी विभाजन 'विभाजित' होने पर मजबूर करती है। विभाजन की त्रासदी को शरीर और मन पर झेलती हुई 'पिंजर' की नायिका पूरो। आज के इस तथाकथित आधुनिक समाज में धर्म के नाम पर युवाओं को उलझाते बहकाते तथाकथित संभ्रांत धार्मिक लोगों की बखिया उधेड़ती 'हे राम' फिल्म। 'गदर एक प्रेम कथा' में शाश्वत संपूर्ण प्रेम को भी विभाजन और मजहबी तराजू में तौल दिया जाता है। राष्ट्रप्रेम और व्यक्तिगत प्रेम की स्थापना के बीच का द्वंद्व बेहद ही सूक्ष्म एवं तार्किक है। जहाँ राष्ट्र के आन-बान-शान का ध्वज लहराते हुए प्रेम की शाश्वतता एवं पवित्रता की भी रक्षा की जाती है। युगीन संदर्भ के हुंकार, ललकार एवं चेतना के साथ एक संदेश देता है कि, राजनेताओं की स्वार्थ लोलुपता, संकीर्णता और गलत निर्णय कितने मासूम लोगों की जान ले लेता है। चतुरसेन शास्त्री के उपन्यास पर आधारित फिल्म 'धर्मपुत्र' एक नए दृष्टिकोण के आलोक में गढ़ी जाती है जो न केवल विभाजन के यथार्थ पहलुओं को दिखाती है बल्कि हिंदू-मुस्लिम एकता को नया आसमाँ भी देती है कि, एक मुस्लिम का नवजात शिशु, हिंदू के घर में पलकर हिंदू बनता है। वास्तविकता है कि, जन्म से हम केवल इंसान होते हैं। हिंसा-प्रतिहिंसा, सांप्रदायिकता का जहर इन सबके मूल में स्वार्थी राजनीतिक, मंसूबे और धर्मांधता है। इसी दर्द को खुशवंत सिंह की लिखी कहानी 'ट्रेन टू पाकिस्तान' पर आधारित फिल्म बनाई गई। इस फिल्म का एक डायलॉग- "मैं न सिख हूँ, न मुसलमान, न हिंदू। मैं तो डाकू हूँ", पूरी फिल्म के कथ्य को व्यक्त कर देता है। विभाजन की पीड़ा हिंदू हो या मुसलमान दोनों पक्ष सहते हैं 'पार्टीशन' फिल्म भी विभाजन के त्रास को दिखाती है कि, यह विभाजन राष्ट्र, मानवीयता और प्रेम की परिभाषा ही कलंकित कर देता है। एक फौजी पाकिस्तानी युवती की 'अस्मत' की रक्षा करते हुए अपनी कौम से टकरा कर उसे अपने घर में पनाह देता है। एक सच्चा सिक्ख और फौजी बनकर उसकी रक्षा करता है हर कदम पर। अनजाने ही उसे प्रेम करने लगता है इस प्रेम की रक्षा हेतु वह उदारमना धर्म की संकीर्णताओं से परे उठकर प्रेम की प्रतिस्थापना करता है।

विभाजन से इतर कश्मीर में हिंदू पंडितों के विस्थापन के बेहद संवेदनशील मुद्दे को 'शिकारा' फिल्म में विधु विनोद ने चित्रित किया है। कश्मीर की वादियों में शिव और शांति का प्रेम परवान चढ़ता है परंतु कालांतर में कश्मीर की घाटियों में बारूदी गंध घुलने लगती हैं। अलगाव, आतंकवाद की ऐसी चिंगारी फूटती है कि, उसमें कश्मीरी पंडितों को अपनी बहू एवं बेटी की आबरू बचाना मुश्किल हो जाता है ऐसे समय में शिव और शांति को अपना आशियाना छोड़ना पड़ता है, कितने जद्दोजहद एवं मुश्किलों को झेलना पड़ता है। अपनी जान बचाते हुए वे भारत आ जाते हैं परंतु अपने दिल-दिमाग में अपने उस आशियाँ को बसाए रहते हैं। 30 वर्षों तक वे इस उम्मीद में रहते हैं कि एकबार वे कश्मीर की वादियों में लौट जाएँगे। अपने आशियाँ को बसाएगे परंतु ऐसा होता नहीं है, यह है तत्कालीन कश्मीर का समाजशास्त्र। जिसे बेहद हृदयस्पर्शी कथानक, भाव के साथ रजत पट पर उकेरा गया है।

साहित्य हो या सिनेमा इनके कथ्य, परिवेश किसी सरहद से बंधे नहीं होते हैं बल्कि ये सीधे जुड़ते हैं समाज एवं परिवेश से। 'तालिबान' फिल्म में अफगानियों के जीवन की बेबसी और तालिबानियों के अतिक्रमण, अत्याचार के बीच एक अफगानी युवक से प्रेम में फंसी भारतीय लड़की के प्रेम, मोहभंग त्रास, कुंठा की एक सशक्त अभिव्यक्ति है। फिल्म दृश्य श्रव्य माध्यम है, जिसका कथानक, संदेश उद्देश्य प्रत्यक्षतः हमारे दिलो-दिमाग पर प्रभाव डालता है। राष्ट्रीय चेतना एक विचार, भाव है जो संपूर्ण मातृभूमि के प्रति, प्रेम, समर्पण, आदर, सेवा के भाव हममें भरता है। यह एक विचार, समर्पित स्वीकृति है, जो देश के साथ हमें भावनात्मक रूप से सामाजिक संस्कृति के साथ जोड़ती है। यह जुड़ाव फिल्मों के माध्यम से उसके कथ्य, संवाद, गीत-संगीत से गुजरती हुई हमारे हृदय को उद्वेलित करती है। '23 मार्च 1931-शहीद' फिल्म जिससे हमें शहीद भगतसिंह के जीवन के बारे में पता चलता है। देश के लिए मर मिटने वाले क्रांतिकारी बटुकेश्वर दत्त, सुखदेव, राजगुरु जैस नवयुवक जब देश के लिए हँसते-हँसते "मेरा रंग दे बसंती चोला" गुनगुनाते हुए जब फाँसी के फंदे पर झूल जाते हैं तो यह दृश्य भारतीय युवाओं में ओज-तेज और मातृभूमि के लिए मर मिटने का जज्बा पैदा करता है। यह जज्बा कोई भी उपदेश पैदा नहीं कर सकता है। 'पूरब और पश्चिम' फिल्म में 'भारत' और भारतीयता को जिस तरह उपेक्षित कर रहे नायक पर व्यंग्य किया जाता है वह मस्तिष्क को झकझोरता है। इसी फिल्म में विदेशी धरती पर जब 'भारत का रहने वाला हूँ भारत की बात सुनाता हूँ की स्वरलहरी गूंजती है तो 'विश्वगुरु' भारत की गरिमा आन-बान, सभ्यता, संस्कृति हवाओं में गूंजती है। इस गाने में सभ्यता, संस्कृति का जो सौंदर्यात्मक चित्रण है वह केवल महसूस किया जा सकता है-

चमक उठा सिंदूर गगन में,
पश्चिम तक लाली छाई दुल्हन चली,
हाँ, पहन चली तीन रंग की चोली

'दो बीघा जमीन', 'जागृति', 'सत्याग्रह' जैसी फिल्मों में राष्ट्र प्रेम, सामाजिक सद्भावना के पाठ हम पढ़ते हैं। सिनेमा केवल मन को ही नहीं छूता है, बल्कि हमारे गौरव क्रांतिवीरों के बारे में भी हमें बताता है जो इतिहास के पन्नों में भी उपेक्षित रह गए। जिनके गौरव लोक कंठो में कहीं-कहीं सुरक्षित तो हैं परंतु जिस स्वर्णाक्षर में लिखा जाना चाहिए था वहाँ उदासीनता, उपेक्षा दिखाई गई। 'केसरी' फिल्म इसका एक सशक्त उदाहरण है जिसमें केसरिया पगड़ी की आन और बलिदान, शौर्य, तेज की संपूर्ण गाथा को रजतपट पर उकेरा गया है। गाने की पंक्ति भी राष्ट्रीयता की एक स्वर्ण इतिहास लिखती है-

"तलवारों पे सर वार दिए
अंगारों में जिस्म जलाया है
तब जाके कहीं हमने सर पे
ये केसरी रंग सजाया है"

वहीं पर वीर 'केसरी' अपनी आरजू गुनगुनाता है इन पंक्तियों में-

"तेरी मिट्टी में मिल जावां
गुल बनके मैं खिल जावां
तेरी नदियों में बह जावां
तेरे खेतों में लहरावां
इतनी सी है दिल की आरजू।"

युगीन परिवेश में सिल्वर स्क्रीन का यह संसार केवल लुभावना, आकर्षक ही नहीं है बल्कि बेबाक, खोजी, अन्वेषणात्मक कथानक के यथार्थ को समाज के सामने लाने का प्रयास करता है। सुभाषचंद्र बोस आजाद हिंद के संस्थापक क्रांतिकारी, भारत के पुत्र की जिंदगी को आखिरी समय एक किंवदंती बनाकर गुमनाम कर दिया जाता है। 'गुमनामी' फिल्म में न केवल आजाद हिंद फौज का संस्थापक, क्रांतिकारी है बल्कि फिल्म में उनके जीवन के ज्ञात-अज्ञात पहलुओं को बड़ी बेबाकी से अनुसंधनात्मक दृष्टिकोण से विवेचित विश्लेषित कर देश के सामने, जनता के सामने जिस तरह से अभिव्यक्त किया है यह हमारे लिए एक धरोहर है। फिल्म अभिव्यक्ति का वह साधन है जो भूत, भविष्य, वर्तमान सभी के वातायन हमारे सामने खोल देता है।

समाज एवं व्यक्ति के सोच-विचार का प्रभाव फिल्मों पर भी पड़ता है। जब कोई परंपराएँ और मान्यताएँ धीरे-धीरे खंडित होती हैं तो नए प्रतिमान गढ़े जाते हैं। साहित्य और समाज दोनों के मूल उत्स में स्त्री है। हिंदी सिनेमा जगत में अतीत में मूक बधिर गाय की छवि में स्त्री को आबद्ध कर दिया गया। जहाँ शराबी, जुआरी, अवैध संबंधों में लिप्त पति भी परमेश्वर था। समाज की तमाम मान्यताएँ परंपराओं को निभाती हुई

इस स्त्री को 'आदर्श' की चाशनी में लपेट कर परोसा गया। कालांतर में बदलते परिवेश और मान्यताओं ने सिनेमा को प्रभावित करना शुरू कर दिया। सिनेमा में कथ्य बदलने लगे जिसके फलस्वरूप 'मदर इंडिया', कागज के फूल, 'मधुमती', 'कटी पतंग' जैसी फिल्में स्त्री के प्रति किंचित परिवर्तित दृष्टिकोण के साथ आई। 'सुजाता', 'अभिमान' जैसी फिल्मों ने कोरे आदर्शवाद के रुपहले संसार को पर्दे पर नहीं उकेरा बल्कि नारी जीवन के व्यावहारिक पक्षों को अभिव्यक्त किया।

नब्बे के दशक में सिनेमा के रुपहले पर्दे पर स्त्री-जीवन की मनोदैहिक विसंगतियों, द्वंद्व, कुंठा आदि को चित्रित किया। 'दामिनी', बैंडिट क्वीन, 'जुबैदा', 'क्या कहना, 'पिंक' जैसी फिल्मों ने एक नए आयाम पेश किए। 'पिंक' जैसी फिल्म संभ्रांत वर्ग के सामंतवादी, निरंकुश सोच-विचार को परत-दर-परत उसके हृदय से लेकर मस्तिष्क तक को खंगालती चलती है। स्त्री के भाव, विचार एवं उसकी निजता के नए मानदंड निर्धारित करती है। समाज की संपूर्ण वर्जनाएँ आज भी स्त्री के लिए हैं। इस सच को 'हाईवे' फिल्म में दिखाया गया है। वीरा एक संपन्न परिवार की बेटी है जहाँ खोखली आन-बान-शान है परंतु रिश्तों की मर्यादा जहाँ तार-तार होकर बिखरती है। जब वीरा का यौन-शौषण पिता के बड़े भाई के द्वारा होता है। यहाँ रक्षक ही भक्षक बन जाता है। वीरा की माँ जो स्वयं एक स्त्री है, वह इसे भूलकर चुप रहने के लिए कहती है। क्योंकि उनकी नियति भी अन्याय और शोषण सहना है। 'तुलसी' फिल्म समाज के सामने 'मातृत्व' की एक अलग ही रवानगी पेश करती है। जब तुलसी को पता चलता है कि, वह अब ज्यादा दिन तक जिंदा नहीं रहेगी तो अपने बच्चों के लिए माँ-बाप ढूँढती है जो बच्चों को गोद लेकर उन्हें सुनहरा भविष्य दे और वह चैन से मर सके।

कला फिल्मों के विशुद्ध आदर्शवाद भी स्त्री के सहमे हुए यथार्थ से रूबरू होकर उस संघर्ष को लहूलुहान खरोंचो से गुजरते हुए उनके अस्तित्व एवं पहचान को रजतपट के माध्यम से समाज की तथाकथित मान्यताओं को बिखेरती हुई 'रुदाली', 'चिरूथ मंडी', 'अर्थ' की तमाम नायिकाएँ। 'बाज़ार' का विशुद्ध बाजारवाद जिसके साए में चीखों को दबाती प्रेम में पड़ी हुई 'नजमा' के सामने से जब बाजार तंत्र की कीले उखड़ती हैं तो उसका मोहभंग होता है और जन्म लेती है वो नजमा जो स्त्री-संवेदना, प्रेम को उसके अस्तित्व से जोड़ती है और स्वयं की पहचान केवल एक स्त्री के रूप में बनाती है।

समाज चाहे सामंतवाद की अक्खड़ता या पूंजीवाद की चकाचौंध, बाजारवाद या यांत्रिकता का हो तथाकथित सामाजिक संरचना स्त्री को 'वस्तु' से व्यक्ति या मानवी समझने का जोखिम उठाना नहीं चाहता है। 'दमन' 'लज्जा' जैसी फिल्में इन छल-छद्मों को चुनौती देती हुई रजत पट पर अभिव्यक्त होती हैं। कभी लिव इन रिलेशनशिप को समाज के सामने लाने का प्रयास 'सलाम नमस्ते' फिल्म के माध्यम से किया जाता हैं कभी 'इश्किया' और 'ब्लैक' जैसी फिल्में अपने कथानक के द्वारा समाज को राय बदलने के लिए मजबूर करती हैं।

कालांतर में विशुद्ध कला फिल्म और कॉमर्शियल फिल्म का प्रत्यक्ष पारिभाषिक भेद मिटने लगा और खुरदरे यथार्थ का सौंदर्यात्मक अंकन फिल्मों के कथ्य बनने लगे। यह 'कथ्य' कल्पना की उर्वर भूमि की देन न होकर व्यक्ति की मनोभूमि, महानगरों की बंद खिड़कियाँ, गाँव के पलायन खंडित-विखंडित आस्था से टकराती जूझती हुई कथानक का उपांग बनते हैं और फिर जन्म होता है ऐसे सिने कथाकारों का जो हिंदी फिल्मों को एक नए, परिवेश में ढालता है और बुनता है उसमें खुरदरा यथार्थ, बाजारवाद, मोहभंग, कुंठा, प्रशासनिक तंत्र की पास। 'ब्लैक फ्राईडे' जिसमें बम-विस्फोटों की साजिश एवं उसकी यंत्रणा को उभारा गया। 'गैंग्स ऑफ वासेपुर' फिल्म का कथानक उस औपनिवेशिक सामंतवादी समाज से लिया गया जहाँ यह घटता है एक त्रासदी के रूप में। सिनेमा के रजतपट पर यह गंगाजल धो डालता है उन सभी कुत्सितताओं को। 'वेडनसडे' जैसी फिल्म समाज को संदेश देती है कि आम जनता क्या कर सकती है? 'मुन्नाभाई एम.बी.बी.एस.' जैसी फिल्में उसी समाज से ली जाती हैं जहाँ मनुष्य यंत्र बन गया है। कागज की डिग्रियाँ बस पैसा कमाने का ए.टी.एम. मशीन बन गई हैं।

जहाँ संवेदना, स्नेह, कर्तव्य, प्रेम हाशिए पर हैं। कहीं पर प्रकृति का शाश्वत सत्य कि जिंदगी दो दिन की है इसलिए वर्तमान को सकारात्मक रखे। 'जिंदगी ना मिलेगी दोबारा' जैसी फिल्म में इसका सौंदर्यात्मक

अंकन है जो व्यक्ति को एक संदेश देकर जाता है। 'हिंदी मीडियम' 'इंग्लिश मीडियम' जैसी फिल्में संभ्रांत वर्ग की तथाकथित सोच, आत्मकेंद्रिकता को तार-तार कर देती हैं। आज भारतीय समाज दिशाहीन केवल पश्चिमी चमक-दमक का मोहताज बनकर रह गया हैं इस सच को 'इंग्लिश मीडियम' जैसी फिल्में परिभाषित करती हैं रजतपट पर, समाज के बीच।

युगीन फिल्मों ने समाज को उद्‌वेलित किया, थमे हुए जल में लहर पैदा किया ताकि, बने-बनाए किनारों को काट कर व्यक्ति एवं समाज एक व्यावहारिक रास्ता तलाश कर सके। क्योंकि यह अतीत, वर्तमान, भविष्य तीनों का चित्रण करता है। 'रजिया सुल्तान', 'जोधा अकबर', 'अनारकली', 'भाग मिल्खा भाग', 'मैरी कॉम' जैसी फिल्में हमें अपने अतीत, विस्मृत वर्तमान से जोड़ती हैं 'मेरा नाम जोकर' जैसी फिल्मों के कथानक और संगीत सरहद पार भी लोगों को गुनगुनाने पर मजबूर करते हैं, तो कथानक जिंदगी का शाश्वत सामरस्य पाठ पढ़ाता है। 'जागृति' जैसी फिल्मों के गाने-'हम लाए हैं तूफान से कश्ती निकाल के' गाने की गूंज समाज में युवकों को जगाती है तो दूसरी तरफ सिकंदर-ए-आजम का गाना- "जहाँ डाल-डाल पर सोने की चिड़िया करती है बसेरा, वह भारत देश है मेरा", हममें एक आत्मगौरव, राष्ट्रगौरव के भाव भरता है। 'प्रेम' जो जीवन का शाश्वत सत्य है उसे भी 'रजतपट' पर सौंदर्यात्मक भावभूमि के साथ उकेरा गया प्रेम के उदात्त रूप से लेकर समाज की संकुचित अवधारणा के साथ। 'लैला-मजनूँ', 'हीर-रांझा', 'रोमियो जूलियट', 'शीरी फरहाद', 'गदर', 'अनारकली' आदि फिल्में भावात्मक, रागात्मक रोमांस की एक अलग ही भावभूमि गढ़ती हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम देखें तो पाते हैं कि दृश्य-श्रव्य माध्यम होने की वजह से यह हमारे मन-मस्तिष्क पर विशेष प्रभाव डालता है। सिनेमा जीवन के संपूर्ण सत्य, कल्पना, स्वप्निल संसार और वास्तविक, प्रायोजित सौंदर्य, प्रेम को चित्रित करता है परंतु विडंबना यह है कि आज का समाज, व्यक्ति नकारात्मकता, गलत भाव, विचार से जल्दी प्रभावित होता है। वह नायकत्व से ज्यादा खलनायकवादी प्रवृत्ति का शिकार हो रहा है। कृत्रिम, अस्थायी, वासनाजन्य प्रेम हृदय में पलने लगे हैं। 'स्वतंत्रता' स्वच्छंदता बनकर आजादी को परिभाषित करने लगे हैं। इन सबके मूल में सिनेमा का पूर्ण विशुद्ध व्यावसायिक होना है। आज संगीत भी फूहड़, हास्यास्पद, कानफोड़ होने लगे हैं जो हृदय को छूते नहीं है। फिल्म निर्माण, वितरण में केवल फायदा नुकसान की लकीरें खींची जा रही हैं। आज यह केवल एक उद्‌योग है, जहाँ बाजार की खिड़कियाँ हैं न कि समाज, कला संस्कृति की मलयानिल समीर।

आवश्यकता आज इस बात की है कि फिल्म निर्माण, वितरण सेंसर बोर्ड इन सबके लिए एक 'आईना' बनाया जाए जहाँ सबकुछ साफ-साफ दिखाई दे। यह 'कला' हो उत्पाद नही, निर्माण हो समाज का आंशिक नाश नहीं हो, गली, नुक्कड़, चौराहे और चौपाल हो। मुन्नी बदनाम न हो, नहीं तंदूरी मुर्गी हो। फिल्म जनता की आवाज, सामाजिक परिवेश, कला की साज, यथार्थ का अंकन, मोहभंग, त्रासदी, विषमता का चरित्रांकन कर समाज, व्यक्ति, संस्कृति, सभ्यता को स्वस्थ एवं विचारवान बनाए ताकि भविष्य में भी यह अंत:संबंध एक नया अध्याय लिखे।

– प्रवक्ता, सेंट एन्स कॉलेज फॉर वूमेन, मेंहदीपटनम

❑❑❑

हिंदी सिनेमा और सामाजिक सरोकार

डॉ. अलका आनंद

भारतीय सिनेमा के आविर्भाव का श्रेय स्वर्गीय दादा साहेब फाल्के को जाता है जिन्होंने 3 मई 1913 को अपने द्वारा निर्मित और निर्देशित फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' का सार्वजनिक प्रदर्शन किया। यह फिल्म लोकप्रिय पौराणिक कथा पर आधारित थी। इस फिल्म का निर्माण मूल फिल्म के रूप में किया गया। इस फिल्म के पश्चात् ही भारत में फिल्म निर्माण की विधिवत् शुरुआत हुई। ठीक इसके 18 वर्षों के पश्चात अर्देशिर ईरानी की पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' सन् 1931 में पर्दे पर आई। इसी के साथ तमिल की पहली बोलती फिल्म 'कालीदास' और तेलुगु की पहली बोलती फिल्म 'भक्त प्रह्लाद' का प्रदर्शन किया गया। इसके साथ ही भारत में कई भाषाओं में सवाक फिल्मों के निर्माण की प्रक्रिया तेज हो गई। परंतु यह ध्यान देने योग्य बात है कि सन् 1913 से लेकर 1933 तक सामाजिक सरोकारों से जुड़े विषयों पर बनने वाली फिल्मों की संख्या काफी कम थी। लेकिन इसी दौर में बाबूराव पेंटर एक ऐसे फिल्मकार के रूप में उभरे जिन्होंने सिनेमा को धार्मिक एवं पौराणिक धारा से मोड़कर सामाजिक सरोकारों से जोड़ा और एक नई परंपरा की शुरुआत 'सावकारी' नामक फिल्म से की जो किसानों के ऋण समस्या पर आधारित थी। सन् 1940 तक आते-आते भारतीय फिल्मों ने ऊँचाईयों को छूना शुरू कर दिया। इसमें विषय के रूप में समाज की संवेदनाओं को प्रमुखता प्रदान की गई। इसी युग की देन के रूप में वी. शांताराम सरीखे कई फिल्मकारों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने सिनेमा को एक नई ऊँचाई प्रदान की।

भारतीय सिनेमा के 100 वर्षों के इतिहास में हिंदी फिल्मों ने न केवल भारत की सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक चेतना को जगाने का कार्य किया अपितु विश्व फलक पर हिंदी सिनेमा को स्थापित करने का भी कार्य किया।

भारतीय सिनेमा की सबसे बड़ी विशेषता जीवन में व्याप्त हर तरह की संवेदनाओं को दर्शाना रहा है। भारतीय सिनेमा और उसके सामाजिक सरोकारों पर चर्चा करते समय यह भी ध्यान देने की जरूरत है कि आखिर भारतीय सिनेमा ने जहाँ से प्रभाव ग्रहण किया उसके बीज तत्व कहाँ थे?

19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जिस लोकप्रिय रंगमंच की शुरुआत पारसी थियेटर के रूप में हुई उसी परंपरा को भारतीय सिनेमा ने भी आरंभ में अपनाया। जिसमें भारतीय लोक परंपरा जहाँ एक ओर अपने साकार स्वरूप में मृत्यु गीत व संगीत की उपस्थिति थी वहीं दूसरी ओर पारसी थियेटर ने बोलचाल की एक ऐसी भाषिक परंपरा स्थापित की जो हिंदी और उर्दू की संकीर्णताओं से परे थी जिसे बाद में हिंदुस्तानी के नाम से जाना गया। इस 'हिंदुस्तानी' जुबान ने ही हिंदी सिनेमा को गैर-हिंदी भाषी दर्शकों के बीच लोकप्रिय बनाया[1]। जहाँ तक विषय के रूप में पौराणिक, धार्मिक और ऐतिहासिक विषयों का चुनाव का आरोप आजादी के पूर्व के हिंदी सिनेमाओं के ऊपर लगता रहा है इसकी मुख्य वजह यह थी कि वे ज्यादा से ज्यादा लोगों तक अपनी फिल्मों को पहुँचाना चाहते थे। उनका मानना था कि जन-जन के बीच धार्मिक, पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथाएँ प्रचलित हैं अतः उनके बीच यह

विषय स्वीकार्य होगा और वे सिनेमा-घरों तक चलकर आना पसंद करेंगे। यह बहुत हद तक सच भी साबित हुआ।

आजादी से पहले की फिल्मों के मुख्य विषय स्वतंत्रता संग्राम, अंग्रेजी राज्य से मुक्ति के प्रयास और देशभक्त वीरों के बलिदान की कथाओं पर आधारित था। हिंदी फिल्मों का प्रथम दौर ऐतिहासिक और धार्मिक फिल्मों का था। इस दौर में निर्माता निर्देशक और अभिनेता सोहराब मोदी ने सिकंदर और झांसी की रानी जैसी फिल्में बनाई। इन फिल्मों ने लोगों के लिए देशप्रेम की भावना को उद्दीप्त करने का माहौल बनाया। मानवीय नवजागरण से प्रेरित एवं प्रभावित होकर फिल्मकारों की दृष्टि भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों और कुप्रथाओं की ओर गई, परिणामतः सुधारवादी फिल्मों का आविर्भाव भी आजादी से पहले हो चला। समाज की सच्ची तस्वीर को सिनेमाघरों में दिखाया जाने लगा।

पचास का दशक हिंदी सिनेमा का स्वर्ण युग था। इसका सबसे बड़ा कारण फिल्मकारों की सामाजिक प्रतिबद्धता थी। उन दिनों सामाजिक समस्या के प्रति एक ईमानदार संवेदनशीलता और उन समस्याओं से जुड़े समाधान की तलाश एवं उसे दर्शकदीर्घा तक पहुँचाने की अदम्य लालसा फिल्मकारों में देखने को मिली। जिसका मुख्य उद्देश्य मात्र व्यावसायीकरण न होकर समाज में जागरूकता फैलाना था। जिसके द्वारा रूढ़ियों से मुक्ति के साथ-साथ स्वस्थ मनोरंजन, संदेशात्मकता एवं विनोदात्मकता को प्रश्रय देना था। ऐसे फिल्मकारों में सोहराब मोदी, पृथ्वीराज कपूर, व्ही. शांताराम, ताराचंद बड़जात्या, गुरुदत्त, विमलराय, महबूब खान इत्यादि आते थे। उसी दौर से सत्यजित रे और चेतन आनंद भी बंगाल में भारतीय समाज के वंचित जनसमूह के जीवन और उनकी आकांक्षाओं पर फिल्म निर्मित कर रहे थे।

व्ही. शांताराम हिंदी सिनेमा को सामाजिक सरोकार से जोड़ने वाले एक सशक्त फिल्मकार के रूप में उभरे। जिन्होंने भारतीय सिनेमा को एक सार्थक दिशा प्रदान की। सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध नए युग का आह्वान करने वाली फिल्मों में 'दुनिया न माने' (1937) उल्लेखनीय है। इसमें बेमेल विवाह को आधार बनाया गया। यहाँ स्त्रीत्व की गरिमा को बेहद खूबसूरत अंदाज मे पेश किया गया। व्ही. शांताराम की एक अन्य फिल्म 'दो आँखें बारह हाथ (1957)' भी एक संदेशात्मक फिल्म है। जिसमें वे सजायाफ्ता मुजरिमों के चरित्र में बदलाव लाने के लिए उन्हें बंद कारागारों से बाहर निकाल कर मुक्त ग्रामीण परिवेश में खेतीबाड़ी करवाकर उसमें मानवीय मूल्यों के प्रति जागरूकता पैदा करते हैं।

19वीं सदी के आखिरी दशकों में कई फिल्मकारों ने पौराणिक और ऐतिहासिक कहानियों के माध्यम से भारतीय जनता की सामाजिक एवं धार्मिक आकांक्षाओं के साथ-साथ राजनैतिक संदर्भों को जोड़कर अभिव्यक्ति प्रदान की। इसमें उन्होंने भारतीय इतिहास का वह गरिमामय चित्र पेश करने की कोशिश की जिसके केंद्र में वे नायक थे जिन्होंने राष्ट्रहित को सर्वोपरि माना और आक्रांताओं को लोहे के चने चबवाए। जिसका श्रेय राणा प्रताप और शिवाजी जैसे लोगों को जाता है उस समय जन नायकों के साथ-साथ वेद पुराणों में उद्धृत एवं संतों के ऊपर भी फिल्म का निर्माण किया गया। धर्म की महत्ता पर बल दिया गया और उसके माध्यम से राजनैतिक संदेश का प्रसार भी किया गया। परंतु फिल्म निर्माण से जुड़े हुए लोग व्यवसायी थे, इसलिए उन्होंने फिल्म निर्माण को भी व्यवसाय के रूप में ही देखना शुरू कर दिया।

फिर भी कुछ ऐसे निर्देशक अवश्य थे जिन्होंने व्यवसायीकरण की अंधी-दौड़ में स्वयं को शामिल नहीं किया। ऐसे ही फिल्म के उदाहरण के रूप में प्रभात फिल्मस के द्वारा निर्मित 'उदयकाल' नामक फिल्म है जो शिवाजी के जीवन पर आधारित थी। उस समय के साहित्यकारों ने भी इस सत्य को पहचाना कि साहित्य की अनेक विधाओं के साथ-साथ सिनेमा के रूप में साहित्यिक कथाओं का फिल्मांकन भी महत्वपूर्ण होगा। यही वजह रही कि प्रेमचंद सरीखे रचनाकारों ने भी सिनेमा के लिए पटकथा लिखी। लेकिन प्रेमचंद हृदय और वचन दोनों से सच्चे साहित्यकार थे। अतः उन्हें सिनेमाई जगत का व्यवसायीकरण रास नहीं आया। उन्होंने अपने कुछ मित्रों के पत्रों में यह चर्चा की कि 'सिनेमा साहित्यिक आदमी के लिए ठीक जगह नहीं है।"[2] प्रेमचंद रचित 'मजदूर' फिल्म कुछ हद तक मजदूरों के जीवन एवं कठिनाईयों पर प्रकाश डालने में कामयाब रही।

उस दौर के फिल्मकारों ने नए-नए कथानकों पर आधारित फिल्मों का निर्माण किया। उस दौर में कई व्यक्तियों को प्रमुखता मिली तो उनसे जुड़े कई सामाजिक मुद्दे भी उभरकर फिल्मकारों के समक्ष आए। अंबेडकर एवं गांधी सरीखे नेताओं की सोच की वजह से जाति, धर्म, लिंग, नारी, दलितों की सामाजिक स्थिति इत्यादि से उत्पन्न धार्मिक स्थितियों ने जहाँ एक ओर साहित्यकारों को प्रेरित किया वहीं दूसरी ओर फिल्मकारों ने भी अपनी दिलचस्पी दिखलाते हुए साहित्यकारों द्वारा रची गई रचना के आधार पर 'अछूत', 'राजरानी', 'मीरा', 'चंडीगढ' इत्यादि फिल्मों का निर्माण किया। यह सभी कहानियाँ प्रतीकात्मक स्वरूप को ग्रहण किए हुए थी जो उस समय की राजनैतिक और सामाजिक मांग थी। अग्रिम पंक्ति के नेताओं ने भी इस संदेश का प्रसार करने की कोशिश की कि अभी लिंग, जाति-भेद इत्यादि से ऊपर उठकर राष्ट्रहित में सोचने की जरूरत है। स्त्रियों की भागीदारी जब राजनैतिक रूप से जरूरी हो गई तो उन्होंने राजरानी मीरा जैसे प्रेरक पात्रों का सहारा लिया। अत: मीरा पर कई भारतीय भाषाओं में फिल्में बनाई गईं। इस दौर में नारी समस्या पर आधारित कई फिल्में बनीं जिसमें प्रमुख नाम है- 'अभागिन', 'सेवासदन', 'औरत' इत्यादि। इस दौर में नारी के अलावा अछूतों एवं किसानों की समस्या भी प्रमुख रही। अछूत कन्या नामक फिल्म में एक उच्च जाति के लड़के एवं एक अछूत लड़की के प्रेम कहानी को दर्शाया गया है। इसी प्रकार विद्यापति, संत तुकाराम, संत ज्ञानेश्वर, मीरा, चंडीदास, संत पोतना आदि पर बनी फिल्मों का मकसद धर्म का प्रचार करना नहीं था बल्कि धार्मिक कट्टरता और रूढ़िवाद के विरुद्ध धार्मिक सहिष्णुता, जाति और धर्म की संकीर्णता से ऊपर उठकर एकता भाईचारे की भावना पर बल देना था।

समाज में व्याप्त कुसंगतियों को केंद्र में रखकर भी कई फिल्मकारों ने अनेक फिल्में बनाईं जो विधवा विवाह, बाल विवाह, वेश्या-वृत्ति, किसान, मजदूर, बेरोजगार आदि के जीवन पर केंद्रित थीं। साहित्य की कई रचनाओं का फिल्मांतरण किया गया। बंकिमचंद्र, रवींद्रनाथ के साथ-साथ प्रेमचंद, जैनेंद्र आदि की रचनाओं पर भी फिल्म बननी शुरू हो गई। इस दौर में नारी के अलावा अछूतों एवं किसानों की समस्या भी प्रमुख रही। मराठी, बांग्ला, हिंदी, उर्दू आदि कई भाषाओं में फिल्में बनने लगीं। 'देवदास' (1935), 'गृहदाह' (1936), 'अनाथ आश्रम' (1937), 'हमराही' (1944) आदि फिल्में उसी कड़ी की देन हैं। इसी दौड़ में कई ऐसी फिल्मों का निर्माण हुआ जो बेरोजगारी और रोटी की समस्या पर आधारित थी। मोहन भवनानी की 'मजदूर' (1934) और 'जागरण' (1936) इसी प्रकार की फिल्म थी। महबूब खान ने 'रोटी' (1942) जैसी फिल्मों का निर्माण किया। जो सामाजिक सरोकार को दर्शाती थी। ठीक इसके समानांतर राष्ट्रवादी प्रभाव को व्यक्त करने वाली फिल्में 'इंकलाब', 'मुक्ती', 'धरती माता', 'पुकार', 'त्यागभूमि', 'वंदे मातरम्', 'आजाद धरती के लाल', 'नीचा नगर' इत्यादि फिल्में बन रही थीं। किसानों की जमीन को लेकर बनने वाली प्रमुख फिल्म 'धरती माता' (1938) थी। जिसमें गाँव के लोगों को मुखिया के शोषण से मुक्ति दिलाने का प्रयत्न दिखाया गया है। इसी प्रकार की एक प्रख्यात फिल्म 'दो बीघा जमीन' (1953) को बिमल राय ने निर्मित किया जिसमें ग्रामीण एवं कृषकों की जमीन को हड़पने की कोशिश दिखाई गई। इस समय कुछ ऐसी फिल्मों का भी निर्माण चल रहा था जिसमें किसानों को ऋण समस्या से मुक्त करवाने हेतु सामूहिक खेती की प्रधानता को स्वीकारा गया। वह फिल्म थी 'धरती के लाल'। जिसे देखने के पश्चात् बरबस ही प्रेमचंद की एक पंक्ति ध्यान हो आती है। प्रेमचंद साहित्य के उद्देश्य से लिखते हैं- "जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है, चाहे वह व्यक्ति या समूह, उसकी हिमायत या वकालत करना फर्ज है।"[3]

प्रेमचंद ने जिस फर्ज अदायगी की बात की थी वह 'धूल का फूल', 'दो बीघा जमीन', 'बूट पॉलिश', 'गाईड', 'जिस देश में गंगा बहती है', 'बंदिनी', 'प्यासा', 'हम दोनों', 'साधना' जैसी फिल्मों में सामाजिक चेतना के रूप में मुखरित हुई। गुरुदत्त की फिल्म 'अपना हाथ जगन्नाथ' में समाज की निष्ठुरता और श्रम की महत्ता को व्यंजित किया गया है।

निश्चय ही हिंदी सिनेमा में सामाजिक सरोकारों की अभिव्यक्ति द्वारा नवजागरण की दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया जा रहा था। यही वजह है कि सन् 1950-60 का दौर भारतीय सिनेमा के लिए स्वर्णयुग का हिंदी

सिनेमा में सामाजिक सुधार और सामाजिक चेतना को आधुनिक संदर्भों में व्याख्यायित करने वाले बी. आर. चोपड़ा की फिल्म 'एक ही रास्ता' (1958) को नहीं भूला जा सकता जो उस समय की ज्वलंत समस्या विधवा-विवाह पर आधारित थी। इस फिल्म में एक नए दृष्टिकोण का आरंभ देखने को मिलता है। जहाँ एक विधवा की शादी उसका ध्यान रखने वाले किसी अन्य पुरुष से करवा दी जाती है। यहाँ एक स्वस्थ सुधारवादी दृष्टिकोण का आरंभ देखने को मिलता है। इन्हीं के निर्देशन में 'धूल का फूल' नामक फिल्म भी आई। इसमें अविवाहित परंतु मातृत्व की समस्या से जूझने वाली स्त्रियों के जीवन के बिखराव और उसकी परिणति को दर्शाया गया हैं यह एक बहुत ही संवेदनशील विषय रहा है, परंतु बी. आर. चोपड़ा ने फिल्म के माध्यम से समाज के सम्मुख इसे प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

वर्ग वैषम्य को मिटाने वाली फिल्म राजकपूर द्वारा निर्मित 'प्रेमरोग' रही। इसमें आभिजात्य परिवार की विधवा स्त्री का विवाह किसी अन्य वर्ग के सामान्य युवक से करवा दिया जाता है। इस फिल्म में एक ओर वर्ग संघर्ष है तो दूसरी ओर आभिजात्य परिवारों में प्रच्छन्न रूप से प्रचलित स्त्री-शोषण का घिनौना रूप भी अनावृत हुआ है। प्रकाश झा कृत 'दामुल' (1985), 'मृत्युदंड' इत्यादि फिल्में भी समाज को झकझोर देने का कार्य करती हैं।

फिल्म जगत में एक दौर ऐसा भी आया जब डाकुओं पर आधारित फिल्में बनने लगी 'मुझे जीने दो', 'गंगा-जमुना', 'बैंडिट क्वीन' इत्यादि फिल्में समाज के सच को भी उजागर कर रही थीं।

स्त्री पुरुष के संबंधों की व्याख्या करने वाली फिल्मों में 'अभिमान', 'नमक हराम', 'चुपके-चुपके', 'आनंद', 'बावर्ची', 'मैं तुलसी तेरे आंगन की', 'दुल्हन वही जो पिया मन भाए' इत्यादि फिल्में बनीं जो पूरी तरह भारतीय संस्कृति के अनुकूल थी।

मुख्यधारा फिल्मों के समानांतर कला फिल्मों ने भी अस्सी के दशक में अपनी ठोस जगह बनाई। जिसमें 'अर्थ', 'तमस', 'ट्रेन टू पाकिस्तान', 'अम्मू' इत्यादि फिल्में हैं जो समस्याओं के प्रति सचेत और सोचने को विवश करती हैं।

नब्बे के बाद के दशकों में आतंकवाद और सांप्रदायिक वैमनस्य के दुष्परिणाम को लेकर बनने वाली फिल्मों में 'बांबे', 'रोजा', 'ब्लैक फ्राइडे', 'हाइज़ैक', 'माचिस', 'कर्मा', 'मिशन कश्मीर' इत्यादि हैं। जिन्होने न केवल अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की बल्कि वतन की रक्षा हेतु मर मिटने वाले सेनानियों को भी सच्ची श्रद्धांजलि अर्पित की। जो भारतीय सिनेमा के सामाजिक सरोकारों को दर्शाता है। यही वजह है कि आज सिनेमा को सामाजिक सरोकारों का प्रवक्ता भी माना जाता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र, पृष्ठ 61
2. कलम का सिपाही, पृष्ठ 580
3. साहित्य का उद्देश्य, पृष्ठ 13

– एस.पी.एम. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

❑❑❑

गुलज़ार के गीतों में जिंदगी के रंग (भाषिक संदर्भ)

डॉ. करन सिंह ऊटवाल

कोस कोस पर बदले पानी
चार कोस पर बानी

यह सबने सुना होगा और यह बात लागू भी होती है।

भारतवर्ष में पहले वैदिक भाषा थी, फिर संस्कृत, फिर प्राकृत, फिर पाली तत्पश्चात अपभ्रंश और अब खड़ी बोली आदि।

ऐसे ही फिल्मी गीतों की भाषा में भी परिवर्तन हुआ है। जो स्वाभाविक है। जैसे नाटकों में पात्रानुकूल भाषा होती है ऐसे ही गीतों की भाषा में भी पात्र और परिवेश के अनुसार भाषा में परिवर्तन आता है।

भारत देश एक सांस्कृतिक देश है। यहाँ की संस्कृति प्रत्येक क्षेत्र में समृद्ध है इस संस्कृति को अभिव्यक्ति देने वाले गीत हैं। यहाँ जन्म से लेकर मृत्यु तक शायद ही कोई ऐसा संस्कार हो जिसमें गीत शामिल ना हो, फिर चाहे वह लोकगीत हो या शास्त्रीय संगीत पर आधारित गीत हो।

आज फिल्मी गीतों ने सभी प्रकार के गीतों को अपने में समेट लिया है। चाहे वह लोकगीत हो, शास्त्रीय संगीत पर आधारित गीत हो, कव्वाली हो, भजन हो या किसी और प्रकार के गीत हो। सभी गीत फिल्मों में मिल जाएँगे।

अगर निर्देशक के रूप में गुलजार की जिंदगी का सफर देखें तो 'मेरे अपने' से उनका 'परिचय' हुआ उनकी 'कोशिश' से 'अचानक' एक ऐसी 'आंधी' आई जो अपने साथ ढेर सारी 'खुशबू' लाई जिससे 'मौसम' खुशनुमा हो गया जैसे डूबते को 'किनारा' मिल गया। जहाँ बैठकर 'किताब' पढ़ने का मजा आ गया। 'मीरा' के भजन का आनंद आ गया मेवा में 'अंगूर' और 'नमकीन' का भी स्वाद चखा। एक तरह से लोगों से लोगों को खुश करने की 'इजाजत' ली उनके अनुसार 'लिबास' बदला 'लेकिन' आगे बढ़ते रहे। लोगों को आकर्षित करते रहे 'माचिस' के माध्यम से आतंकवाद पर रोशनी डाली और 'हु तू तू' से अपनी जिंदगी में जीतते चले गए।

उन्हें 7 से अधिक राष्ट्रीय पुरस्कार मिल चुके हैं

1. सर्वश्रेष्ठ पटकथा : कोशिश (1972)
2. सर्वश्रेष्ठ निर्देशन : मौसम (1976)
3. सर्वश्रेष्ठ गीत : मेरा कुछ सामान- इजाजत (1988)
4. सर्वश्रेष्ठ गीत : यारा सिली सिली- लेकिन (1991)
5 सर्वश्रेष्ठ फिल्म : माचिस (1996)
6. सर्वश्रेष्ठ वृत्तचित्र पंडित भीमसेन जोशी और उस्ताद अमजद अली खान (1990)

गुलजार साहब को शायद ही कोई ऐसा सम्मान है जो ना मिला हो राष्ट्रीय पुरस्कार, फिल्मफेयर पुरस्कार, ऑस्कर पुरस्कार, लाइफटाइम अचीवमेंट पुरस्कार, दादा साहेब फाल्के पुरस्कार आदि सभी सम्मान गुलज़ार साहब को मिल चुके हैं।

गुलज़ार साहब अपने आप में इंद्रधनुष सरीखे हैं। वे साहित्यकार भी हैं, निर्देशक भी हैं, संवाद लेखक भी हैं, फिल्मकार और गीतकार भी हैं।

आज हम विशेषकर उनके गीतों की चर्चा करेंगे गुलजार दरअसल एक बुलंदी का नाम है। लोगों के दिलों में उनके लिए अलग ही सम्मान है। गुलजार लोगों की नस-नस से वाकिफ हैं उनको पता है कि लोगों को कब क्या चाहिए। उनके गीतों में एक से एक गंभीर विषयों के साथ साथ रोमांस और हल्के-फुल्के विषयों की विविधता है

गुलजार ने जब पहला गीत लिखा था। मेरा गोरा अंग लई ले मोहे श्याम रंग देइ दे... इस गीत में संदर्भ के अनुसार ग्रामीण भाषा की खुशबू है।

हम समझते हैं कि आज गीतों में अंग्रेजी के शब्दों का जोर है। हिंदी का स्थान इंग्लिश ने ले लिया है। कुछ हद तक यह सही भी है। लेकिन यह भाषा का परिवर्तन गीतों में नहीं बल्कि समाज में हो रहा है और उसी कारण से गीतों में भी भाषा बदल रही है। रही बात अंग्रेजी शब्दों की, हिंदी गीतों में यह बहुत पहले से हो रहा है।

कई बड़े-बड़े गीतकारों ने भी अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग किया है। जिसमें क़मर जलालाबादी, हरिंद्रनाथ चट्टोपाध्याय, आनंद बक्षी आदि हैं, उनके गीत हैं जैसे:

1. हावड़ा ब्रिज(1950) गीतकार : क़मर जलालाबादी, संगीतकार: ओ.पी नय्यर, गायिका: गीता दत्त।

मेरा नाम चिन चिन चू चिन चिन चू बाबा चिन चिन चू रात चांदनी मैं और तू हैलो मिस्टर हाउ डू यू डू मेरा नाम चिन चिन चू...

2. दिल्ली का ठग (1958) गीतकार: मजरुह सुल्तानपुरी, संगीतकार: रवि, गायक और गायिका: किशोर कुमार तथा आशा भोसले

सी ए टी कैट, कैट माने बिल्ली आर ए टी रैट, रैट माने चूहा अरे दिल है तेरे पंजे में तो क्या हुआ

एम ए डी मैड, मैड माने पागल बी ओ वाय बॉय, बॉय माने लड़का अरे मतलब इसका तुम कहो तो क्या हुआ ... 2

3. जूली (1975) गीतकार : हरिंद्रनाथ चट्टोपाध्याय, संगीतकार: राजेश रौशन

गायिका: प्रीति सागर ये गीत तो सारा ही अंग्रेजी में था।

माई हार्ट इज़ बीटिंग

कीप्स ऑन रिपीटिंग

आइ एम वेटिंग फॉर यू.....

4. अमर अकबर एंथोनी (1977) : गीतकार: आनंद: बक्षी, संगीतकार: लक्ष्मीकांत प्यारेलाल

गायक: अमिताभ बच्चन व किशोर कुमार

माइ नेम इज़ एंथॉनी गोंसालविस मैं दुनिया में अकेला हूँ..

5. एक दूजे के लिए (1981) : गीतकार: आनंद: बक्षी, संगीतकार: लक्ष्मीकांत प्यारेलाल, गायक और गायिका: लता और एस. पी. बालसुब्रह्मण्यम

हम बने तुम बने एक दूजे के लिए ...2

उसको कसम लगे जो बिछड़ के... हम बने..

हे आइ डोंट नो ह्वाट यू से आइ डोंट नो ह्वाट यू से

पहले फिल्मी गीतों में अंग्रेजी शब्द तो थे लेकिन धुन उसकी हमारी होती थी। और वे अंग्रेजी शब्द हिंदीमय हो जाते थे। लेकिन आज हमारे हिंदी बोल भी अंग्रेजी धुन में अंग्रेजीमय हो जाते हैं। जैसे रैप गीतों में होता है।

रैप क्या है?

यह एक प्रकार का तीव्र लययुक्त संगीत है जिसमें गायक गाने के स्थान पर तीव्र गति से बोलता है। भारत का पहला रैप 1968 में आई फिल्म आशीर्वाद से है ऐसा माना जाता है जिसे अशोक कुमार ने गाया था रेलगाड़ी, रेलगाड़ी

रेलगाड़ी, रेलगाड़ी

छुक छुक छुक छुक

छुक छुक छुक छुक

बीच वाले स्टेशन बोले

रुक रुक रुक रुक

रुक रुक रुक रुक

इसे लिखा था हरिंद्रनाथ चट्टोपाध्याय और संगीत वसंत देसाई ने दिया था।

आज ऐसे ही रैप गीतों को लेकर कहा जाता है कि गीत अंग्रेजीमय हो गये हैं जैसे

1. लूंगी डांस... चेन्नई एक्सप्रेस (2013)

गीतकार, संगीतकार व गायक: यो यो हनी सिंह

2. चार बज गए लेकिन पार्टी अभी बाकी है, फालतू (2011)

गीतकार: समीर, संगीतकार: जिगर सचिन, गायिका: हार्ड कौर

3. अपना टाइम आएगा, गली बॉय (2019)

गीतकार: डिवैन और अंकुर तिवारी, संगीतकार: कर्श काले, गायक: रणवीर सिंह

4. शंकर महादेवन का ब्रेथलेस

5. तुम ही हो बंधु सखा तुम्ही, कॉकटेल (2012)

गीतकार: इरशाद कामिल, संगीतकार: प्रीतम चक्रबर्ती

इन गानों में बोल का नहीं पाश्चात्य धुनों का प्रभाव है कि हमें हिंदी गीत भी समझ नहीं आते वरना आज भी बिल्कुल हिंदी में गीत भी देखे जा सकते हैं। जैसे :-

1. ये मोह मोह के धागे तेरी उंगलियों से जा उलझे... दम लगा के हाइशा (2015),

गीतकार: वरूण ग्रोवर, संगीतकार: अन्नू मलिक

गायक और गायिका पापोन व मोनाली ठाकुर

2. तेरे नाम हमने किया है जीवन अपना सारा सनम... तेरे नाम (2003)

गीतकार: समीर, संगीतकार: हिमेश रेशमिया

गायक और गायिका: उदित नारायण तथा अल्का याग्निक

रोमांटिक गीत

1. एक सूरज निकला था, कुछ पारा पिघला था, जब दिल से आह निकली थी दिल से - दिल से

2. आजा माहिया- फिजा

3. आपकी आँखों में कुछ महके हुए से राज हैं- घर

4. बोल ना हल्के हल्के -झूम बराबर झूम

5. हमको मालूम है इश्क मासूम है -जानेमन

6. हमसफर मेरे हमसफर पंख तुम -पूर्णिमा

लोक धुनों पर आधारित गीत

1. केसरिया बालमा ओ जी पधारो म्हारे देस- लेकिन

2. चप्पा चप्पा चरखा चले- माचिस

दार्शनिक गीत :

1. आने वाला पल जाने वाला है -गोलमाल

2. एक अकेला इस शहर में रात में और दोपहर में आबो दाना ढूंढता है- घरौंदा

3. ऐ जिंदगी गले लगा ले -सदमा

4. तुझसे नाराज नहीं जिंदगी हैरान हूँ मैं -मासूम

गजल

1. जब भी ये दिल उदास होता है -सीमा

प्रार्थना गीत :

1. हमको मन की शक्ति देना मन विजय करें -गुड्डी

देश भक्ति गीत :

1. ए मेरे प्यारे वतन ऐ मेरे बिछड़े चमन -काबुलीवाला

2. ऐ वतन वतन मेरे आबाद रहे तू -राज़ी

मस्ती भरे गीत :

1. बीड़ी जलाई ले जिगर से पिया- ओमकारा

2. जुबां पर लागा नमक इश्क का -ओमकारा

3. छैया छैया -दिल से

4. बरसो रे मेघा मेघा- गुरु

5. कजरारे कजरारे -बंटी और बबली

बच्चों के गीत :

गुलजार ने बच्चों के लिए भी गीत लिखे हैं। जो बच्चे कभी भूल नहीं पाते।

1. जंगल जंगल बात चली है पता चला है चड्डी पहन के फूल खिला है -जंगल बुक धारावाहिक

2. लकड़ी की काठी, काठी पे घोड़ा घोड़े की दुम पे जो मारा हथौड़ा -मासूम

गुलजार के गीतों के बिंब बिल्कुल नए होते हैं। उनके गीतों में दिन कभी खाली बर्तन हो जाता है, तो कभी खाली सड़कों पर धुआँ आँसू बन जाता है। कभी दिल धड़कने की बजाय असमिया में हूम हूम करता है, कहीं सिली-सिली बिरहा की रात जलती है, कहीं हँसी सुन सुनकर फसल पकने लगती है। कभी पत्ते दिल बन जाते हैं।

इस तरह उनकी कल्पना में नए-नए बिंब उभरते हैं। वे अभिधा से अधिक लक्षणा और व्यंजना द्वारा

अपने गीतों को अभियुक्ति प्रदान करते हैं। उनके गीतों की भाषा पात्रों के अनुकूल होती है। इसीलिए कहीं

मोरा गोरा अंग लेइ ले, तो कहीं
बीड़ी जलाई ले तो कहीं
छैया छैया है।

कहीं आतंकवाद की माचिस को दर्शाते हैं कि इससे कहीं आग भड़क ना जाए, तो कहीं हल्के से बीड़ी को भी जलाते हैं। वे आज के युवा वर्ग की ख्वाहिश से भी वाकिफ हैं। इसीलिए कहीं कजरारे नैनो की बात करते हैं, तो कहीं नमक इश्क का चखाते हैं।

उन्होंने गुड्डी में जो गीत लिखा "हमको मन की शक्ति देना" आज अनेक स्कूलों में प्रार्थना गीत के रूप में गाया जाता है। जिंदगी को देखने का गुलजार का अपना दिलकश अंदाज है।

उनके गीत लोगों को सोचने पर मजबूर करते हैं। उनके गीत अधिकतर लोगों की कहानी होते हैं। उनके गीतों में उनकी संवेदनशीलता प्रकट होती है। उनकी सोच की गहराई का पता चलता है जैसे :-

1. तुम्हें जिंदगी के उजाले मुबारक- पूर्णिमा
2. वो शाम कुछ अजीब थी- खामोशी
3. हमने देखी है इन आंखों की महकती खुशबू -खामोशी
4. तुझसे नाराज नहीं जिंदगी हैरान हूँ मैं -मासूम,

और भी बहुत से गीत हैं जिनमें हमें जिंदगी के विविध पहलुओं के दर्शन होते हैं।

गीत के हिट होने का श्रेय वे गीत की धुन को देते हैं यह उनका बड़प्पन है वे कहते हैं कि गीत की धुन घोड़े की तरह है जिस पर गीत के बोल लगाम का काम करते हैं और गीत का दृश्यांकन सवार का काम करता है। इन तीनों के मिले-जुले असर का जादू लोकप्रियता की कुंजी है। फिर भी कोई गीतकार या संगीतकार यह नहीं बता सकता कि उसका गीत या उसकी धुन लोकप्रिय होगी या नहीं। अगर यह बता पाना संभव होता तो गीतकार तो पीर बन जाते और सबका भविष्य बताने लगते।

वैसे तो गुलजार के बहुत से गीत सर्वश्रेष्ठ हैं। लेकिन जो पुरस्कार देने वालों को सर्वश्रेष्ठ लगे और फिल्म फेयर पुरस्कार प्रदान किए गए वे हैं -

1. दो दीवाने शहर में -घरौंदा (1977)
2. आने वाला पल जाने वाला है- गोलमाल (1979)
3. हजार राहें मुड़ के देखी- थोड़ी सी बेवफाई (1980)
4. तुझसे नाराज नहीं जिंदगी हैरान हूँ मैं- मासूम (1984)
5. मेरा कुछ सामान तुम्हारे पास पड़ा है -इजाजत (1988)
6. छैया छैया -दिल से (1988)
7. यारा सिली सिली बिरहा की रात का जलना- लेकिन (1991)
8. साथिया -साथिया (2002)

इन गीतों में

1. मेरा कुछ सामान तुम्हारे पास पड़ा है -इजाजत (1988) तथा
2. यारा सिली सिली बिरहा की रात का जलना- लेकिन (1991)

इन दो गीतों को फिल्म फेयर के साथ-साथ राष्ट्रीय पुरस्कार भी प्रदान किए गए हैं। और जो दुनिया का सबसे बड़ा ऑस्कर अवॉर्ड माना जाता है, वह आपको 2009 में 'जय हो' गीत पर मिला।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के विद्वान सैमुअल टेलर कॉलेरिज (1772-1834) कहते हैं हमारी कल्पना जो कला में परिवर्तित होती है। वह विरोधी और अलग-अलग चीजों का खूबसूरत संयोजन कर देती है। उनमें कोई अंतरंग संबंध नहीं होता है लेकिन लेखक की कल्पना उन्हें जोड़ देती है जैसे गुलजार साहब ने गीत लिखा है

1. *चुन्नी लेके सोती थी कमाल लगती थी 2*
   बीबा बीबा वे
   पानी में जलता चिराग लगती थी
   बीबा तेरी याद ना टले

यहाँ पानी में जलता चिराग और नायिका का चुन्नी लेकर सोना दो अलग-अलग चीजें हैं। लेकिन उनको ऐसे जोड़ दिया है जैसे कि वह उसी का प्रतीक है।

दुनिया परिवर्तनशील है और सभी जगह परिवर्तित होता रहता है और गुलजार वक्त के साथ-साथ चलने वाले गीतकार हैं। इसलिए उन्होंने आज की युवा पीढ़ी के लिए भी ऐसे गीत लिखे जिसके कारण आज की पीढ़ी के भी चहेते गीतकार हैं। उनके गीत सुनकर आज

भी युवा पीढी थिरकती है जैसे :-

1. तू ही तू, तू ही तू सतरंगी रे- दिल से

2. सपने में मिलती है ओ कुड़ी मेरे सपने में- सत्या

3. मटरू की बिजली -मटरू की बिजली

4. कजरारे कजरारे तेरे कारे कारे नैना- बंटी और बबली

और

5. जय हो-जय हो

आज भी वे इतना जिंदादिल है कि लिखते हैं दिल तो बच्चा है जी।

इस तरह खुद श्वेत रंग में रहकर लोगों को जिंदगी के रंग बाँटते रहते हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. मेरा कुछ सामान- गुलज़ार
2. पाश्चात्य काव्यशास्त्र देवेंद्रनाथ शर्मा
3. विकिपीडिया
4. https//geetmanjusha.com>lyrics

– एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, मौलाना आज़ाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद-32

❑❑❑

शैलेंद्र के गीतों का साहित्यिक महत्व

डॉ. प्रियंका

सिनेमा जगत में शैलेंद्र के गीतों की एक विशिष्ट पहचान रही है। सिनेमा के गीतों की भाषा पर जिस समय उर्दू शैली का सर्वाधिक प्रभाव और वर्चस्व था, उस समय ठेठ हिंदी तथा गंवई शैली का प्रयोग कर शैलेंद्र ने सिनेमा को एक नया मुहावरा दिया। सिनेमा के गीतकार होने से पहले वे साहित्यिक दुनिया में एक कवि के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके थे। लेकिन विडंबना है कि सिनेमा के गीतकार के रूप में पहचान बनने से उनके सिनेमा के लिए लिखे गीत ही नहीं उनकी कविताएँ भी साहित्यिक जगत में उपेक्षित रह गईं। जब तक वे 'इप्टा' और 'प्रलेस' से जुड़े रहकर केवल कविताएँ लिखते रहें तब तक तो साहित्य में उन्हें थोड़ा-बहुत सम्मान मिला, उनकी कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में भी प्रकाशित होती रहीं, लेकिन ज्योंही उन्होंने सिनेमा का रुख किया, साहित्य जगत ने अपने इस संभावनाशील कवि को भुला दिया। इस तरह की उपेक्षा का कारण संभवत: साहित्यकारों की सिनेमा के प्रति उपेक्षा रही। आज भी जन आंदोलनों में जो एक नारा- "हर जोर जुल्म की टक्कर में हड़ताल हमारा नारा है" बहुत उत्साह के साथ लगाया जाता है, उसके सर्जक को भी साहित्य की प्रगतिशील अथवा जनवादी धारा की कथित आलोचना में कभी कोई स्थान हासिल नहीं हुआ। साहित्य के कथित पुरोधाओं ने साहित्य को हमेशा एक सीमित साँचे में बांधे रखा और जिसने भी इस साँचे को तोड़कर नया रास्ता बनाना चाहा, उसे अक्सर घोर उपेक्षा का शिकार होना पड़ा।

सिनेमा के गीतों द्वारा साहित्य, संस्कृति सामाजिक मूल्य, दार्शनिकता तथा जन-चेतना जैसे तत्वों को प्रवाहित करने वाले गीतकारों में शैलेंद्र का स्थान शीर्षस्थ है। वे स्वतंत्रता के उपरांत बन रहे नए समाज के गीतकार हैं। मानवता को अपना परम धर्म समझने वाले शैलेंद्र ने जीवनपर्यंत मानवीय मूल्यों को ही अपने साहित्य में अभिव्यक्ति दी। एक साथ विद्रोह, उत्साह, प्रेम, जिजीविषा और आशावादिता को कलमबद्ध करने वाले शैलेंद्र ने अपने जीवन का ध्येय ही, 'काम नए नित गीत बनाना/गीत बना के जहाँ को सुनाना'[1] यानी सृजन को माना और यही नहीं उन्हीं के शब्दों में कहें तो- 'कोई न मिले अकेले में गाना', यानी सृजन ही उनका सर्वस्व रहा।

सिनेमा के लिए गीत लिखने के साथ ही समानांतर रूप से वे कविताएँ भी लिखते रहें। इसका ही परिणाम था; 1955 में प्रकाशित हुआ उनका पद्य संग्रह 'न्यौता और चुनौतियाँ', जो पीपुल्स पब्लिकेशन हाउस[2] से प्रकाशित हुआ था इसमें 1945 से 1953 तक की उनकी रचनाएँ संकलित थीं।[3] सिनेमा के अतिरिक्त उन्होनें जो कविताएँ, गीत लिखे थे वे सब इस संग्रह में संकलित थे। इसे हिंदी साहित्य का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि उनके इस संकलन का हिंदी के आलोचकों ने प्राय: नोटिस नहीं किया और साहित्य की वह कृति जिसे कैफी आज़मी ने "प्रोग्रेसिव लिटरेचर का खास दस्तावेज कहा था"[4] एक तरह से गुमनाम होकर खो गई।

'प्रलेस' और 'इप्टा' के माध्यम से शैलेंद्र के कवि व्यक्तित्व को एक सकारात्मक दिशा मिली थी।

इसने उनकी अभिव्यक्ति के बहुत सारे रास्ते खोले। अपनी भावनाओं को देश की जनता की भावनाओं में बदल देने का जज़्बा मिला। भीष्म साहनी ने शैलेंद्र के विषय में लिखा है– "शैलेंद्र के आ जाने के बाद एक नई आवाज सुनाई पड़ने लगी थी। यह आजादी के मिल जाने पर भारत के नए शासकों को संबोधित करने वाली आवाज थी। इसका तेवर कुछ अलग था। बड़ी बेबाक, चुनौती भरी आवाज थी, इसमें दृढ़ता थी, जुझारूपन था, पर साथ साथ अपने देश की जनता के प्रति अगाध प्रेम भी था। इन गीतों में एकता का संदेश था, दृढ़ाग्रह था, 'एक साथ है कदम, जहाँ साथ है/ कामगार साथ है, किसान साथ है' पर साथ ही साथ शासकों से दो टूक पूछा भी गया–लीडर, न गाओ गीत राम राज का, इस स्वराज का/ क्या हुआ किसान कामगार राज का?' इन गीतों में रस था, भाषा सहज बोधगम्य थी और ये दिल की गहराईयों में से निकले उद्‌गार थे।"[5]

साहित्य के सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति शैलेंद्र शुरू से ही सजग रहे थे। उनके मित्र अनिल सराफ ने लिखा है– "वे कार्ल मार्क्स से बेहद प्रभावित थे और उनकी 'दास कैपिटल' पुस्तक पढ़ने का आग्रह करते। इसी पर आधारित हिंदी में प्रकाशित 'द्‌वंद्‌वात्मक भौतिकवाद' को पढ़कर सुनाते थे और कहते थे इसमें सारी दुनिया का सार छुपा है। कार्ल मार्क्स से प्रभावित होते हुए भी वे हिंसा या खून–खराबा में विश्वास नहीं रखते थे। बल्कि अहिंसा व गांधीवादी विचारों को अधिक महत्व देते थे। वे अपनी लेखनी के बल पर क्रांति लाने के पक्षधर थे।"[6] मार्क्स पर उन्होंने कविता भी लिखी है – "सौ सलाम उस कार्ल मार्क्स को जिसने मुक्तिमार्ग दिखलाया, मिट्‌टी के पुतलों को जिसने फौलादी इंसान बनाया। दुनिया के मजदूर एक हो जाओ, एक अस्त्र हमारा है, महामंत्र बन गया। आज एंगल्स और मार्क्स का नारा है।"[7]

शैलेंद्र का जीवनानुभव पर्याप्त समृद्‌ध था। उनके लेखन में उनका भोगा हुआ यथार्थ सबसे अधिक अभिव्यक्त हुआ। यहाँ तक कि उनकी बड़ी विशेषता यह रही है कि फिल्म की तय स्थितियों में बंधकर किया गया उनका लेखन भी जीवन–यथार्थ से जुड़ा हुआ होता था। उनके पुत्र शैली शैलेंद्र ने लिखा है– "बाबा का बचपन बहुत तकलीफों और अभावों भरा था उनके पिता रहने वाले तो बिहार के थे, पर रावलपिंडी में आर्मी कैंटीन चलाते थे। वहीं बाबा का जन्म हुआ था। बँटवारे के बाद उनके पिता सारे परिवार को लेकर मथुरा चले आए थे। न रहने का ठिकाना, न खाने का। कई–कई दिन भूखे सोना पड़ता था। फिल्म 'उजाला' में बाबा ने एक गीत लिखा था– 'सूरज जरा आ पास, आ आज सपनों की रोटी पकाएँगे हम, चूल्हा है ठंडा पड़ा और पेट में है आग, गरमारगम रोटियाँ कितना हसीन ख्वाब'...। यह दरअसल उनके बदहाली के दिनों की ही यादें थीं।"[8]

सिनेमा जगत में शैलेंद्र का प्रवेश एक तरह का संयोग ही था और उसकी पृष्ठभूमि भी दिलचस्प कही जा सकती है। राजकपूर जब सिने जगत के नए चेहरों में शुमार थे, तब वामपंथी संगठनों 'इप्टा' और 'प्रलेस' की काव्य गोष्ठियों में अक्सर अपने पिता पृथ्वीराज कपूर के साथ जाया करते थे। वहीं उन्होंने पहली बार शैलेंद्र को सुना था, जब वे कविता "मेरी बगिया में आग लगाए गयो रे गोरा परदेसी"[9] पूरे जोश के साथ गा रहे थे। राजकपूर ने इससे प्रभावित होकर वहीं तत्काल उन्हें अपनी फिल्म 'आग' के लिए गीत लिखने का प्रस्ताव दिया। तब सिनेमा जगत के प्रति पूर्वाग्रह के कारण शैलेंद्र ने साफ इनकार कर दिया था, लेकिन जल्दी ही उन्हें आर्थिक परेशानियों के कारण राजकपूर के पास जाना पड़ा और यहीं से उनके फिल्मी गीतकार बनने के सफर की शुरुआत हुई थी। साहित्य से सिनेमा की ओर शैलेंद्र भले ही आर्थिक मजबूरियों के चलते गए हों, लेकिन सिनेमा जगत न सिर्फ उन्हें रास आ गया बल्कि फिर वे आजीवन इसी कला माध्यम के होकर रह गए। सिनेमा उन्हें अभिव्यक्ति का तथा जनता तक अपनी बात पहुँचाने का बेहद सशक्त माध्यम लगा।

सबसे पहला गीत जो शैलेंद्र ने सिनेमा के लिए लिखा, वह था फिल्म 'बरसात' (1949) का गीत – "बरसात में हमसे मिले तुम सजन तुमसे मिले हम, बरसात में"। पहले ही गीत से शैलेंद्र ने सिने जगत में अपनी पहचान बना ली। यह गीत बेहद लोकप्रिय हुआ। इसे हिंदी फिल्मों का सबसे पहला 'टाइटल गीत' होने का श्रेय प्राप्त है, इससे पूर्व फिल्मों में टाइटल गीत की परंपरा नहीं थी। इस गीत के साथ शुरू हुई वह परंपरा आज तक जारी है।

शैलेंद्र पहली ही फिल्म के लिए अपने गीत से चर्चित हो गए थे। राजकपूर के तो वे प्रिय गीतकार बन

गए थे। जब तक जीवित रहे राजकपूर की फिल्मों खासकर नायक राजकपूर पर फिल्माए जाने वाले लगभग सभी गीत शैलेंद्र ने ही लिखे। इसका एक बहुत बड़ा कारण राजकपूर और शैलेंद्र की आपसी समझदारी और उनके बीच अच्छे तालमेल का होना था।

'बरसात' की सफलता से उत्साहित होकर राजकपूर ने एक और फिल्म 'आवारा' का निर्माण शुरू किया। 'आवारा' 1951 में प्रदर्शित हुई। 'आवारा' के गीतों ने शैलेंद्र को अंतरराष्ट्रीय स्तर का गीतकार बना दिया। इसी फिल्म ने राजकपूर को भारतीयों के साथ-साथ रूसियों का भी चहेता कलाकार बना दिया था। यह फिल्म केवल भारत में ही नहीं बल्कि रूस, चीन और अरब के कई देशों में खूब सराही गई। इसके गीत "आवारा हूँ, या गर्दिश में हूँ आसमान का तारा हूँ, आवारा हूँ" लोगों ने खूब पसंद किया। शैलेंद्र ने इस गीत में मजदूरों, कामगारों, किसानों, गरीबों के दुख-दर्द को भी अभिव्यक्त किया- "घरबार नहीं संसार नहीं मुझसे किसी को प्यार नहीं।" डॉ. इंद्रजीत सिंह कहते हैं- "इस कालजयी गीत को मेहनतकश मजदूरों और सर्वहारा वर्ग के जीवन का सच्चा दस्तावेज कहें तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। यह गीत रूस में इतना अधिक लोकप्रिय हुआ कि 1955 में पंडित नेहरू जब पहली बार रूस गए (तब सोवियत संघ था) तो रूसवासियों के भव्य स्वागत से भाव विह्वल हो उठे। एक राजनैतिक सभा में जब श्रोताओं ने पंडित नेहरू से 'आवारा' फिल्म के शीर्षक गीत को सुनाने की मांग की तो उन्हें राजकपूर की लोकप्रियता और शैलेंद्र की कलम के जादू का एहसास हुआ"[10]

शैलेंद्र ने यदि मजदूरों, मेहनतकशों के लिए कविताएँ लिखीं तो सिनेमा में भी वैसे गीत लिखे। उनकी कविताओं से अधिक मार्मिकता और सहजता उनके गीतों में रही। शैलेंद्र के गीतों में एक विशेष प्रकार का सौंदर्य है जो उन्हें अपने समकालीन साहित्यिक गीतकारों तथा सिनेमाई गीतकारों में विशिष्ट बनाता हैं। हिंदी की कथित साहित्यिक क्लिष्टता और उर्दूपरस्ती से बहुत हद तक बचते हुए शैलेंद्र ने जो गीत लिखे, विशेषकर उत्तर प्रदेश और बिहार की लोक भाषाओं के शब्दों से सजे उनके गीतों की भाषा का अपना विशिष्ट सौंदर्य है- *"सजनवा बैरी हो गए हमार/चिठिया हो तो हर कोई बाचे"*[11] या *"अबके बरस भेज भैया को बाबुल, सावन में लीजो बुलाए रे/ लौटेंगी जब मेरे बचपन की सखियाँ दीजो संदेशा भिजाए रे"*[12]

जैसे गीत उनके लोकजीवन के मर्मज्ञ होने की भी पुष्टि करते हैं।

शैलेंद्र के गीतों में मनोभावों के सूक्ष्म चित्र देखने को मिलते हैं। उदाहरण के लिए स्त्री मनोभावों को उन्होंने बहुत ही खूबसूरत और संवेदनशील अभिव्यक्ति दी है। चाहे वह प्रणय भावना की अभिवयक्ति- "पल भर जो उधर मुह फेरे ओ चंदा.. मैं उनसे प्यार कर लूँगी बातें हजार कर लूँगी"[13] हो या स्त्री मुक्ति की भावना "काँटों से खींच के ये आँचल तोड़ दे बंधन बांधे पायल[14] की स्त्री का जैसा स्वतंत्र और प्रखर रूप उनके गीतों में झलकता है, वह उस समय साहित्य में भी कम दिखाई देता है।

बाल मनोविज्ञान में भी उनकी गहरी पैठ थी। उनकी खासियत यह भी थी कि जीवन के छोटे-छोटे कार्य व्यापारों में से वे लिखने के लिए सामग्री जुटा लेते थे। शैलेंद्र की पत्नी श्रीमती शकुंतला शैलेंद्र ने लिखा है- "दैनिक जीवन में घटने वाली घटनाएँ या स्थितियाँ ही उन्हें गीत लिखने की प्रेरणा दिया करती थीं। मिसाल के तौर पर बेटे बंटू की जन्मकुंडली बनवाने के लिए बात चली तो उन्होंने कुंडली बनवाने का विरोध किया। उन्हें इन बातों पर विश्वास न था, जब कि मेरे घरवाले चाहते थे कि बच्चे की जन्मकुंडली अवश्य बनाई जाए। इसी वाद-विवाद ने उन्हें 'नन्हें मुन्ने बच्चे तेरी मुट्ठी में क्या है' जैसा गीत लिखने की प्रेरणा दी। बाद में यह गीत फिल्म 'बूट पालिश' के जरिए प्रसिद्ध हुआ। बच्चों को सुलाते-सुलाते वे सहज में कई लोरियाँ गढ़ लेते थे जो फिर फिल्मों में ले ली जाती थीं।"[15] शैलेंद्र द्वारा बच्चों के लिए लिखी गई कई लोरियाँ- "नानी तेरी मोरनी को मोर ले गए"[16], "चुन-चुन करती आई चिड़िया"[17] आदि खूब लोकप्रिय हुई।

फिल्म अभिनेता राजकपूर ने उनके बारे में लिखा है- "उन्होंने पैसे के लोभ में गीत कभी नहीं लिखे... गीत लिखने के लिए जब तक उनके अपने अंतर्भावों की गूंज नहीं उठती, तब तक वे न लिखते थे"[18] "वे जो कुछ लिखते थे, वह उनकी अंतरात्मा से निकलता था। खुद की समझ में नहीं आता तो काटकर बदल देते, लेकिन जब एक बार गीत उन्हें जच जाता तो फिर उनसे कुछ बदलवा लेना नामुमकिन होता था। उन्होंने तुकबंदी

कभी नहीं की, उनके गीतों में गीता के दर्शन की छाया मिलती है। हिंदी भाषा को फिल्मों में सम्मान दिलाने के बारे में भी उन्होंने कम महत्वपूर्ण कार्य नहीं किए"[19] आगे उन्होंने लिखा है- "राजकपूर की अंतरराष्ट्रीय ख्याति के पीछे शैलेंद्र के गीतों का बहुत बड़ा हाथ है, उन गीतों को कभी नहीं भुलाया जा सकेगा"[20] आवारा हूँ', 'मेरा जूता है जापानी', 'सब कुछ सीखा हमने', 'सजनबा बैरी हो गए हमार',- राजकपूर पर फिल्माए इन गीतों में वास्तव में गहरा मर्म निहित है।

प्रहलाद अग्रवाल के अनुसार - "वैसे तो शैलेंद्र के गीत राजकपूर की फिल्मों की बहुत बड़ी शक्ति हैं, लेकिन 'बूट पालिश' के दो गीतों में तो इतनी सहज और वास्तविक बिंब रचना की है कि उन्हें गीतकार कहा ही नहीं जा सकता- उन्हें कवि ही कहना होगा"[21] वह दो गीत हैं- 'चली कौन से देस गुजरिया तू सज धज के' और 'नन्हें मुन्ने बच्चे तेरी मुट्ठी में क्या है'। आगे वे लिखते हैं- "हिंदी क्षेत्रों में यह खुशफहमी हमेशा बनी रही या बनाई रखी गई कि सिनेमा से जुड़ा जो कुछ भी है वह घटिया है। हमारा तथाकथित संभ्रात समाज हर काम को छुपाकर करने की प्रवृत्ति को तहजीब मानकर सिनेमा पर चर्चा करना, उनके महत्व को आंकना गैर जरूरी मानता रहा है। इसलिए सिनेमा के दुष्परिणाम ही हमारे सामने आ सके। उसकी असाधारण क्षमता का रचनात्मक उपयोग नहीं हुआ। बीसवीं शताब्दी में कला का यह माध्यम इतनी प्रखरता से जनव्यापी हुआ कि अन्य रूप धूमिल पड़ गए। इसलिए इसके अत्यंत व्यापक प्रभाव क्षेत्र को दृष्टिगत रखते हुए इसकी उपेक्षा कर देना वस्तुतः हमारा तुच्छ अंहकार ही होगा। शायद यही कारण रहा कि शैलेंद्र के कृतित्व का हिंदी साहित्य में कोई मूल्यांकन नहीं हुआ। उनके गीत उत्कृष्ट काव्य के उदाहरण हैं; लेकिन वे सदैव उपेक्षित रहे, हमेशा फिल्मी गीतकार ही रहे।"[22]

उर्दू साहित्य इस मामले में हिंदी साहित्य से बहुत अधिक प्रगतिशील माना जा सकता है साहिर लुधियानवी, शकील बदायूंनी, हसरत जयपुरी, कैफी आज़मी जैसे फिल्मी गीतकारों को उर्दू साहित्य में भी उतना ही सम्मान प्राप्त है, जितना कि सिनेमा की दुनिया में। साहित्य में भी वे लोग कवियों के रूप में पढ़े-पढ़ाए जाते हैं, किंतु हिंदी के गीतकारों की तो हिंदी साहित्य में घोर उपेक्षा ही हुई। कवि प्रदीप, नीरज, शैलेंद्र, योगेश, गुलजार जैसे उच्च श्रेणी के गीतकारों को भी स्तरीय साहित्य लिखने वालों में स्थान नहीं दिया गया,बल्कि उन्हें व्यावसायिक मानकर साहित्यिक जगत से दूर ही समझा गया।

शैलेंद्र ने सिनेमा के लिए गीत लेखन को केवल मनोरंजन का माध्यम ही नहीं माना। वे स्वयं अपने समय के बहुत से गीतकारों के गीतो को अच्छा नहीं मानते थे। उनकी नज़रों में शोर-शराबा ही गीत-संगीत नहीं था। वे सिनेमा के गीतों में चल रही भेड़-चाल को पसंद नहीं करते थे- "टीन कनस्तर पीट-पीट कर गला फाड़ चिल्लाना/यार मेरे बुरा मान यह गाना है न बजाना है।"[23]

शैलेंद्र अपने दौर के कई गीतकारों से इसलिए भी अलग हैं, क्योंकि उन्होंने कभी अपने रचनात्मक सिद्धांतों के साथ समझौता नहीं किया। फिल्म के लिए गीत लिखना भी उनके लिए किसी अन्य साहित्यिक रचना करने जैसी निष्ठा से प्रेरित कार्य था। फिल्म गीत लेखन की तकनीक पर बात करते हुए खुद शैलेंद्र ने लिखा है- "फिल्म के लिए गीत लिखना अक्सर बहुत आसान समझा जाता है। सीधे-सादे शब्द, घिसी-पिटी तुकें, कहा जाता है कि फिल्म-गीत-रचना मेरी समझ से एक विशेष कला है, चूँकि हमारी फिल्में शत-प्रतिशत गीत प्रधान होती हैं, गीत उनमें होते ही हैं, इसलिए गीत जैसे पात्रों के संवाद का काम करते हैं, अन्यथा गीत कहानी को रोकेगा और ठूँसा हुआ मालूम होगा। इसलिए भावना और शब्दों का चुनाव कहानी के अनुसार बड़ी सावधानी से करना होता है।"[24] इसलिए उन्हें कभी-कभी किसी परिस्थिति के लिए गीत लिखने में बहुत समय लग जाता था। अपने गीतों में शब्दों के चयन को लेकर वे बड़े सजग रहते थे। उनके प्रत्येक शब्द का अपना अर्थ होता था, अपनी गरिमा होती थी फिर चाहे वे - "चाहे मुझे कोई जंगली"[25] या "पहले मुर्गी हुई कि अंडा"[26] या "तुम्हारी भी जय-जय हमारी भी जय-जय"[27] जैसे गीत हों। वे शब्दों के चयन के साथ कभी समझौता नहीं करते थे। 'श्री 420' का एक लोकप्रिय गीत है- 'प्यार हुआ इकरार हुआ' इसके अंतरे की एक पंक्ति- 'रातें दसों दिशाओं में कहेंगी अपनी कहानियाँ' पर संगीतकार जयकिशन ने आपत्ति की। उनका ख्याल था कि दर्शक 'चार दिशाएँ' तो समझ सकते हैं 'दस दिशाएँ' नहीं, लेकिन शैलेंद्र परिवर्तन के लिए तैयार नहीं हुए। उनका दृढ़ मंतव्य था कि दर्शकों की रुचि की आड़ में हमें

उथलेपन को उन पर नहीं थोपना चाहिए। कलाकार का यह कर्तव्य भी है कि वह उपभोक्ता की रुचियों का परिष्कार करने का प्रयत्न करें और उनका यकीन गलत नहीं था।"[28] संभवत: इसी विश्वास और रचनात्मक ईमानदारी की बदौलत वे आम जन के बीच इतनी व्यापक स्वीकृति अर्जित कर सके।

शैलेंद्र का रिश्ता मध्यकाल के उन संत-भक्त कवियों से भी बनता है, जिन्होंने रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज उठाई और जनता को जागृत सचेत करने का अद्भुत प्रयास किया। प्रेम के प्रति उनका दृष्टिकोण ठीक वैसा ही रहा जैसा इन संतों का। उदाहरण के लिए कबीर कहते हैं- 'हरि मोरे पीव मैं तो हरि की बहुरिया' और शैलेंद्र ने लिखा- "आप हुए मेरे बालम मैं तुम्हारी हुई"[29], कबीर ने कहा- 'सब खलक सयानी मैं बौरा' तो शैलेंद्र ने कहा- "सच है दुनिया वालो कि हम हैं अनाड़ी"[30]। यही नहीं दार्शनिकता और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण भी उन्हें संतों-भक्त कवियों के निकट ले आता- "कहते हैं ज्ञानी दुनिया है फानी, पानी पे लिखी लिखाई/ है सबकी देखी है सबकी जानी, हाथ किसी के ना आई, कुछ तेरा ना मेरा, मुसाफिर जाएगा कहाँ"[31]। सूफी संतों, फकीरों की सी बानगी उनके गीतों के अर्थ में छिपी रहती है। उनके गीतों में जीवन के प्रति भरपूर आस्था और राग के साथ-साथ वैराग्य भी झलकता है- "वहाँ कौन है तेरा मुसाफिर जाएगा कहाँ, "सजन रे झूठ मत बोलो खुदा के पास जाना है", "हर फिक्र को धुएँ में उड़ाता चला गया।"[32] किसी भी परिस्थिति में वे मनुष्यता को ही सर्वोपरि मानते थे- "माना अपनी जेब से फकीर हैं, फिर भी यारों दिल के हम अमीर हैं"[33] शैलेंद्र में गहन दार्शनिक सत्य को भी सीधे-सरल शब्दों में व्यक्त करने का अद्भुत कौशल था। ये तत्व उन्हें श्रेष्ठ रचनाकारों की श्रेणी में खड़ा करते हैं।

शैलेंद्र अपने युग को मुखरित करने वाले रचनाकार थे। स्वतंत्रता के उपरांत स्थितियाँ सुखद होने की बजाय और अधिक दुरूह होने लगी थीं। बेरोजगारी, गरीबी, घटने की बजाय बढ़ रही थी; युवाओं को पढ़-लिख कर भी नौकरियाँ नहीं मिल रही थी, इस स्थिति का वर्णन वे 'नौकरी (1954)' फिल्म के गीत में कूछ यूँ करते हैं "कुछ और जो माँगू तो गुनहगार हूँ मैं, एक छोटी सी नौकरी का तलबगार हूँ मैं, एक सौ आठवीं अर्जी मेरे अरमानों की, कर लो मंजूर कि बेकारी से बेजार हूँ मैं'। शिक्षित युवाओं को नौकरी न मिलने की समस्या और बेकारी को यह गीत बहुत संवेदनशीलता के साथ स्वर देता है। दुखद रूप से वर्तमान में बेरोजगारी की समस्या पहले की तुलना में और अधिक भयावह हुई है और ऐसे में शैलेंद्र का लिखा यह गीत और अधिक प्रासंगिक लगता है।

शैलेंद्र के सिनेमा के लिए लिखे गीतों को सिनेमा की स्थितियों से काटकर देखा जाए तो भी उनका महत्व कम नहीं होता, बल्कि और बढ़ जाता है। उनकी अपनी स्वतंत्र इयत्ता है। "कुछ तेरा न मेरा मुसाफिर जाएगा कहाँ"[35] ऐसे गीतों के निहितार्थ वाकई बहुत व्यापक हैं। गुलज़ार ने शैलेंद्र के विषय में यह भी कहा है कि- "फिल्मों के माहौल में रहते हुए भी शैलेंद्र के गीतों में लिटरेचर मुसलम महकता रहा।एक आम और मामूली किस्म की सिचुएशन को गाने में साहित्य का दर्जा दे देना, एक अदब बना लेना, शैलेंद्र की बड़ी खासियत थी।"[36]

हिंदी के प्रतिष्ठित कवि नागार्जुन ने उनकी प्रतिभा को समझा था। नागार्जुन ने उन्हें अपनी कविता में याद करते हुए लिखा है- "सच बतलाऊँ तुम प्रतिभा के ज्योतिपुंज थे, छाया क्या थी, भली-भांति देखा था मैंने, दिल ही दिल थे काया क्या थी।"[37] लेकिन हिंदी के समीक्षकों ने उनके प्रति उदासीनता बरती; हालांकि यह उदासीनता शैलेंद्र की प्रतिष्ठा को तो प्रभावित नहीं कर सकती, उनकी जगह लोगों के दिलों में है, लेकिन इस उदासीनता और उपेक्षा के कारण हिंदी साहित्य और अधिक समृद्ध होने से जरूर वंचित रह जाता है।

शैलेंद्र के द्वारा सिनेमा के लिए लिखे गीतों को किसी उत्कृष्ट मानी जाने वाली साहित्यिक कृतियों के समक्ष रखकर यह तफसील की जा सकती है कि उनके गीत कहीं से कमतर नहीं हैं कोई गीत फिल्म के लिए लिखे जाने की वजह से असाहित्यिक नहीं हो जाता। साहित्यिक स्तरीयता का निर्णय करते हुए जो समीक्षक उसके फिल्मी गीत होने को स्तरहीनता का आधार मानते हों, उनकी साहित्यिक समझ पर संदेह करना आवश्यक है। शैलेंद्र के द्वारा सिनेमा के लिए लिखे गए गीत भारतीय जनजीवन का हिस्सा रहे हैं। इन गीतों से सुकून और प्रेरणा पाने वाले और इन्हें अपने मन, अपनी पीड़ा और समस्याओं की अभिव्यक्ति मानने वाले लोगों की बड़ी संख्या हैं निश्चित तौर पर शैलेंद्र अपने फिल्मी

गीतों की सार्थकता और सहजता के कारण हमेशा याद किए जाते रहेंगे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. फिल्म - 'जिस देश मे गंगा बहती है', 1965

2. नलिन सराफ (संकलनकर्ता): सुहाना सफर और ये मौसम हसीं, पृ. सं. 9: जीवन प्रभात प्रकाशन, मुंबई-400058

3. मैंनेजर पांडेय : हिंदी कविता का अतीत और वर्तमान, पृ. सं.- 162 : वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 110002

4. डॉ. इंद्रजीत सिंह द्वारा संपादित किताब 'जनकवि शैलेंद्र' में संकलित कैफी आज़मी का लेख 'आज फिर जीने की तमन्ना है', पृ. सं- 37 : अमृत पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली- 110035

5. डॉ. इंद्रजीत सिंह द्वारा संकलित किताब 'जनकवि शैलेंद्र' में शामिल भीष्म साहनी का लेख 'कविराज शंकर शैलेंद्र', पृ. सं- 2-3

6. नलिन सराफ की किताब 'सुहाना सफर और ये मौसम हसीं' में संकलित लेख' ओ जानेवाले, हो सके तो लौट के आना', पृ. सं. 15

7. रमा भारती द्वारा संपादित किताब 'अंदर की आग', में संकलित कविता 'पेरिस कम्यून', पृ. सं. - 41: राजकमल प्रकाशन प्रा. लि-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण-2013

8. 'सहारा समय' में 10 सितंबर 2005 को प्रकाशित दिनेश शंकर शैलेंद्र का लेख 'हम तो जाते अपने गाँव', प्रस्तुतकर्ता-शिशिर शर्मा

9. डॉ. इंद्रजीत सिंह द्वारा संपादित किताब 'जनकवि शैलेंद्र' में संकलित राजकपूर का लेख 'तुम अमर हो अपने गीतों में अमर हो मेरे दोस्त', पृ. सं-10

10. 'आजकल', जनवरी 2005 में प्रकाशित इंद्रजीत सिंह का लेख 'कालजयी गीतों के रचयिता शैलेंद्र', पृ. सं- 42

11. फिल्म - 'तीसरी कसम', 1966

12. फिल्म - 'बंदिनी', 1963

13. फिल्म - 'आवारा', 1951

14. फिल्म - 'गाइड', 1965

15. नलिन सराफ द्वारा संकलित किताब 'सुहाना सफर और ये मौसम हसीं' में शामिल श्रीमती शंकुतला शैलेंद्र का लेख 'कहाँ तक उनके बारे में लिखूँ?' पृ. सं- 83

16. फिल्म - 'मासूम', 1962

17. फिल्म - 'अब दिल्ली दूर नहीं', 1957

18. डॉ. इंद्रजीत सिंह द्वारा संपादित किताब 'जनकवि शैलेंद्र' में संकलित राजकपूर का लेख- 'तुम अगर हो, अपने गीतों में अमर हो मेरे दोस्त', पृ. सं-13

19. वही, पृ. सं- 13

20. वही, पृ. सं.-15

21. प्रहलाद अग्रवाल: राजकपूर आधी हकीकत आधा फ़साना, पृ. सं- 61: राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., दिल्ली-110002

22. वही, पृ. सं-61-62

23. फिल्म - 'लव मैरिज', 1959

24. स्वयं शैलेंद्र द्वारा लिखित लेख 'मैं मेरा कवि और मेरे गीत' का एक अंश। यह लेख मूल रूप से धर्मयुग; 16 मई, 1965 में प्रकाशित हुआ था।

देखिए- ब्रज भूषण तिवारी : गीतों का जादूगर शैलेंद्र, पृ. सं- 223 : नई दिल्ली 10002

25. फिल्म - 'जंगली' 1961

26. फिल्म - 'करोड़पति', 1965

27. फिल्म - 'दीवाना', 1967

28. प्रह्लाद अग्रवाल : राजकपूर आधी हकीकत आधा फसाना, पृ. सं- 151

29. फिल्म - 'करोड़पति', 1961

30. फिल्म - 'अनाड़ी', 1959

31. फिल्म - 'गाइड', 1965

32. फिल्म - 'आह', 1953

33. फिल्म - 'अनाड़ी', 1959

34. फिल्म - 'गाइड', 1965

35. फिल्म - 'तीसरी कसम', 1956

36. डॉ. इंद्रजीत सिंह द्वारा संपादित किताब 'जनकवि शैलेंद्र' पृ. सं-49

37. नलिन सराफ द्वारा संकलित किताब 'सुहाना सफर और ये मौसम हसीं में' शामिल नागार्जुन द्वारा शैलेंद्र पर लिखी कविता 'प्रतिभा के पुंज', पृ. सं-110

– बी-55, स्वर्ण पार्क, मुंडका, दिल्ली- 110041

❑❑❑

सिनेमा - अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम

दीपक दीक्षित

अभिव्यक्ति का अर्थ

परिस्थिति, ज्ञान तथा इच्छाओं के समय प्रभाव में निरंतर हमारे विचार बदलते रहते हैं। विचारों का यह बदलाव भावनाओं के जन्म का कारण बनता है। हमारी भावनाएँ भी अधिक समय तक स्थिर नहीं रहतीं। अपने अंदर हुए इस बदलाव को हम दूसरों तक पहुँचाना चाहते हैं और अधिक से अधिक लोगों से बाँटना चाहते हैं। मस्तिष्क द्वारा संचालित और शरीर द्वारा की जाने वाली इस प्रक्रिया को ही अभिव्यक्ति कहते हैं। अभिव्यक्ति का अर्थ है अपने मन में छुपे विचार तथा भाव को प्रकट करना या सार्वजनिक करना।

प्राचीन काल में गीत, नाटक, नौटंकी, कठपुतली आदि माध्यमों से अभिव्यक्ति को उभारा गया। पंद्रहवीं शताब्दी में प्रिंटिंग-प्रेस आने से इसमें एक नया आयाम जुड़ा और पुस्तक तथा पत्र-पत्रिकाएँ चलन में आईं जो शब्द और चित्रों का सहारा लेकर सब पर छाने लगीं। नाटकों में कथा और विषयवस्तु के साथ ही दृश्यात्मकता तथा ध्वनि एवं वातावरण आदि के उपयोग से प्रभावकारी अभिव्यक्ति की संभावनाएँ तो बढ़ी पर उनका मंचन सीमित दर्शकों तक ही संभव था और यह मंच पर एक बार में केवल एक ही स्थान पर किया जा सकता था। जहाँ सभी कलाकारों की उपस्थिति अनिवार्य थी। दूसरी ओर पुस्तकें तथा पत्र-पत्रिकाएँ आसानी से लोगों तक पहुँच सकती हैं, पर उनका आनंद केवल पढ़ा-लिखा वर्ग ही ले सकता था जो सीमित था। इसके अतिरिक्त किसी आम व्यक्ति के लिए पढ़ने की प्रक्रिया एक नीरस और उबाऊ प्रक्रिया थी।

सिनेमा का उदय

कैमरे के आविष्कार से जहाँ चित्रों को कागज पर कैद करना संभव हुआ वहीं चल-चित्र या सिनेमा के आविष्कार ने पूरे के पूरे नाटक को ही सेलुलाइड की फिल्म पर अंकित करना शुरू कर दिया, जिसे सुविधानुसार कहीं भी और कितनी ही बार एक परदे पर फिर से देखा जा सकता था। यह नया माध्यम नाटक और पुस्तकों की सीमित अभिव्यक्ति के बेहतर विकल्प के रूप में जनमानस में दूर-दूर तक प्रचलित हुआ। आरंभ की श्वेत-श्याम तथा मूक फिल्मों के दौर के बाद ध्वनि तथा रंगों को भी वैज्ञानिकों ने कठोर परिश्रम करके फिल्म या सिनेमा में समाहित कर लिया और अब इसकी लोकप्रियता आसमान छूने लगी। ग्रहणी हो या मकैनिक, विद्यार्थी हो या अध्यापक, सैनिक हो या व्यवसायी हर कोई इसका दीवाना हो गया। इसके चाहने वालों में हर उम्र के लोग जुड़ते गए, फिर चाहे वे बच्चे हों या युवक/युवती हों या फिर उम्रदराज बुजुर्ग ही क्यों न हों।

आज तो इलेक्ट्रॉनिक्स में अपार अनुसंधानों के कारण हमें सिनेमा का बहुत ही उन्नत रूप देखने को मिलता है, जिसमें कंप्यूटर जनित प्रभावों के दम पर विस्मयकारी तरीके से घटनाओं को प्रस्तुत किया जाता है और फिर अब तो सिनेमा के लिए सिनेमा हॉल तक भी जाने की आवश्यकता नहीं। आप अपने घर पर टीवी पर या अपने मोबाइल की स्क्रीन (परदे) पर इसका आनंद ले सकते हैं। आज के सिनेमा में गीत और मधुर संगीत भी समाहित है। किसी और भाषा में बने सिनेमा को भी

भाषा ISSN 0523-1418

आप अपनी भाषा में अनुवाद की हुई डबिंग या अपनी भाषा के शीर्षक के साथ देखकर उसका आनंद ले सकते हैं। सिनेमा ने हर किसी को अपने मोह-पाश में बांध रखा है। नए-नए गीतों के साथ चर्चित लोकगीतों का फिल्मांकन इसकी सुंदरता बढ़ाते है। हर बहुचर्चित उपन्यास का फिल्मांकन भी देर-सवेर देखने को मिल ही जाता है।

सिनेमा का अर्थ

सिनेमा शब्द फ्रांसीसी भाषा के cinematographe से आता है जो मूलत: एक यूनानी शब्द Kinema पर आधारित है, जिसका अर्थ है गति या हरकत।[1] सिनेमा के लिए अंग्रेजी के मूवी शब्द का भी अक्सर उपयोग किया जाता है जो move का अपभ्रंश है। अंग्रेजी शब्द फिल्म का भी सामान्यत: इन्हीं अर्थों में उपयोग किया जाता है। नाम चाहे जो भी उपयोग किया जाए, अभिव्यक्ति की इस विधा में बहुत से चित्रों को एक गति देकर परदे (स्क्रीन) पर एक विशेष प्रभाव उत्पन्न किया जाता है, शायद इसलिए हिंदी में इसको चलचित्र का नाम दिया गया है।

प्रभावकारी माध्यम

हमारी पाँच ज्ञानेंद्रियाँ हैं- आँखें जो दृश्यों को देखने का काम करती हैं, कान जो आवाजों को सुनने का काम करते हैं, नाक जो सूंघकर गंध को पहचानती है, जिह्वा या जीभ जो चखकर स्वाद का आनंद लेती है और हमारी त्वचा जो स्पर्श द्वारा अनुभव करती है। हमारे मस्तिष्क में जाने वाली सूचनाओं का सबसे बड़ा भाग दृश्यों का होता है[2]। जब हम पुस्तक पढ़ते हैं तो सिर्फ हमारी आँखें ही प्रभावित होती हैं और जब हम कोई ध्वनि या गीत सुनते हैं तो सिर्फ हमारी श्रवण शक्ति अर्थात् सुनने की शक्ति ही प्रभावित होती है। पर सिनेमा हमारी आँखों तथा कानों को एक साथ ही प्रभावित करता है। यही नहीं अत्याधुनिक तकनीक से बने अनेक सिनेमाघरों में हमारी स्पर्श शक्ति तथा श्रवण शक्ति को भी प्रभावित करने का प्रयास किया जाता है। कदाचित आने वाले समय में हम वैज्ञानिक प्रयासों से सिनेमा द्वारा स्वाद का भी आनंद ले सकें। ऐसा होने पर सिनेमा पूर्ण अनुभूति का एक अद्वितीय माध्यम बन जाएगा और अन्य सभी माध्यम इसके सामने बौने हो जाएगे। अपनी वर्तमान स्थिति में भी यह दर्शकों के लिए अनुभूति का और इसके सृजनकर्ताओं के लिए अभिव्यक्ति का एक बेहद सशक्त माध्यम हैं।

किसकी अभिव्यक्ति?

आज की दुनिया में कला के इस सशक्त माध्यम (सिनेमा या फिल्म निर्माण) के सृजन का कार्य अत्यंत दुरूह है। दो घंटे में देखी जा सकने वाली एक व्यावसायिक फिल्म को बनाने में महीनों (कभी-कभी वर्षों) लग जाते हैं और कृति को अनेक क्रियाओं तथा संस्थाओं के माध्यम से गुजरना होता है। यह विधा केवल इसके लेखक या कलाकारों की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि अनेक लोगों की अभिव्यक्ति का स्रोत है। इनके अलावा संगीतकार और गीतकार इस विधा के प्रमुख रचनाकार हैं। साथ ही फोटोग्राफर के महत्व को भी नहीं आँका जा सकता और इसको विशिष्टता प्रदान करने वालों में तकनीकी विशेषकर कंप्यूटर आधारित तकनीकविद् का योगदान भी है। वैसे कहने के लिए फिल्म को उसके निर्देशक का माध्यम कहा जाता है पर आजकल अभिव्यक्ति के इस जटिल और चर्चित माध्यम के साथ कितनी ही अन्य विधाएँ पनप रही हैं जैसे- कोरिओग्राफर, सिनेमेटोग्राफर, संपादक, अभिकल्पकार आदि। इन विधाओं से जुड़े व्यक्ति इन्हें कला की एक सम्मानजनक विधा का स्थान दिलाने में प्रयासरत हैं, वहीं व्यवसायी बुद्धि के लोग इन्हें व्यवसाय के रूप में प्रचलित कर रहे हैं।

समूहगत सृजन

जैसे कोई लेखक अपनी रचना को सुंदर बनाने के लिए या चित्रकार अपने चित्र को बनाने के लिए उसमें अपनी जान डाल देता है वैसा ही फिल्म निर्माण भी एक सृजन का काम है। पर आम तौर पर यह एक व्यक्तिगत कार्य न होकर समूहगत कार्य अथवा टीमवर्क है। इसके निर्माणकर्मी मिलकर इसके हर एक फ्रेम को सुंदर बनाने के लिए एड़ी चोटी का जोर लगा देते हैं। साथ ही यह भी ध्यान रखते हैं कि उनकी लागत कम हो और मुनाफा अधिक। अभिव्यक्ति के अन्य माध्यमों की तुलना में सिनेमा के माध्यम से कल्पना की कहीं अधिक ऊँची उड़ान भरी जा सकती है। फिल्म निर्माण उद्योग इसमें कार्यरत लोगों के कठोर परिश्रम, उद्यमशीलता और रचनात्मकता के कारण एक सफल व्यवसाय माना जाता है और यही कारण है कि इससे जुड़े मुख्य व्यक्ति समाज में अति चर्चित होते हैं।

सिनेमा और संस्कृति

किसी भी देश या भाषा का सिनेमा उस देश या समुदाय की संस्कृति की झलक और सुंगध लिए होता है। विश्व में अनेक भाषाओं में और अनेक देशो में विविधता लिए हुए हर वर्ष हज़ारों फिल्मों का निर्माण होता है पर अमरीका के हॉलीवुड फिल्म व्यवसाय को अपनी उत्तम तकनीक और बृहत व्यापार व मुनाफे के कारण शीर्ष स्थान पर माना जाता है। हमारे देश में भी दशकों से मुंबई से बहुत अधिक मात्रा में हिंदी फिल्मों का निर्माण होता है। जिसके कारण उसे बॉलीवुड का नाम दिया जाने लगा है।[3] व्यवसाय और तकनीक की दृष्टि से पिछले कुछ वर्षों में हमारी फिल्मों की गुणवत्ता में तेज गति से विकास हुआ है और अनेक फिल्मों को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मान्यता और सम्मान भी मिला है। इसके साथ ही बांग्ला, तेलुगु, तमिल, कन्नड, भोजपुरी, मलयालम, पंजाबी आदि अनेक भाषाओं में फिल्म निर्माण का कार्य भी खूब पनप रहा है। सिनेमा का उपयोग अप्रत्यक्ष रूप से समाज में चेतना या विशेष संदेश देने का काम भी प्रभावी ढंग से किया जाता रहा है। सिनेमा के माध्यम से भी अंग्रेजों के शासन काल में स्वतंत्रता सेनानियों ने बड़ी चतुराई और प्रभावकारी ढंग से जन मानस में स्वतंत्रता संग्राम की चेतना को जगाने का काम किया था।

कला या व्यवसाय

कुछ लोग सिनेमा को कला का एक माध्यम मानते हैं तो कुछ के लिए यह एक विशुद्ध व्यवसाय है। सच तो यह है कि कोई फिल्म कितनी ही बड़ी कलाकृति क्यों न हो, उसे दर्शकों तक पहुँचाने के लिए धन की आवश्यकता होती ही है। इसके विपरीत कोई फिल्म कितने ही व्यावसायिक उद्देश्य के लिए बनाई गई हो, उसमें कलाकार ही जान डालते हैं।

क्योंकि सिनेमा उत्पादन का काम एक बहुत महंगा काम है और इस पर एक बड़ी रकम दांव पर लगती है। अत: एक निर्देशक और उसके साथी कलाकारों को निर्माता या वित्त-दाता के बनाए गए बंधनों के भीतर रहकर ही अपना काम करना होता है। अक्सर ये दोनों वर्ग (कलाकार और व्यवसायी) एक साथ कदमताल करके ही इस कृति को जन्म देते हैं और दर्शकों तक पहुँचाते हैं पर साथ ही कलाकार और व्यवसायी एक दूसरे की आलोचना भी करते सुनाई देते हैं।

किसी सिनेमा को बनाने में हालांकि निर्माता/निर्देशक और उनके दल को विषय वस्तु की पूर्ण स्वतंत्रता होती है पर व्यावसायिक दृष्टि से यह भी देखना होता है कि उनके विचार या कल्पना दर्शक वर्ग को स्वीकार होंगे। इसके अतिरिक्त एक व्यावसायिक सिनेमा को सार्वजनिक प्रदर्शन से पहले सेंसर (नियंत्रक) के मानकों पर भी खरा उतरना होता है।

जहाँ एक ओर व्यावसायिक सिनेमा का निर्माण दिनोंदिन मंहगा होता जा रहा है, वहीं नए-नए इलेक्ट्रॉनिक उपकरणों से डिजिटल तकनीक द्वारा किसी फिल्म को बना लेना और प्रदर्शित करना बेहद आसान और सस्ता भी हो गया है। सिनेमा शब्द का उपयोग आम तौर पर व्यावसायिक सिनेमा के लिए किया जाता है पर अगर इसको बृहत अर्थों में किसी भी उद्देश्य से बनाए चलचित्र मानकर देखें तो आज अनेक अव्यावसायिक चलचित्र भी बनाए जाते हैं जो व्यक्तिगत उपयोग या आनंद के लिए या फिर किसी अव्यवासायिक संस्थागत उपयोग के लिए हो सकते हैं। बल्कि इंटरनेट और मोबाइल फोन की सुविधा के प्रसार के बाद सोशल मीडिया पर तो इनकी बाढ़-सी आ गई है। कोई भी एक साधारण से मोबाइल का उपयोग कर मिनटों में एक फिल्म बना सकता है जो तकनीकी दृष्टि से सभी मानकों से एक फिल्म ही कहलाएगी और अगर इस फिल्म को सोशल मीडिया के प्लेटफॉर्म जैसे यूट्यूब, फेसबुक या ट्विटर आदि पर डाल दिया जाए जहाँ से विज्ञापनों के द्वारा आमदनी भी हो सकती है। इस संदर्भ में यह भी एक विचार का विषय है कि क्या इसे एक व्यावसायिक फिल्म माना जाएगा?

सिनेमा-अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम

फिल्म निर्माण को व्यवसाय माने या कला, इसका एकमात्र उद्देश्य तो दर्शकों का मनोरंजन करके उनसे प्रशंसा अथवा सराहना पाने का है और इसके लिए इसके निर्माणकर्ता/निर्माणकर्ती अपनी सृजनधर्मिता के नए-नए उदाहरण प्रस्तुत करके इस विधा को न सिर्फ प्रचलित बनाने में बल्कि इसे एक उद्योग का दर्जा दिलाने में सफल रहे हैं। अभिव्यक्ति के इस सशक्त

माध्यम का सुंदर उपयोग करने के लिए उन सभी व्यक्तियों को साधुवाद एवं धन्यवाद। आशा है, अभिव्यक्ति की यह सशक्त विधा भविष्य में दिन दूनी और रात चौगुनी उन्नति करेगी।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. https://en.wiktionary.org/wiki/cinema
2. https://hi.wiipedia.org/wiki/ज्ञानेंद्रिय
3. https://www.shabdkosh.com/dictionary/english-hindi/Bollywood/Bollywood-meaning-in-hindi

– फ्लैट नंबर-410, ब्लाक-2, जी के प्राइड, बालाजी नगर रोड यप्राल, सिकंदराबाद, मेडचल, तेलंगाना-500087

❑❑❑

साहित्य, सिनेमा और भूमंडलीकरण

डॉ. विपुल कुमार

20वीं सदी के अंतिम दो दशकों को इतिहास में दो बातों के लिए याद रखा जाएगा। पहला – आर्थिक उदारीकरण तथा दूसरा – संचार क्रांति। जिस प्रकार 15वीं शताब्दी में यूरोप से अन्य महाद्वीपों को जोड़ने के लिए समुद्री मार्गों की खोजों ने आर्थिक उपनिवेशवाद का मार्ग प्रशस्त किया, उसी प्रकार इन अंतिम दो दशकों में सूचना मार्ग के आविष्कार ने आर्थिक एवं सांस्कृतिक उपनिवेशवाद के लिए रास्ता खोल दिया।

सूचना क्रांति एक जलजले के रूप में आई। भारत का मध्यवर्ग धीरे-धीरे सूचना का 'कंपन' अपने अंदर महसूस करते-करते, उस 'कंपन' की गिरफ्त में 'वाईब्रेट' (स्पंदित) होता चला गया। सूचना के इस दौर में बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने अपने दरवाजे खोले और भारत सरकार ने इसे आर्थिक उदारीकरण की संज्ञा दी। आर्थिक उदारीकरण ने समाज की यथार्थ समझ को और सघन बना दिया। समाज के विभिन्न वर्गों के पारस्परिक संबंधों, संघर्षों और तनावों का स्वरूप बदलता चला गया और उसी के अनुरूप युगीन यथार्थ भी बदलता रहा।

निरंतर बदलने वाले यथार्थ को प्रत्येक वर्ग और प्रत्येक व्यक्ति ने अपने वर्गीय बोध और वैयक्तिक संवेदनाओं के आधार पर ग्रहण किया है। इसी दौर में पुराने मूल्य समाज के विकास के साथ नहीं चल पा रहे थे और नए मूल्यों की रचना में पुराने मूल्यों की वजह से रुकावट आ रही थी। ऐसी स्थिति में जब भी तथाकथित नए मूल्यों को स्थापित करने वाली कोई बात सामने आती तो समाज हड़बड़ी में उसे लपक लेता। इस तरह की हड़बड़ी का कारण नए राजनैतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और वैचारिक परिप्रेक्ष्य रहे। सिनेमा इसी रूप में यथार्थ का एक अंग भी है और उसमें हस्तक्षेप भी।

फिल्म एक चाक्षुष माध्यम है। जब हम फिल्म को पर्दे पर देखते हैं, तब जीवन हमें ठीक वैसा ही नज़र आता है, जैसा कि हमें फिल्म में दिखाया जाता है। अपनी इस शक्ति के कारण ही सिनेमा का प्रभाव किसी अन्य कला विधा के मुकाबले कहीं ज्यादा है। सिनेमा समाज के राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को कई रूपों में और कई ढंग से अभिव्यक्त और प्रभावित कर रहा है। ये प्रभाव न तो पूरी तरह नकारात्मक हैं और न ही सकारात्मक।

वर्तमान दौर उपभोक्तावादी संस्कृति की गिरफ्त में है। यहाँ 'उत्पादन-उपभोग' संबंध का बड़ा लचीला और करतबी नियम देखने को मिलता है। हालांकि साहित्य के समाजशास्त्री "कला और साहित्य की कृतियों को सामाजिक उत्पादन मानते हैं।"[1] इस हिसाब से कहानी की कोई किताब या उपन्यास एक सामाजिक उत्पादन है दूसरी तरफ, फिल्म भी न केवल सामाजिक उत्पाद है, बल्कि इसका लक्ष्य भी समाज ही है, पैसा कमाने से लेकर सामाजिक संदेश देने तक। कोई रचनाकार साहित्य रचना स्वांतः सुखाय भी कर सकता है, किंतु किसी फिल्मकार के लिए ऐसी बात बेमानी मानी जाती रही है। ऐसे में जब कोई फिल्म निर्माता किसी साहित्यिक कृति को आधार बनाकर फिल्म निर्माण करता है, तब उसका उद्देश्य या तो साहित्यिक रचना की लोकप्रियता को

भुनाना होता है या वह साहित्यिक रचना के बरक्स श्रेष्ठ मूल्यों एवं नए प्रश्नों को समाज के सम्मुख रखने का प्रयत्न करता है। फिल्मकार का उद्देश्य उपर्युक्त दोनों में से कुछ भी हो, लेकिन वह वर्तमान दौर की सामाजिक, वैचारिक, आर्थिक और राजनैतिक सघनता से प्रभावित अवश्य होता है।

इस दौर के अंतिम दशक में पहली बार किन्नरों पर तीन फिल्में प्रदर्शित हुईं- 'तमन्ना', 'दरम्यान' तथा 'दायरा'। इसी दशक में कुछ ऐसी भी फिल्में आईं, जिन्हें यदि शुद्ध कला फिल्में न कहा जा सके तो भी, उन्हें पूरी तरह व्यावसायिक फिल्में भी नहीं कहा जा सकता। 'लम्हे', 'रुदाली', 'सलाम बॉम्बे' आदि को इस श्रेणी में रखा जा सकता है।

अंग्रेजी से डब की हुई कुछ फिल्में हिंदी में आईं और उन्होंने अपनी सफलता से फिल्मकारों को चौंका दिया। 'जुरासिक पार्क', 'गॉडजिला' तथा 'टाइटेनिक' फिल्मों को भारतीयों ने काफी पसंद किया। इसी प्रकार कुछ फिल्में क्षेत्रीय भाषाओं से भी डब होकर हिंदी में आईं। इनसे भी एक नई प्रवृत्ति की शुरुआत हुई।

महिला फिल्मकारों की पहचान की स्थापना इस दौर की एक विशेष प्रवृत्ति कही जा सकती है। इस अंतिम दशक में न केवल महिला निर्देशकों की संख्या में ही वृद्धि हुई, बल्कि उनकी फिल्मों की राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर सराहना भी हुई। सई परांजपे की 'दिशा' एवं 'साज', तनुजा चंद्रा की 'संघर्ष', कल्पना लाजिमी की 'रुदाली' एवं 'दरम्यान', अपर्णा सेन की 'परमा', 'सती' एवं 'मि. एंड मिसेज अय्यर', पामेला रूक्स की 'ट्रेन टू पाकिस्तान' और अप्रवासी महिला फिल्मकारों में मीरा नायर की 'कामसूत्र', 'मानसून वेडिंग' तथा दीपा मेहता की फिल्म 'फायर', 'अर्थ-1947', तथा 'वाटर' काफी सराही गईं।

वर्तमान दौर का हिंदी सिनेमा भूमंडलीकरण, उपभोक्तावाद, बाजारवाद और उत्तर आधुनिक संदर्भों से बना और प्रदर्शित हुआ; ठीक उन्हीं संदर्भों में दर्शकों ने इन फिल्मों को पसंद-नापसंद किया। यानी, वर्तमान दौर का हिंदी सिनेमा क्रमशः राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक और वैचारिक परिप्रेक्ष्य से गुजरता हुआ आज की स्थिति में रचनात्मकता के विविध आयामों को प्रस्तुत कर रहा है।

भूमंडलीकरण समकालीन विश्व की विशिष्टताओं में एक है इस शब्द का प्रयोग मुख्यतः आर्थिक संदर्भ में किया जाता है। इस दृष्टि से, भूमंडलीकरण मुक्त बाजार की स्थिति में विश्व की अर्थव्यवस्थाओं के एकीकरण की प्रक्रिया है। ऐतिहासिक दृष्टि से विश्व ने उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध और बीसवीं सदी के प्रारंभ में भी आर्थिक एकीकरण का अनुभव किया था। लेकिन विश्वयुद्धों, आर्थिक मंदी और लोगों के आवागमन पर रोक के कारण लगभग 1970 ई. तक इस प्रक्रिया में अवरोध रहा। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया ने बीसवीं शताब्दी के 8वें दशक से नए प्रोत्साहनों द्वारा विकास पाया।

भूमंडलीकरण के इस स्वभाव से भारत दो हिस्सों में बँट गया। एक लगातार आर्थिक तरक्की करता भारत, दूसरा लगातार आर्थिक रूप से पिछड़ता भारत। 21वीं शताब्दी तक भारत में 'नदिया के पार' का चंदन अपना कृषक रूप खोता चला जाता है और 'हम आपके हैं कौन' का प्रेम नवधनाढ्य वर्ग से होने के कारण सफलता के कीर्तिमान रचता चला जाता है।

सिनेमा जन्म से ही निजी क्षेत्र के हाथों में रहा है। निजी पूंजी की इस भूमिका ने फिल्मों की अंतर्वस्तु पर भी शुरू से ही गहरा असर डाला है। चूँकि आठवें दशक के बाद से पूंजी प्रधान युग खम ठोक कर खड़ा हुआ, इसलिए निवेशित पूंजी के डूब जाने के डर ने फिल्मकारों को सदैव इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे कथित जन भावनाओं का ध्यान रखकर फिल्म बनाएँ। फिल्मों में लोकप्रिय कलाकारों को रखने के साथ सतही कथानक हास्य के छिछले प्रसंग, अनावश्यक नाच-गाने, भव्य सेट और मार-धाड़ के उत्तेजक दृश्य व्यावसायिक फिल्मों के लिए अनिवार्य से रहे हैं। नतीजतन मसाला/फार्मूला जनित फिल्में चलती कम, पिटती ज्यादा हैं। ऐसे में, साहित्य का रूपांतरण फिल्मों से संस्कृति के पारंपरिक साहित्यिक संवेदनाओं की चित्रानुभूति को सुखद अहसास के रूप में रखता है। फ्रांसीसी निर्माता-निर्देशक आस्तुक का कहना है कि "लिखे हुए शब्दों की तरह सिनेमा भी एक भाषा है जिसे लिखने और पढ़ने के लिए नए दृष्टिकोण की जरूरत है।"[2] वर्तमान दौर की फिल्मों ने समाज और बाज़ार के दबाव को अपने शिल्प और कौशल से ऐसा

रचा कि साहित्यिक कृति फिल्म रूपांतरण न होकर फिल्मकार का नया सृजन लगने लगी। फिल्मकारों ने कला और रचनात्मकता के आयाम को कमोबेश अपने मुताबिक दिखाया लेकिन भूमंडलीकरण के दौर में व्यावसायिक सिनेमा का साहित्य से सरोकार उतना ही है, जितना कहानीपन को बचाए रखने के लिए जरूरी हो। उनके लिए साहित्य कहानीपन से अधिक कुछ भी नहीं है और कहानी में भी बाजार के मुताबिक जो जरूरी तत्व हैं, केवल उनको ही शामिल करना उनका मुख्य लक्ष्य है।

भूमंडलीकरण के दौर में हमारे यहाँ एक नई व्यवस्था विकसित हो गई है - फिल्मों के प्रदर्शन को लेकर। यह है मल्टीप्लेक्स कल्चर। यदि मनचाही फिल्म का टिकट न मिल पाए तो दूसरी, तीसरी और चौथी स्क्रीन में भी लगी फिल्में देखने का विकल्प सामने होता है। आज फिल्म देखना एक महँगा उपक्रम है। इन सब परिस्थितियों के आलोक में साहित्य को व्यावसायिक सिनेमा से जोड़ लें तो भी, व्यावसायिक सिनेमा इतने दबावों से बनता है कि साहित्य के साथ वह न्याय नहीं कर सकता। साहित्य से वह आधारभूत कथानक या सामग्री ले सकता है, पर पर्दे पर उसका स्वरूप बदला रहता है। तभी आज का 'देवदास' कोलकाता से आएगा तो दर्शक पर वह प्रभाव नहीं पड़ेगा, जो उसे लंदन से वापस आता दिखलाने पर पड़ता है।

1980 ई. के बाद से व्यावसायीकरण के कारण फिल्मों से भारतीय संस्कृति गायब हो रही है। फिल्मों में सांस्कृतिक स्थलों का स्थान दुकानों और मॉलों ने ले लिया। भूमंडलीकरण के कारण भौगोलिक दूरियाँ मिटीं, पूरी दुनिया करीब आई, लेकिन फिल्मों में इसका प्रभाव सांस्कृतिक विविधता के थोड़ा मिटते रूप में आया। साहित्य पर आधारित फिल्में ही इस दौर में भारत के सिनेमा की पहचान बचाकर रख पाई हैं।

1980 ई. के बाद साहित्य और फिल्म का रिश्ता कठोर बौद्धिकता और साहित्यिक कृति तथा फिल्म निर्माण की अंतर्वस्तु की प्रतिकूलता में उलझकर रह गया। जबकि, इस दौर में कृतियों से ज्यादा सफल फिल्में रही। 'कोहबर की शर्त' उपन्यास से कहीं ज्यादा लोकप्रियता उस पर बनी फिल्मों, 'नदिया के पार' और 'हम आपके हैं कौन' ने अर्जित की। कारण स्पष्ट था कि औद्योगिक प्रक्रिया में व्यावसायिक दबाव के चलते फिल्मी उत्पादन को साहित्यिकता और कृति की संवेदना के बरक्स मनोरंजन के पार्श्व में तैयार किया गया। दरअसल बीसवीं सदी के अंत और इक्कीसवीं सदी के प्रारंभ के वर्षों में इतिहास ने नई करवट ली। हमारे सोचने-समझने और जीने के तरीके तकनीक, मीडिया तथा बाजार की शक्तियों के दबाव में बदल रहे हैं या बदल दिए जा रहे हैं। ऐसे में साहित्य और सिनेमा का पारस्परिक संबंध अपने समय, आगे आने वाले समय तथा पूर्ववर्ती समय (जिसे वैचारिक शब्दावली में ज्ञानोदय तथा आधुनिकता संज्ञा से पुकारा जाता है) की द्वंद्वात्मकता में एक रोचक तनाव करने वाला अनुभव है।

बाजार ने उपभोक्ता संस्कृति को जन्म दिया है। उपभोग ही आज सबसे बड़ा मूल्य बन गया है। वैश्विक अर्थव्यवस्था मांग केंद्रित न होकर, उपभोग केंद्रित है। बाजार ज्यादा से ज्यादा उपभोग की प्रवृत्ति को बढ़ावा दे रहा है। शहरी मध्यवर्ग उपभोग की उद्यम लालसा का शिकार हो गया है। बाजार के सतत विकास का मूल कारण ही यह उपभोक्तावादी संस्कृति है। बड़ी कंपनियाँ रोज नए-नए उत्पादों के रूप में नई-नई इच्छाएँ पैदा करती हैं। विज्ञापन उनके महत्वपूर्ण शस्त्र हैं। हर रोज असंख्य नए-नए विज्ञापन उपभोक्ता के दिमाग पर चौतरफा हमला करते हैं। ये विज्ञापन सार्थकता और निरर्थकता की नई-नई परिभाषाएँ प्रस्तुत करते हैं।

बाजार एक ऐसी संस्कृति को जन्म दे रहा है, जहाँ पारंपरिक मूल्य बाजार द्वारा तोड़े जा रहे हैं और बाजार सुविधा के अनुसार नए सिरे से पारिभाषित किए जा रहे हैं। ऐसे में एक आम भारतीय की स्थिति निर्मल वर्मा के शब्दों में देखी जा सकती है- "बीसवीं सदी के अंतिम दशकों में मुझ जैसे भारतीय को कभी-कभी यह लगता है कि मैं एक ऐसे ऐतिहासिक नाटक का गूंगा दर्शक हूँ या उससे भी बदतर उसका दयनीय शिकार हूँ, जिसकी स्क्रिप्ट किसी दूसरे ने लिखी है और उस पर मेरा कोई अधिकार नहीं है।"[3]

क्या कारण है कि बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में जनता की रुचि एक बार फिर पारिवारिक फिल्मों की ओर मुड़ गई। इस मांग को पूरा करने के लिए 'मैने प्यार किया', 'हम आपके हैं कौन' और 'दिलवाले दुल्हनियाँ ले जाएँगे' जैसी फिल्मों का निर्माण

किया गया और ये भारतीय पारिवारिक संबंध ठीक वही नहीं हैं, जो हमारे रोजमर्रा के जीवन में अनुभूत होते हैं। ये संबंध बहुत कुछ सपनों को बेचने जैसे हैं। ये सुनहरे सपने वही हैं, जिन्हें हम उपभोक्ता के रूप में तब्दील होते हुए खोते जा रहे हैं।

भारतीय संस्कृति को चटख रंग में परोसा जाने लगा, तभी विजयदान देथा की कृति 'दुविधा' इस युग में 'पहेली' बन जाती है। भारतीय फिल्मों की मांग विदेशों में 'भारतीयता' के इस छद्म रूप से बढ़ी। शरतचंद्र चट्टोपाध्याय का देवदास बीसवीं सदी के आखिरी दशक में इंग्लैंड रिर्टन देवदास है जो 2010 तक आते-आते 'देव-डी' जैसे हाई-फाई नाम से प्रसिद्ध हो जाता है।

उपभोक्ता संस्कृति के इस दौर में जो किताब बाजार में सफल हो जाती है, उसकी लोकप्रियता को भुनाने के लिए उस पर फिल्म बनाई जाती है। जैसे जे. के. रॉलिंग की रचना 'हैरी पॉटर' पर फिल्म सीरीज बनी या जैसे मीरा नायर ने झुंपा लाहिरी की रचना 'नेमसेक' पर इसी नाम से फिल्म बनाई, चेतन भगत की लगभग सभी लोकप्रिय रचनाओं पर फिल्में बनी हैं। आज दुनिया में कहीं भी क्लासिक साहित्य पर फिल्में नाम मात्र ही बनती हैं। भारत में भी यही स्थिति है।

फिल्म 'हम आपके हैं कौन' केशव प्रसाद मिश्र के उपन्यास 'कोहबर की शर्त' पर आधारित थी। महानगरीकरण, उपभोक्ता संस्कृति के चकाचौंधीय संस्करण के रूप में यह फिल्म 1994 ई. में प्रदर्शित हुई। इस फिल्म की सफलता यह दर्शाती है कि यह आधुनिकतावाद से आगे बढ़ा हुआ कदम था। आधुनिक जीवन शैली ने परिवारों को तोड़ा और विवाह की रस्में औपचारिकता भर रह गईं। इस फिल्म ने बाजार और उपभोग की संस्कृति में उत्सवप्रियता को पुनः आह्लादित किया और नतीजा, इस पर डॉलरों तथा पौंडों की बरसात हुई। फिल्म व्यवसाय ने भारतीयता के मस्के के साथ उपभोक्तावादी संस्कृति के चस्के को फलने-फूलने दिया और व्यापार के नए रास्ते दिखाए। फिल्मों ने भव्य सेटों की पृष्ठभूमि, संपन्न परिवार में वायवी की प्रतिबद्धता, उत्कृष्ट संगीत के जरिए कथा-तत्व आदि का संयोजन समय के अनुरूप किया। अप्रवासी भारतीयों के बीच आदित्य चोपड़ा और करन जौहर ने शाहरुख को बढ़ा-चढ़ाकर खूब पैसा और नाम कमाया तथा भारतीयता को 'प्रोडक्ट' के रूप में बेचा।

'कोहबर की शर्त' उपन्यास पर सर्वप्रथम 'नदिया के पार' फिल्म गोविंद मुनिश के निर्देशन में 1982 ई. में प्रदर्शित हुई। 'नदिया के पार' में मौन मुहब्बत की मिठास और ग्रामीण जीवन की रागात्मगकता, फिल्म के एक-एक फ्रेम में बसी हुई है। निर्माता-निर्देशक ने लेखक केशव प्रसाद मिश्र के उपन्यास के पूर्वार्द्ध को बहुत ही कुशलतापूर्वक एक आदर्शवादी फिल्म में रूपांतरित कर दिया है। मुंबई में पहले प्रदर्शन पर तो इसका दर्शकों द्वारा ठंडा स्वागत हुआ, लेकिन जब मध्य भारत और उत्तर भारत में इसका प्रदर्शन हुआ, तब दर्शक उमड़ पड़े। छोटी जगहों पर भी इसकी सिल्वर/गोल्डन जुबली हुई। सही अर्थों में यह ग्रामीण परिवेश की फिल्म थी, जिसमें यहाँ का जनजीवन, रस्मो-रिवाज पूरी जीवंतता और ताजगी के साथ उभरकर आया था। उपभोक्ता संस्कृति के आरंभिक दशकों में, जब रचनात्मकता के ऊपर वित्तीय पूंजी हावी हो रही थी, तब 'नदिया के पार' ने साहित्य और सिनेमा के सार्थक संबंध की दिशा में अग्रसर हो रहे हिंदी सिनेमा और साहित्य के आपसी संबंधों को मुखर किया।

'नदिया के पार' छोटी सी साधारण कहानी पर बनी असाधारण फिल्म है। फिल्म का लोकजीवन से जुड़ा मानवीय पक्ष, रहन-सहन का स्तर, वेशभूषा, गीतों की लोकधुन, शब्द-विन्यास, सहज-सरल-सीधे संवाद और गँवई संवेदना ही इसकी शक्ति और सफलता का कारण है।"[4] इस फिल्मी लोककथा ने जो खुशनुमा ग्रामीण परिवेश रचा और सफलता पाई, वह 1980 ई. के बाद के दौर में दूसरी फिल्म द्वारा संभव नहीं हो पाई। कारण स्पष्ट था कि भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में उपभोक्ता संस्कृति ने ग्रामीण परिवेश को प्रस्तुत कर वित्तीय लाभ के आसार को नहीं माना। बाजार तथा उपभोक्ता संस्कृति का प्रतिरोध करती हुई यह फिल्म कहीं-न-कहीं एक साहित्यिक फिल्म का बढ़िया उदाहरण है।

1991 ई. से देश में कई परिवर्तन हुए हैं। नियंत्रित एवं आंतरिक दृष्टि रखने वाली अर्थव्यवस्था बाह्य दृष्टि वाली हो रही है। अधिकांश कार्यक्षेत्रों में राज्य का स्थान निजी उद्यम ले रहे हैं। राष्ट्रीय बाजार

का विकास बाजार के सिद्धांतों के आधार पर विश्व व्यवस्था से एकीकृत होता है। बाजार व्यवस्था हमेशा मुनाफे की खोज में लगी रहती है। मुक्त प्रतियोगी बाजार कार्यकुशलता की गारंटी तो दे सकता है, लेकिन अनिवार्य रूप से समानता को सुनिश्चित नहीं रख सकता। इसलिए बाजार व्यवस्था में 'इन अदृश्य हाथों' पर अपार विश्वास विश्व को असहनीय असमानता के अनेक स्तरों की ओर ढकेल रहा है।

हिंदी सिनेमा में उच्च मध्यवर्ग को ही अभिव्यक्ति मिल पाई। साहित्यिक कृतियों पर बनी फिल्मों का शिल्प भी उच्च मध्यवर्ग को लुभाने के लिए तैयार किया गया। आमोल पालेकर, सूरज बड़जात्या आदि बाजारवाद के अन्वेषण में सफल हुए और उन्होंने साहित्यिक सिनेमा की अपनी अलग भाषा का आविष्कार किया। 'नौकर की कमीज', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', 'दामुल', मोहनदास आदि साहित्यिक कृतियाँ फिल्मी रूपांतरण से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं।

विजयदान देथा का कहना है कि "हिंदी सिनेमा की इस व्यावसायिकता के नशे पर हमारे यहाँ की एक कहावत सटीक बैठती है। छोटे ठाकुर जब शौच के लिए खेत-मैदान जाते थे तो उनके लोटे के पानी में अफीम मिला दी जाती थी। इस तरह बचपन से ही गुदा मार्ग से अफीम उनके शरीर में जाती थी और बड़े होकर वह उस नशे के आदी हो जाते थे। हमारे फिल्म निर्माता इसी तरह व्यावसायिकता के नशे के आदी हो चुके हैं। अभी हमने देवदास का हश्र देखा है। इसमें जिस तरह माधुरी दीक्षित और ऐश्वर्या राय जैसी दो स्टार हीरोइनों को लिया गया, तो सारी फिल्म उन्हीं की टक्कर में चली गई। देवदास के साथ शरतबाबू की भी हत्या हो गई।"[5]

हिंदी सिनेमा आज के दौर में एक व्यावसायिक कला है। इसकी निर्मिति के लिए प्रचुर धन चाहिए। ऐसे में साहित्यिक कृतियों का रूपांतरण एक पैशन, सामाजिक जिम्मेदारी भी है, ताकि आज के अफलातूनी खरीद-बेच के समय में किस्सागोई की मूल संवेदना जिंदा रह सके। 'पहेली' के निर्देशक ने वर्तमान दौर की बाजारवादिता में साहित्यिकता को ओछे ढंग से बचाया। लेकिन मनोरंजन के माध्यम से पैसा कमाना फिल्म निर्माण की बुनियादी शर्त भी है।

उत्तर आधुनिकता की विवेचना के क्रम में, 'आधुनिकता' हमारा आधार तैयार करती है। आधुनिकता के जिन विचारों से उत्तर आधुनिकता का झगड़ा है, उनमें सर्वप्रमुख हैं- तार्किकता, किसी भी तरह के भेद से ऊपर उठकर मानव-मानव में अनुभव की एकता, महावृत्तांतों की प्रमुखता, व्यक्ति की स्वायत्तता, सफलतावादी दृष्टिकोण, सार्वभौमिक सत्य की कल्पना और भाषा की पारदर्शिता। इन्हीं झगड़ों से उत्पन्न हो देवदास उत्तर आधुनिक संदर्भों में 'देव-डी' में परिणत होता है। तार्किकता को परे रखकर कहा जाता है कि "तू मुखिवा को मारकर दामुल पर काहे नहीं चढ़लरे।" सफलतावादी दृष्टिकोण के विरोध में 'नौकर की कमीज' उपन्यास और फिल्म बार-बार पढ़ने और देखने की अपील करती है। यह हर बार हमारे लिए विचार करने का एक नया स्पेस निर्मित करती है, जो पहले वाले स्पेस से एकदम भिन्न होता है। व्यक्ति की स्वायत्तता तथा महावृत्तांतों की प्रमुखता के विरोध में 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' फिल्म का निर्माण एक महत्वपूर्ण उत्तर आधुनिक संदर्भ है। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' कई घुमावदार कथानकों को लेकर चलता है। उपन्यास एवं फिल्म, दोनों में व्यक्ति की स्वायत्तता बार-बार खंडित होती है, इनमें छोटी-छोटी कहानियों के जरिए मध्यवर्ग के जीवन के विभिन्न भावों को उकेरा गया है। शमा जैदी ने धर्मवीर भारती के इस उपन्यास की पटकथा को सार्थक रूप दिया है। कथा के विभिन्न मूड नायकत्व के परिवेश को कभी उत्पन्न नहीं होने देते। कहानी के अंदर कहानी की किस्सागोई शैली महावृत्तांत की अवधारणा को ध्वस्त करती है।

उत्तर आधुनिक विमर्श भारतीय-सांस्कृतिक अवधारणा में थोड़ा ठूँसा हुआ प्रतीत होता है। इसलिए जनसंचार के विभिन्न माध्यमों, जैसे टेलीविजन, अखबार आदि में मध्ययुगीन मानसिकता के धार्मिक प्रवचन, देवी-देवताओं की महिमा का गान करने वाले सीरियल्स दिखाए जाते हैं। इस पर भी, मध्ययुगीन मानसिकता द्वंद्व में उत्तर आधुनिक विमर्श साहित्य और सिनेमा द्वारा दलित मुक्ति, स्त्री स्वाधीनता और मनुष्य की स्वतंत्रता की पैरवी करता दिखता है।

उत्तर आधुनिकता अतिविकसित समाज के साथ संबद्ध की जाती है। ऐसी अनुकूल स्थितियाँ विशेषतः

भारत के महानगरों में दिखाई देती हैं। मास मीडिया द्वारा संवेदनाशून्य बना देने वाला पॉपुलर कल्चर परोसा जा रहा है। इनके सहयोग से विकसित हुई उपभोक्तावादी संस्कृति इतिहास, चरित्र, तार्किकता, नैतिकता, मूल्य-व्यवस्था को खंडित कर रही है। यह आज के शहरी मध्यवर्गीय भारतीय समाज की सच्चाई प्रतीत हो रही है। ऐसे दौर में हिंदी फिल्में भी अछूती नहीं रही हैं। 'रंग दे बसंती' नव्य ऐतिहासिक विमर्श को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करती है तो 'लगे रहो मुन्नाभाई' गांधीवाद को पुनर्व्याख्यायित करती है। दरअसल इस तथाकथित उत्तर आधुनिक परिवेश में बीसवीं सदी के अंतिम दशक से हमारी संस्कृति मूलतः एक 'सिनेमाई संस्कृति' होती चली जा रही है।

उत्तर आधुनिक संदर्भों के कारण नक्सलवाद, आतंकवाद, सामाजिक-आर्थिक, वर्गीय चरित्र की सच्चाई आदि फलक पर आना शुरू होती हैं, जो अति-औद्योगिक आधुनिकता की देन है। प्रकाश झा हिंदी फिल्मों के माध्यम से 'दामुल' से लेकर 'अपहरण' तक की यात्रा को बिहार की राजनैतिक यात्रा के प्ररिप्रेक्ष्य में देखते हैं। क्रमशः 'दामुल', 'मृत्युदंड', 'गंगाजल' और 'अपहरण' फिल्में बिहार के तीन दशकों की राजनैतिक यात्रा को दर्शाती हैं। इन सबमें राजनीति के साथ-साथ हर समस्या के मूल में कहीं न कहीं आर्थिक प्रभाव भी है। कथाकार शैवाल की कहानी 'दामुल' पर बनी 'दामुल' फिल्म दलित-पिछड़ों और सामंतों के आपसी टकराव को दर्शाती है। 1970 ई. के बाद बिहार के भूमिहीन किसान सामंतों के चंगुल से निकलने के लिए छटपटाने लगे। इसी दौर में नक्सलवादियों का प्रभाव विस्तार पाया। इसी पृष्ठभूमि में 'दामुल' की कथा निरूपित है, जो अपने कथन, अभिनय क्षमता, अद्भुत पृष्ठभूमि के रचाव से कलात्मकता का दर्शन कराती है।

उत्तर आधुनिकता की विचारधारा से प्रभावित होकर 'नौकर की कमीज' (1999 ई.) का निर्माण मणि कौल ने किया। 'नौकर की कमीज' भाषा की पारदर्शिता के आधुनिक मानदंड को तोड़ती है। इस फिल्म का संवाद - "साहब की कमीज पहनने से कोई साहब नहीं होता और 'नौकर की कमीज' पहनने से कोई....।" 'कोई' के बाद संवाद मौन हो जाता है। 'कोई' शब्द इस दृश्य में 'हास्य' और 'तनाव', दोनों उत्पन्न करता है और गहरे अर्थ की व्यंजना करता है, जो दर्शक अपने-अपने परिवेशगत और स्वभावगत मानसिक अवस्था से ग्रहण कर सकते हैं।

फिल्म एक स्पेस का निर्माण करती है और केंद्रीयता की अवधारणा को ध्वस्त करती है। कला माध्यम होने के साथ-साथ सिनेमा को बाजार के उत्पादन के संसाधनों और ताकतों का इस्तेमाल करके दर्शकों तक पहुँचना होता है। दर्शकों तक पहुँचने के लिए उसे जिस प्रक्रिया का इस्तेमाल करना होता है, वह प्रक्रिया वही होती है, जो अन्य उत्पादों के लिए जरूरी होती है। सिनेमा को वैसे भी आमतौर पर उद्योग की श्रेणी में रखा जाता है। इस दृष्टि से देखने पर सिनेमा एक उत्पाद है, लेकिन यह कला-उत्पाद है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. मैनेजर पांडेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ. 124
2. महेंद्र मित्तल, भारतीय चलचित्र, पृ. 2
3. निर्मल वर्मा, पत्थर और बहता पानी, पृ. 61
4. वसुंधरा 81, (सं.) स्वयं प्रकाश, राजेंद्र शर्मा, पृ. 417
5. आउटलुक, (सं.) आलोक मेहता, सितंबर 2007 पृ. 24

– सहायक प्रवक्ता (हिंदी विभाग), मोतीलाल नेहरू कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

❑❑❑

सिनेमा : आज और कल

डॉ. श्रवण कुमार

जयशंकर प्रसाद ने 'इड़ा सर्ग' में लिखा है-

उस रम्य फलक पर नवल चित्र सी, प्रकट हुई सुंदर बाला।
उस नयन महोत्सव की प्रतीक, अम्लान नलिन की नवमाला।।[1]

कामायनी के इड़ा सर्ग में लिखीं ये पंक्तियाँ सिनेमा के स्वरूप पर सटीक टिप्पणी करती हैं। नवल प्रकृति के व्यापार को हम पर्दे पर देख रहे हैं। सिनेमा का इतिहास कुछ-कुछ "फ़लक पर नवल चित्र सी प्रकट हुई नवबाला" के समान रहा है अब वह प्रौढ़ परिपक्व हो गई है। आइए जाने इसकी विलक्षण यात्रा-

सिनेमा के सौ वर्ष

सिनेमा बीसवीं सदी की कला है। वाल्टर बेंजामिन ने लिखा है- "आधुनिक कलाएँ उन परंपरागत कलाओं से बिल्कुल भिन्न होती हैं जो अपने चारों ओर एक 'प्रभामंडल' और एक 'अधिकार' भावना रखती हैं। लेकिन आज की कलाएँ खासतौर पर फिल्में इस तरह का कोई प्रभामंडल नहीं रखती। जनता इन कलाओं से गहरे रूप से जुड़ी रहती है। लोग इनसे मनोरंजन ही हासिल नहीं करते बल्कि इनके साथ कहीं गहरा संबंध होता है।"[2] बेंजामिन फिल्मों को 'राजनैतिक जनांदोलन' का सबसे प्रभावशाली माध्यम मानते हैं।

सिनेमा का जन्म फ्रांस में हुआ। आधुनिक कलाओं की जननी फ्रांस में 1839 में एक फ्रांसीसी ने छायांकन की तकनीक का आविष्कार किया, नाम था- लुई दुगारे। इस आविष्कार ने सिनेमा के भविष्य को लेकर कई संभावनाएँ पैदा की। कैलिफोर्निया के गवर्नर लीलैंड की जिज्ञासु प्रवृत्ति तथा सैन फ्रांसिस्को के छायाकार एडवर्ड मेंब्रिज के छायांकन संबंधी प्रयोग ने 'प्रेक्सीनोस्कोप' और 'काइनेटोस्कोप'[3] को जन्म दिया। हालांकि 1882 में 'प्रेक्सीनोस्कोप' को एमिली रिनार्ड तथा टॉमस अल्वा एडिसन ने 'काइनेटोस्कोप' का आविष्कार कर उन्हें पंजीकृत कराया था। डिकसन, एडिशन के सहयोगी थे और एडिशन की भूमिका मात्र व्यापारी की थी। इसके पूर्व 1873 में प्लेटों की मशहूर दूरबीन 'फेनाकिस्टोस्कोप' के सिद्धांत पर फ्रांस के कल्पनाशील छायाकार पेरे जूल्स सिज़र जॉनसन ने एक अद्भुत कैमरे का निर्माण किया जिसे 'फोटोग्राफिक राइफल्स' के नाम से जाना गया।[4] उन्होंने अपने इसी अद्भुत कैमरे से शुक्र ग्रह की यात्रा को बहत्तर सेकेंड में अड़तालीस छायाचित्रों द्वारा कैद किया। यह सिनेमा के जन्म की ओर एक और महत्वपूर्ण कदम था। 29 अक्तूबर, 1888 को एक ऐसे कैमरे का आविष्कार हुआ जो एक सेकेंड में कुल तीस चित्रों को कैद कर सकता था। इसके आविष्कारक थे- चिकित्सक मर्सी। 1890 में जॉर्ज ईस्टमैन द्वारा 'सेल्यूलाइड' के व्यावसायीकरण ने चलचित्रों के विकास की प्रक्रिया में जान फूँक दी। इसी क्रम में जार्ज जैमिनी ने 1893 में कुछ लघु फिल्मों का निर्माण किया।

इस प्रयोगात्मक दौर में कई प्रचलित नामों के बावजूद फ्रांस के लुईस ल्यूमेर को सिनेमा का जनक माना गया। ल्यूमेर व्यवसायी व्यक्ति थे। उनकी कंपनी 'ल्यूमेर कंपनी' के नाम से लोकप्रिय थी। 22 मार्च, 1895 में लुईस ल्यूमेर ने अपनी प्रथम कथा फिल्म 'लि अरोजेर अरोज़' का प्रदर्शन कर सबको चौंका दिया।[5]

भाषा ISSN 0523-1418

इस प्रदर्शन ने विश्व सिनेमा में क्रांति का सूत्रपात किया। फिल्म के प्रदर्शन ने ल्यूमेर एवं उनके साथियों को 'ल्यूमेर बंधुओं' के नाम से प्रसिद्ध कर दिया। ल्यूमेर बंधुओं के व्यावसायिक प्रदर्शनों ने सिनेमा के भविष्य को सुनहरा बना दिया। यथार्थ एवं कल्पना का नया संसार खड़ा कर दिया। नोवागार्द के समारोह में 'बाग में पानी देता माली' फिल्म देखने के बाद प्रसिदध कथाकार मैक्सिम गोर्की ने टिप्पणी की थी- "कल रात मैं छायाओं के साम्राज्य में था... और मैंने ल्यूमेर के सिनेमेटोग्राफ द्वारा प्रदर्शित चलचित्र देखें.... इन बिंबों का प्रभाव असाधारण, विलक्षण, जटिल और बहुआयामी था। मुझे नहीं लगता मैं इस प्रभाव के सभी पहलुओं की स्पष्ट व्याख्या करने में समर्थ हो पाँऊगा... तुम सोचते हो कि यह बौछार सीधे तुम्हारे चेहरे पर भी पड़ेगी और तुम तेजी से पीछे हट जाते हो... तुम भूल जाते हो कि तुम कहाँ हो। अद्भुत कल्पनाएँ तुम्हारे दिमाग में प्रवेश करने लगती हैं। मुझे पूरा यकीन है कि बहुत जल्दी ही इन फिल्मों के स्थान पर अलग तरह की फिल्में दिखाई जाने लगेंगी।"[6] गोर्की की यह आलोचनात्मक टिप्पणी सिनेमा के भविष्य को बड़ी बारीकी से पकड़ रही थी। उनकी यह टिप्पणी सिनेमा की संभावनाओं को तलाशती है। सिनेमा आज उसी रूप में हमारे सामने खड़ा है जिसके बारे में गोर्की सोच रहे थे। सिनेमा हमारी कल्पनाओं को पंख दे रहा है।

भारत में सिनेमा

भारत में सिनेमा की शुरुआत उतनी ही रोचक है जितनी कि यूरोप में। भारत में 7 जुलाई, 1896 में चलचित्रों (सिनेमा) का पहला प्रदर्शन हुआ। यह प्रदर्शन मुंबई के वाटसन होटल में हुआ। ल्यूमेर बंधुओं के इस फिल्म प्रदर्शन पर 'टाइम्स ऑफ इंडिया' ने लिखा "एक शक्तिशाली लालटेन की मदद से वास्तविक जीवन से मिलते-जुलते बहुत से दृश्य पर्दे पर दिखाई गए। जिस प्रकार प्रत्येक पात्र की भावभंगिमा अत्यंत स्पष्टता से प्रस्तुत की जा सकी, उससे पता चलता है कि छायांकन की कला और जादुई लालटेन का गठजोड़ किस उन्नत स्थिति तक पहुँच चुका है। एक मिनट में लगभग सात-आठ सौ छायाचित्र पर्दे पर प्रकाशमान होते हैं। इन दृश्यों को दर्शकों ने बेहद पसंद किया।"[7] भारत में फिल्म का आगमन किसी चमत्कार से कम नहीं था। इस प्रदर्शन ने भारत में दर्शकों का नजरिया बदल दिया। 'नोवेल्टी थिएटर' नाटक के प्रदर्शन के लिए इस्तेमाल होता था, अब वहाँ शाम को छह बजे के बाद फिल्मों का प्रदर्शन होने लगा। भारत में शुरुआती फिल्म प्रदर्शन एवं निर्माण का कार्य विदेशियों ने संभाला। 1898 में 'हमारा भारतीय साम्राज्य', 'लखनऊ का महान इमामबाड़ा', मुंबई स्टेशन पर रेलगाड़ी का आगमन' जैसी कई सूचनात्मक फिल्में बनीं।[8] इन फिल्मों को प्रायः विदेशियों ने ही बनाया था।

1912 में भारत की पहली फीचर फिल्म बनी- 'पुंडलिक'। जिसे संयुक्त रूप से आर.जी. तोर्णे और एन.जी. चित्रे ने बनाया।[9] लेकिन इसे पूर्ण भारतीय फिल्म नहीं माना गया क्योंकि इसके निर्माता एवं छायाकार विदेशी थे। भारत की पहली फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' थी। यह हर कोण से एक स्वतंत्र एवं संपूर्ण फीचर फिल्म थी, जिसे भारतीय निर्माता द्वारा भारतीय दर्शकों के लिए बनाया गया।[10] कथा कहने और दिखाने की पहली शुरुआत 'राजा हरिश्चंद्र' से हुई जिसे 1913 में दुडिराज गोविंद फाल्के अर्थात् दादा साहेब फाल्के ने बनाया जो 13 मई, 1913 को मुंबई के कोरोनेशन सिनेमाघर में प्रदर्शित हुई। दादा साहेब फाल्के ने लगभग सौ फिल्मों का निर्माण किया, जिनमें से महज चार फिल्में ही राष्ट्रीय अभिलेखागार में संगृहीत हैं। दादा साहेब फाल्के के इन्हीं प्रयासों ने उन्हें 'भारतीय सिनेमा का जनक' बना दिया। 1931 में आर्देशिर ईरानी की पहली सवाक् फिल्म 'आलम-आरा' के बनने से पूर्व बारह सौ अट्ठासी मूक फिल्मों का निर्माण हो चुका था। बारह सौ अट्ठासी फिल्मों में से महज़ तेरह फिल्में ही राष्ट्रीय अभिलेखागार में उपलब्ध हैं।[11] जिनमें फाल्के की 'कालियामर्दन', 'राजा हरिश्चंद्र', 'श्रीकृष्णजन्म' तथा 'लंकादहन', हिमांशु राय की 'प्रेम संन्यास', 'सिराज' और 'प्रपंच पाश', जी. पी.पवार की 'दिलेर जिगर' और 'गुलामी का पतन', हरिलाल एम. भट्ट की 'पितृप्रेम' तथा पी.एन. राव की 'मार्तंड वर्मा' प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त 'संत तुकाराम' तथा 'भक्त प्रहलाद' जैसी फिल्में भी यहाँ संगृहीत हैं।

1931 में आर्देशिर ईरानी, अब्दुलअली और युसूफअली ने पहली बोलती फिल्म 'आलम-आरा' बनाई। इस फिल्म ने भारत निर्माण परंपरा को बदला। धार्मिक विषयों की अपेक्षा सामाजिक मुद्दों पर फिल्में

बनने लगीं। तीस-चालीस के दशक में हॉलीवुड का भारतीय सिनेमा पर प्रभाव दिखने लगता हैं परिणामस्वरूप हिंदी सिनेमा सामाजिक एवं मानवीय संबंधों पर बात करने लगा। इस दौरान मध्यकालीन संतों पर भी कई फिल्में बनीं, जिनमें 'संत तुकाराम', 'भक्त कबीर', 'संत तुलसीदास', 'संत ज्ञानेश्वर', 'नरसी मेहता' आदि। उद्देश्य था- इनके त्याग, आपसी प्रेम, सद्भाव, सामाजिक समरसता से जुड़े व्यक्तित्व का प्रदर्शन। जिससे समाज में आदर्श की स्थापना की जा सके।

सवाक् फिल्मों ने भारतीय सिनेमा को पहली बार गीत दिए। 'आलम-आरा' में कुल सात गीत थे।[12] 1943 में बनी 'किस्मत' फिल्म के देशभक्ति गीतों ने भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में जान फूँक दी। कवि प्रदीप का लिखा गीत- 'दूर हटो ऐ दुनियावालों हिंदुस्तान हमारा है' ने लोकप्रियता के शिखर को छुआ और नए आयाम स्थापित किए। इस गीत ने नौजवानों में प्राण फूँक दिए। स्वतंत्रता आंदोलन को दिशा देने के लिए सिनेमा का भरपूर उपयोग किया गया। इस प्रकरण में कई फिल्में प्रतिबंधित की गईं। जिसमें द्वारकादास संपत की 1921 में बनी फिल्म 'भक्त विदुर' प्रमुख थी। इस फिल्म में भक्त विदुर को 'गांधी' की तरह दिखाया गया था तथा 'दीवान बहादुर' के खिताब को 'डॉकी बहादुर' कहकर व्यंग्य किया गया था।[13]

आजादी के बाद

15 अगस्त, 1947 को भारत आजाद हुआ। आजादी के उपलक्ष्य में 'इप्टा' ने 'आजादी का उत्सव' नामक फिल्म बनाई।[14] इसी वर्ष सी. रामचंद्र के संगीत निर्देशन में बनी फिल्म 'शहनाई' का गीत 'आना मेरी जान संडे के संडे' आज भी रेडियो एवं विज्ञापनों का हिस्सा है। इसी फिल्म से किशोर कुमार ने अपना फिल्मी सफर शुरू किया था। 1948 में अमीरी-गरीबी के बीच के अंतर को और उससे प्रभावित हो रहे नौजवानों की पीड़ा को आधार बनाकर राजकपूर ने 'आग' फिल्म बनाई। यह वह नौजवान था जो बेहतर जिंदगी की उम्मीद में जी रहा था। इसी वर्ष फिल्म निर्माण कंपनी 'जैमिनी' के बैनर तले बनी 'चित्रलेखा' जो अब तक की सबसे महंगी और फिल्म इतिहास की सबसे हिट फिल्म साबित हुई।

1949 के बाद के वर्ष गीतों के वर्ष रहे। इस दौरान सुपरहिट म्यूज़िकल फिल्में आईं। जिनमें 1950 की 'बाबुल' तथा 'बावरे नैन' का संगीत अत्यंत लोकप्रिय रहा। 'समाधि' फिल्म भले ही न चली हो परंतु उसके गीत 'गोरे-गोरे ओ बांके छोरे' और देशभक्ति गीत 'कदम-कदम बढ़ाए जा' आज भी हमारे ज़ेहन में हैं।

1951 में पत्रकार से निर्देशक बने बी. आर. चोपड़ा ने 'अफसाना' फिल्म से शुरुआत की और हिंदी सिनेमा को कई धारदार फिल्में दीं। उनकी फिल्मों में 'नया दौर', 'साधना', 'वक्त', 'अवाम', 'मज़दूर' और 'निकाह' जैसी कई सुपरहिट फिल्में थीं। 1951 में बनी 'बरसात' एवं 'आवारा' ने भारतीय सिनेमा को अंतरराष्ट्रीय पहचान दी। 1951 में फिल्म 'बाज़ी' आई और गुरुदत्त जैसा प्रतिभाशाली निर्देशक सामने आया। 1952 की सुपरहिट म्यूज़िकल फिल्म 'बैजू बावरा' ने संगीत के सारे रिकॉर्ड्स तोड़ डाले।

1964 से 1977 के बीच भारतीय राजनीति अनिश्चितता के दौर से गुजरी। भारतीय सिनेमा पर भी इसका असर दिखा। इसी दशक में सिनेमा में एक और क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। फिल्में श्वेत-श्याम से रंगीन हो गईं। फिल्म बनाने का खर्चा बढ़ गया। इस दशक की शुरुआती रंगीन फिल्मों में 'गंगा-जमुना', 'जंगली' प्रमुख थीं। 1960 में फिल्म वित्त निगम की स्थापना हुई।[15] फिल्म वित्त निगम की सहायता से मृणाल सेन, विमल राय, गुरुदत्त, सत्यजीत रे, ऋषिकेश मुखर्जी, रमण देसाई जैसे रचनात्मक फिल्मकार सामने आए। इसी क्रम में हम श्याम बेनगेल, पहलाज़ निहलानी को भी रख सकते हैं।

सत्तर का दशक 'यंग एंग्री मैन' अर्थात् अमिताभ बच्चन का रहा। प्रकाश मेहरा की 'जंजीर' फिल्म से हिंदी सिनेमा को व्यावसायिक दिशा मिली। 'जंजीर', 'दीवार', 'शोले', 'अमर अकबर एंथनी' ने फिल्मी अर्थशास्त्र को नई ऊँचाई दी। सत्तर से अस्सी के दशक में अमिताभ बच्चन छाए रहे। 1990 में आई 'मैंने प्यार किया' जिसने फिल्म में फिर से प्रेम एवं संगीत को पुनर्स्थापित किया। अंतिम दशक भूमंडलीकरण लेकर आया और इसने दुनिया देखने का नजरिया बदल दिया। फिल्में बाज़ार और विशेष वर्ग को ध्यान में रखकर बनाई जाने लगीं। फिल्मांकन देशी लोकेशन की अपेक्षा विदेशी लोकेशन में होने लगा। भारतीय पारिवारिक मूल्यों में बदलाव दिखने लगे। 'दिलवाले दुल्हनिया ले जाएँगे' इसका सबसे अच्छा उदाहरण है। इस फिल्म में

आप भूमंडलीकरण का प्रभाव देख सकते हैं। इस दौर की फिल्मों ने मनोरंजन के साथ-साथ भारतीय मूल्यों का बाजारीकरण शुरू कर दिया। हालांकि आज का सिनेमा अपेक्षाकृत ज्यादा रियलिस्टिक हुआ है।

सिनेमा का समाज या समाज का सिनेमा

सिनेमा मनोरंजन के साथ-साथ एक लोक माध्यम भी है। सवाल यह है कि सिनेमा अपने आप में समाज है या समाज का प्रतिबिंब। समय के साथ सिनेमा ने यह सिद्ध कर दिया कि एक स्वतंत्र कलात्मक विधा होने के बावजूद समाज की छवियाँ ही उसके पर्दे पर चलती हैं। हालांकि फिल्म समीक्षक जवरीमल्ल पारख मानते हैं- "सिनेमा आधुनिक युग की सामूहिक जन कला है। वह लोक कलाओं की तरह जनता की सच्ची और निस्संग भावनाओं की रचनात्मक अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है। सिनेमा की रचना जनता के लिए है लेकिन जनता द्वारा नहीं।"[16] वे मानते हैं कि सिनेमा जनता को 'उपभोक्ता' में बदल देती है। व्यावसायिक सिनेमा के संदर्भ में उनकी यह बात सोलह आने सच है परंतु समानांतर सिनेमा के संदर्भ में उनकी यह बात सही नहीं कही जा सकती।

सिनेमा का जन्म भले ही मनोरंजन के माध्यम के रूप में हुआ हो और प्रारंभिक दौर में यह बात सही भी ठहरती है। सिनेमा की शुरुआत धार्मिक फिल्मों से होती है परंतु धीरे-धीरे फिल्में 'विषय' को लेकर गंभीर हो जाती हैं। 1936 में दलित समस्या पर फिल्म बनी- 'अछूत कन्या'। इस फिल्म में भारतीय समाज की एक कड़वी सच्चाई दिखाई गई। सिनेमा जन-भावनाओं को सही दिशा देने का काम करता है। सामाजिक मुद्दों पर बनी गंभीर फिल्मों ने अपना काम बखूबी किया। 'अछूत कन्या' से लेकर 'सुजाता' (1959), 'मंथन' (1976), 'मृगया' (1976), 'आक्रोश' (1980), 'सद्गति' (1981), 'दामुल' (1984), 'बैंडिट क्वीन' (1995) जैसी कई अन्य फिल्मों ने सिनेमा का सामाजिक पक्ष सामने रखा। इसके पूर्व 1950 में व्ही. शांताराम की फिल्म 'दहेज' ने स्त्री मुक्ति की समस्या को उठाकर सिनेमा को जनसंपर्क से जोड़ा। इस श्रेणी की आगे की फिल्मों में 'मदर इंडिया', 'साहेब बीवी और गुलाम', 'प्यासा', 'मंडी', 'दामिनी', 'दायरा', 'चांदनी बार' जैसी कई महत्वपूर्ण फिल्में हैं। शुरुआती सिनेमा किसानों एवं मजदूरों को लेकर सतर्क था परंतु धीरे-धीरे ये मुख्यधारा की फिल्मों से गायब होते गए। 'दो बीघा जमीन', 'नया दौर', 'मदर इंडिया', 'गंगा जमुना', जैसी फिल्मों में गाँव, किसान और मजदूर मौजूद थे। अब देश की सत्तर प्रतिशत आबादी फिल्मों से लगभग गायब हो चुकी है।

साहित्य और सिनेमा

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है तो सिनेमा को उस दर्पण की प्रतिच्छाया। साहित्यिक कृतियाँ फिल्मों के लिए हमेशा प्रेरणास्रोत रही हैं। प्राचीन महाकाव्यों और रचनाओं पर फिल्में बनीं तो साहित्यिक विधाओं, जैसे- कहानी, उपन्यास, नाटक आदि पर भी फिल्में बनी हैं। प्रेमचंद ने अपने प्रसिद्ध लेख 'सिनेमा और जीवन' में साहित्य और सिनेमा के संबंध को कुछ इस ढंग से समझाया। उन्होंने लिखा- "साहित्य जनरुचि का पथप्रदर्शक होता है, उसका अनुयायी नहीं। सिनेमा जनरुचि के पीछे चलता है, जनता जो कुछ मांगे वही देता है।"[17] प्रेमचंद 'जनरुचि' के आधार पर साहित्य और सिनेमा को एक नहीं मानते। हम सब जानते हैं कि 'हंस' पत्रिका को चलाने के लिए प्रेमचंद ने फिल्म लेखन भी किया था। परंतु वहाँ वे असफल रहे। यह लेख उनके फिल्म लेखन के अनुभवों का निचोड़ है। असफल होने की उनकी पीड़ा इस लेख में स्पष्ट दिखती हैं इसीलिए उन्होने सिनेमा की तुलना 'ताड़ी' से और साहित्य की तुलना 'दूध' से की।[18] प्रेमचंद फिल्मों को 'निम्न भावनाओं की विशेष तृप्ति[19] का साधन मानते हैं। अपने समय के साहित्य और सिनेमा के बीच के अंतर को प्रेमचंद बखूबी समझते थे हालांकि वे दोनों के एकरूप होने की संभावना भी देखते हैं। वे लिखते हैं- "अभी वह जमाना बहुत दूर है जब सिनेमा और साहित्य का रूप एक होगा। लोकरुचि जब इतनी परिष्कृत हो जाएगी कि वह नीचे ले जाने वाली चीजों से घृणा करेगी तभी सिनेमा में साहित्य की सुरुचि दिखाई पड़ सकती है।"[20] प्रेमचंद की भविष्यवाणी निरर्थक साबित नहीं हुई। मृणाल सेन, विमल राय तथा सत्यजीत रे ने सिनेमा और साहित्य के कलात्मक अंतर को कम किया। निःसंदेह गंभीरता की दृष्टि से साहित्य बीस ठहरेगा परंतु लोकप्रियता की दृष्टि से सिनेमा सब पर भारी है। गुलजार ने अपने लेख 'सिनेमा एवं साहित्य' में लिखा "सिनेमा के बारे में दूसरी रोचक बात दर्शकों की

भागीदारी है। साहित्य में पाठकों की भागीदारी नहीं होती। सिनेमा के पास खेल के दर्शकों की तरह हर स्थिति के लिए सुझाव होते हैं। सिनेमा का दर्शक सेट, पोशाक, कलाकार और यहाँ तक कि बजट पर भी बहस करता है।"[21] इस अंतर के बावजूद गुलजार मानते हैं कि सिनेमा ने अपने आरंभिक चरण में और अपना भविष्य संवारने के लिए साहित्य से ही प्राणतत्व ग्रहण किया।[22] साहित्य के पास सिनेमा के लिए अपार भंडार है। यहाँ तक कि साहित्यिक गीतों, गज़लों कव्वालियों को फिल्मों में पर्याप्त स्थान मिला। गालिब की ग़ज़ल 'हजारों ख्वाहिशें ऐसी' नाम से 2003 में सुधीर मिश्रा ने एक फिल्म भी बनाई थी।

साहित्य और सिनेमा में एक बड़ा अंतर कलात्मक अभिव्यक्ति का है। दोनों अलग-अलग विधाएँ हैं। कैमरे की भाषा साहित्य की भाषा से भिन्न है और संभवत इसी कारण कभी-कभी साहित्य का फिल्मांतरण सही रूप में नहीं हो पाता। जैसे महाश्वेता देवी की कहानी 'रुदाली' पर बनी फिल्म। 'रुदाली' के फिल्मांकन से महाश्वेता देवी संतुष्ट नहीं थीं। फिल्म किसी भी दृष्टि से कहानी से कम नहीं बनी। अपनी सीमाओं के बावजूद 'रुदाली' एक बेहतरीन फिल्म है। इसी प्रकार विमल मित्र के बंगाली उपन्यास 'साहेब, बीवी और गुलाम' पर बनी फिल्म ने साहित्य और सिनेमा के बीच के अंतर को काफी कम कर दिया। बिभूतिभूषण बंधोपाध्याय के उपन्यास 'पाथेर पांचाली' पर सत्यजीत रे ने फिल्म बनाई। 'पाथेर पांचाली' आज विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय से ज्यादा सत्यजीत रे की फिल्म मानी जाती है। प्रेमचंद की कहानियों 'सद्गति' एवं 'शतरंज के खिलाड़ी' पर सत्यजीत रे ने बेहतरीन फिल्में बनाईं। प्रेमचंद के उपन्यास 'गोदान' पर कई प्रयासों के बावजूद प्रभावशाली फिल्म नहीं बन सकी। इसके अतिरिक्त शरतचंद्र चट्टोपाध्याय के उपन्यास 'देवदास', 'परिणीता', राजस्थान के साहित्यकार विजयदान देथा की कहानी 'दुविधा' तथा रस्किन बॉन्ड की कहानी 'द ब्लू अंब्रेला' पर फिल्म बन चुकी है। 'दुविधा' कहानी पर अमोल पालेकर ने 'पहेली' तथा 'द ब्लू अंब्रेला' पर विशाल भारद्वाज ने फिल्म बनाई। ऐसी फिल्में सिनेमा और साहित्य के स्वाभाविक रिश्ते को दिखाती हैं।

सिनेमा का बाजार: बाजार का सिनेमा

फिल्म का संबंध व्यावसायिकता से है। उसका एक रूप सामाजिक दायित्व का भी है ब्रिटिश साम्राज्यवाद और सामाजिक कुरीतियों के विरोध से सिनेमा ने साहित्य की तरह सामाजिक परिवर्तन का कार्य किया। सिनेमा का उद्देश्य पैसा कमाना, मनोरंजन करना तथा साथ ही संदेश प्रचारित करना था। वाल्टर बेंजामिन इसे 'राजनैतिक जनांदोलन का प्रभावशाली माध्यम' मानते हैं। समानांतर सिनेमा एवं कलात्मक के संदर्भ में यह बात पूर्णत: सत्य साबित होती है। सिनेमा नि:संदेह बाज़ार के लिए है और बाज़ार सिनेमा के लिए। कुछ फिल्म विशेषज्ञ मानते हैं कि सिनेमा सांस्कृतिक उत्पाद है जिसकी संकल्पना व्यवसाय एवं बाज़ार की जरूरतों से तय होती है।[23] इसके बरक्स अभिनेत्री शबाना आजमी मानती हैं कि व्यावसायिक सिनेमा अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने के बावजूद समाज से जुड़ा हुआ होता है।[24] कमर्शियल फिल्मों की लोकप्रियता की बड़ी वजह यह भी है कि उसे बाजार द्वारा तैयार किया गया दर्शक मिल जाता है। ऐसा दर्शक जिसकी रुचि झारखंड के आदिवासियों की समस्याओं पर नहीं होगी। शबाना आजमी कला एवं व्यावसायिक सिनेमा दोनों में अंतर करती हैं। परंतु चरित्र अभिनेता कुलभूषण खरबंदा दोनों को महज़ व्यवसाय मानते हैं।[25]

सच्चे अर्थों में सिनेमा के लिए 'व्यावसायिक' शब्द का प्रयोग नब्बे के दशक में हुआ। जब पहली बार हॉलीवुड की तर्ज पर हिंदी सिनेमा को 'बॉलीवुड' कहा जाने लगा। 'बॉलीवुड' शब्द हालांकि काफी पहले आ चुका था लेकिन नब्बे के दशक के बाद हिंदी सिनेमा के लिए इस शब्द का प्रयोग अधिक होने लगा। आज फिल्म के हिट सुपरहिट को उसकी कमाई से जोड़ा जाने लगा है। हालांकि कुछ फिल्मकार ऐसे भी हैं। जो व्यावसायिकता और कला के बीच अद्भुत समन्वय कर रहे हैं। सुधीर मिश्रा, मधुर भंडारकर, संजय लीला भंसाली, राजकुमार हिरानी, नीरज पांडेय का नाम यहाँ लिया जा सकता है।

21वीं सदी का सिनेमा: परिवर्तन एवं प्रयोग का दौर

21वीं सदी अति विकसित तकनीकी की सदी है। सिनेमा अब उच्च तकनीकी के स्तर तक पहुँच चुका

है। टीवी श्वेत-श्याम से ओएलईडी (OLED) तक का सफर तय कर चुका है। साधारण टीवी, फोन अब स्मार्ट हो चले हैं। असगर वजाहत लिखते हैं।- "सौ साल बाद आज हिंदी सिनेमा अपने स्वरूप और व्यवसाय में बिल्कुल बदल चुका है। आज से पचास साल पहले की हिंदी सिनेमा के संबंध में स्थापित मान्यताएँ टूट चुकी हैं।"[26] असगर वजाहत इस तरह के पहले बदलाव को दर्शकों के 'प्रोफाइल' में देखते हैं। 21वीं सदी का दर्शक फिल्में 'मल्टीप्लेक्स' में देखने लगा है। नए 'उपभोक्ता संस्कार' ने दर्शकों की रुचि एवं रवैये में बदलाव ला दिया है। पुराने हॉल में दर्शक तीन श्रेणियों में फिल्में देखता था- पहली, दूसरी तथा तीसरी श्रेणी। सिनेमा अब श्रेणी बदल चुका है। वह अब मध्यवर्गीय सिनेमा बन गया है। बाज़ार ने 'सिनेमा उपभोक्ता' बनाया। यह 'सिनेमा उपभोक्ता' मॉल में शॉपिंग करता है और वहीं फिल्म देखता है।

21वीं सदी के सिनेमा का अंतरराष्ट्रीयकरण हुआ। भूमंडलीकरण ने '20वीं सेंचुरी', 'फॉक्स और 'डिज़्नी' जैसी बड़ी कंपनियों को सिनेमा के क्षेत्र में निवेश का अवसर दिया। ये कंपनियाँ हिंदी सिनेमा निर्माण में रुचि दिखाने लगी हैं। हिंदी सिनेमा का बाज़ार अंतरराष्ट्रीय बाज़ार बन चुका है। हिंदी फिल्में भारत से बाहर अच्छी कमाई कर रही हैं। कहा जाता है कि श्रम और पूंजी वहीं जाएँगी, जहाँ उसे अधिक भुगतान और लाभ की संभावना नजर आएगी। पूंजी अपने साथ अपने विषय लाती है, वे विषय बाज़ार तय करता है, परिणामस्वरूप फिल्मों से कुछ जरूरी विषय छूट जाते हैं। हुआ यह कि अब गाँव, किसान, मजदूर पर्दे से गायब होने लगे। उसकी जगह आया उच्चमध्यवर्गीय परिवार और ऐसा वर्ग जिसका संबंध और व्यवसाय यूरोप और अमरीका से है। कुछ जरूरी विषय पूंजी के दबाव में छूटते नजर आ रहे हैं। कुछ अपवादों को छोड़ दिया जाए तो फिल्में बाज़ार को ध्यान में रखकर ही बनाई जा रही हैं।

टॉकीज बनाम मल्टीप्लेक्स

21वीं सदी 'मल्टीप्लेक्स' की सदी भी है। मल्टीप्लेक्स 'प्राइवेट स्क्रीनिंग' का मजा देता है। डिजिटल दुनिया से आपका परिचय कराता है। मल्टीप्लेक्स के अपने दर्शक हैं, जिनकी दो श्रेणियाँ हैं- एक आर्थिक रूप से बेहद संपन्न जिसे अच्छी सुविधाओं के एवज में खर्च करने से गुरेज नहीं, दूसरा अपेक्षाकृत कम आर्थिक संपन्न जो महीने में एक या दो बार ही मल्टीप्लेक्स जाता है। 'मल्टीप्लेक्स कल्चर' के संदर्भ में जवरीमल्ल पारख लिखते हैं- "मल्टीप्लेक्स महज़ इमारत नहीं वरन् उस मॉल संस्कृति का हिस्सा है जो महानगरों और शहरों में तेजी से उभरा है।"[27] टॉकीज छोटे कस्बों-शहरों की देन है जबकि मल्टीप्लेक्स महानगरों एवं बड़े शहरों की। दोनों की जीवन शैली और खर्च करने की ताकत अलग-अलग है। मल्टीप्लेक्स में 'अभिजात्यपन' का बोध है। छोटे कस्बों का दर्शक आज भी टॉकिज का आनंद लेता है। सुरक्षा, तकनीकी एवं शॉपिंग के लिहाज से टॉकीज का दर्शक भी अब मल्टीप्लेक्स की ओर रुख करने लगा है।

टॉकीज और मल्टीप्लेक्स सिनेमा के 'विषय' में भी अंतर है। टॉकिज के मुकाबले मल्टीप्लेक्स अधिक प्रासंगिक विषय को परोसते हैं। यहाँ मनोरंजन के परंपरागत विषय के साथ-साथ समसामयिक विषयों को भी दिखाया जाने लगा है। सिनेमा और मल्टीप्लेक्स दोनों अब नए दर्शक को ध्यान में रखकर बनाए जा रहे हैं।

टॉकीज के मुकाबले मल्टीप्लेक्स में व्यवसाय अधिक है। टिकट टॉकिज से पाँच से दस गुना महंगा। इसके बावजूद मल्टीप्लेक्स में जाना लोग अधिक पसंद करते हैं। इसकी बड़ी वजह मल्टीप्लेक्स का आकर्षण, उसकी बनावट, टॉकीज के मुकाबले दर्शकों की सीमित संख्या, दर्शकों का व्यवहार तथा रखरखाव है। सुरक्षा, तकनीकी, खानपान तथा शॉपिंग की बात हम पहले भी कर चुके हैं। टॉकीज सीमित एवं मँझले आय वालों की जगह है जबकि मल्टीप्लेक्स उच्च आय वालों की। हालांकि मल्टीप्लेक्स अब हर आय वालों की जगह बन चुके हैं। लोग आसानी से एक फिल्म के लिए चार सौ से पाँच सौ रुपए खर्च कर रहे हैं और उपभोक्ता बाज़ार का हिस्सा बनकर बराबरी महसूस कर रहे हैं।

रीमिक्स का जमाना है जनाब

21वीं सदी रीमिक्स की दुनिया भी कही जा सकती है। व्यावसायिकता का दबाव ही है कि पुरानी सुपरहिट फिल्मों को आधुनिक तकनीक से संपन्न कर 'नया' बनाया जा रहा है। बेहतर पिक्चर क्वालिटी, बेहतर साउंड के साथ उसे दर्शक के सामने परोसा जा रहा है। ऋषिकेश मुखर्जी की 'गोलमाल' के तर्ज पर

रोहित शेट्टी 'गोलमाल' की एक पूरी सीरीज़ ही बना डालते हैं। 'शोले के तर्ज पर रामगोपाल वर्मा 'आग' बनाते हैं। 'घायल' को सनी देओल 'घायल वंस अगेन' के नाम से दोबारा बनाते हैं। राजकुमार हिरानी 'मुन्ना भाई' की सीरीज़ बनाकर गांधीवादी दर्शन को नए अंदाज में पेश करते हैं।

फिल्मों से अधिक गानों के रीमिक्स इन दिनों खूब चल पड़े हैं। 'आज फिर तुमपे प्यार आया है', 'लैला मैं लैला', 'सारा जमाना' जैसे पुराने हिट डीजे की रीमिक्स दुनिया में धूम मचा रहे हैं। यहाँ तक कि हनुमान चालीसा का रीमिक्स भी आ गया, हाल ही की रिलीज़ फिल्म- 'सांड की आँख' में जिन पुराने हिट गीतों से नई पीढ़ी परिचित नहीं है, आज वही गीत ऊँचे हाई क्वालिटी डिजिटल साउंड के साथ बज रहे हैं। 'डिजिटल दुनिया' ने रीमिक्स की दुनिया को और रोचक और मनोरंजक बना दिया है।

उपसंहार

सिनेमा का सौ साल का इतिहास यह प्रमाणित करता है कि सिनेमा महज मनोरंजन का साधन नहीं, अपितु वह सामाजिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक बदलाव का वाहक भी है। सिनेमा कला एवं मनोरंजन दोनों है। व्यावसायिकता के बावजूद सामाजिक यथार्थ का चित्रण उसका उद्देश्य है सिनेमा हर युग की सच्चाई को कलात्मक ढंग से हमारे सामने प्रस्तुत करता है। सिनेमा का इतिहास जितना मनोरंजक है, उतनी ही उसकी प्रस्तुति। हर युग की समस्या को उसने बेबाकी से प्रस्तुत किया। इस आलेख में सिनेमा के इन्हीं बिंदुओं पर विस्तार से विचार किया गया है। सिनेमा की भूमिका तथा समाज और साहित्य से उसके संबंध को व्यावहारिक ढंग से इस आलेख में परखा गया है। सिनेमा बाज़ार के लिए है, यह भी व्यावहारिक सत्य है। सिनेमा और बाज़ार एक दूसरे के पूरक हैं और बाज़ार किस तरह सिनेमा को प्रभावित कर रहा है, इस बिंदु को इस आलेख में महत्वपूर्ण ढंग से उठाया गया है। नए और पुराने ढंग की दर्शक दीर्घा, इक्कीसवीं सदी के सिनेमा में हो रहे परिवर्तन एवं नए प्रयोग को भी इस आलेख में देखा परखा गया है। सिनेमा ने अपनी कलात्मक क्षमता से उन सारी चुनौतियाँ को पार कर लिया है जो पिछले सौ वर्षो में उसके सामने खड़े थे। उसने मार्गदर्शक की भूमिका अख़्तियार कर ली है और वह समाज को सही दिशा दे रहा है। उसने अपनी सार्थकता पा ली है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कामायनी (इड़ासर्ग), भारतीय ग्रंथ निकेतन, 1990, पृष्ठ-58
2. हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र, जवरीमल्ल पारख, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 2006, पृष्ठ-21
3. हिंदी सिनेमा का इतिहास, मनमोहन चड्ढा, सचिन प्रकाशन, 1990, पृष्ठ-36
4. भारतीय सिनेमा : एक अनंत यात्रा, प्रसून सिन्हा, नटराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2006, पृष्ठ-16
5. वही, पृष्ठ-18
6. हिंदी सिनेमा का इतिहास, मनमोहन चड्ढा, सचिन प्रकाशन, 1990, पृष्ठ- 40
7. वही, पृष्ठ-40
8. वही, पृष्ठ-41
9. हिंदी सिनेमा की यात्रा, संपादन- पंकज शर्मा, अनन्य प्रकाशन, संस्करण 2018 पृष्ठ-13
10. संवेद - भूमंडलीकरण के दौर में हिंदी सिनेमा, संपादन - किशन कालजयी, वर्ष-7, अंक-1, जनवरी, 2015, पृष्ठ-218-219
11. वही, पृष्ठ-13
12. वही, पृष्ठ-222
13. वही, पृष्ठ-213
14. भारतीय सिनेमा: एक अनंत यात्रा, प्रसून सिन्हा नटराज प्रकाशन, प्रथम संस्करण, 2006, पृष्ठ-96
15. हिंदी सिनेमा का इतिहास, मनमोहन चड्ढा, सचिन प्रकाशन, 1990, पृष्ठ-404
16. हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र, जवरीमल्ल पारख, ग्रंथ शिल्पी (इडिया) प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 2006, पृष्ठ-91
17. हिंदी सिनेमा का सच, संपादन-मृत्युंजय, समकालीन सृजन, कोलकाता, अंक-17, वर्ष- 1997, पृष्ठ-17
18. वही, पृष्ठ-16
19. वही, पृष्ठ-16
20. वही, पृष्ठ-13
21. वही, पृष्ठ-48

22. वही, पृष्ठ-46

23. हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र, जवरीमल्ल पारख, ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, प्रथम संस्करण, 2006, पृष्ठ-103

24. हिंदी सिनेमा का सच, संपादन-मृत्युंजय, समकालीन सृजन, कोलकाता, अंक-17, वर्ष-1997, पृष्ठ-58

25. वही, पृष्ठ-62

26. हिंदी सिनेमा की यात्रा, संपादन- पंकज शर्मा, अनन्य प्रकाशन, संस्करण, 2018, पृष्ठ-107

27. संवेद- भूंमडलीकरण के दौर में हिंदी सिनेमा, संपादन- किशन कालजयी, वर्ष-7, अंक-1, जनवरी, 2015, पृष्ठ-147

– सहायक प्राध्यापक (हिंदी), दिल्ली स्कूल ऑफ जर्नलिज़्म, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

❑❑❑

बाल मन पर आधारित हिंदी सिनेमा

डॉ. विनीता कुमारी

हिंदी सिनेमा में बच्चों की भी एक दुनिया शामिल है। बाल मन बड़ा ही भावुक और संवेदनशील होता है। इस अवस्था में उसकी अपनी एक काल्पनिक दुनिया होती है, जो यथार्थ से कहीं दूर होती है। उसका यह काल्पनिक संसार बड़ा ही जादुई, रोमांचक और इंद्रधनुषी होता है। बाल मन सदैव इस जादुई आकर्षण के पीछे मतवाला रहता है। बाल मन कोरी स्लेट की तरह होता है। उन्हें जैसी शिक्षा प्रदान की जाती है, जैसे संस्कार दिए जाते हैं, जैसा परिवेश मिलता है, वे उसी रूप में ढल जाते हैं। बच्चों की इसी मानसिकता को देखते हुए बच्चों को मूल्य आधारित मनोरंजन देने के लिए भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा 11 मई, 1955 को बाल चित्र समिति की स्थापना की गई। यह भारत सरकार की एक नोडल संस्था है जो बच्चों के लिए उनके मनोरंजन के अधिकार को न्यायपूर्ण मानते हुए फिल्म और टेलीविजन के माध्यम से संपूर्ण मनोरंजन करती है। केवल बच्चों का मनोरंजन करना ही इस संस्था का उद्देश्य नहीं है। वह ऐसी बाल फिल्मों का निर्माण करती है, जो मनोरंजन के साथ-साथ संदेश एवं शिक्षा भी प्रदान करती हैं। सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय के अंतर्गत यह एक स्वायत्त संस्था है। इसका मुख्य ऑफिस मुंबई में है। दिल्ली और चेन्नई में इसकी शाखाएँ हैं। इस संस्था द्वारा 260 बाल फिल्में देश की 15 प्रांतीय भाषाओं में बनाई गई।

बच्चों के लिए बच्चों की इसी मानसिकता को देखते हुए मुख्य धारा की फिल्मों के साथ-साथ बॉलीवुड ने बच्चों के लिए भी फिल्में बनाई। एक ओर जहाँ बॉलीवुड में बच्चों को कल्पनालोक में ले जाने वाली फिल्में 'अलादीन का चिराग', 'नानी माँ', 'आबरा का डाबरा', 'जादू', 'करामाती कोट', 'भूतनाथ', 'भूत अंकल' आदि जादुई, तिलस्मी, परीलोक में ले जाने वाली, डायन, भूत-प्रेतो से संबंधित फिल्में बनाई गई तो दूसरी ओर बच्चों की सामाजिक, आर्थिक, मानसिक, शैक्षिक समस्याओं से जुड़ी फिल्में भी बनाई गई जो न केवल बच्चों के लिए मनोरंजक होती हैं अपितु उनसे बच्चों का उत्साहवर्धन भी होता है, उनमें आत्मविश्वास जागृत होता है, संवेदनशीलता आती है, शिक्षाप्रद होती हैं और आगे बढ़ने एवं जीवन में कुछ नया एवं उत्साहपूर्ण करने की प्रेरणा भी जागृत करती हैं। मिथक आधारित फिल्में 'गणेश', 'माइ फ्रेंड गणेशा', 'घटोत्कच', 'हनुमान' फिल्में भी बनाई गई और बच्चों को अंधविश्वासों से दूर रहकर चंद्रमा, तारे आदि की वैज्ञानिक जानकारी देने के लिए 'धूमकेतु' जैसी फिल्में भी बनाई गई।

हिंदी सिनेमा जगत में राजकपूर से लेकर आमिर खान तक ने बच्चों के मनोविज्ञान को केंद्र में रखकर फिल्मों का निर्माण किया। ये फिल्में सिर्फ मनोरंजन ही नहीं करती अपितु बच्चों की अनेक समस्याओं की ओर भी समाज का ध्यान आकर्षित करती हैं। बाल मन पर आधारित फिल्मों में मानवीय संबंधों और सहयोग, बाल समस्याओं को विविधतापूर्ण एवं मनोवैज्ञानिक धरातल पर फिल्माया गया है। सन् 1954 में बॉलीवुड में 'जागृति' फिल्म बनी, जिसमें बच्चों को परंपरागत तरीके से पढ़ाई करने के तरीके से हटकर व्यावहारिकता के आधार पर पढ़ने की एक नई सोच विकसित करने की

भाषा ISSN 0523-1418

प्रेरणा दी गई। इसके पश्चात् राजकपूर की 'अब दिल्ली दूर नहीं' बाल फिल्मों में उल्लेखनीय फिल्म कही जा सकती है। यह फिल्म बाल मानसिकता का बहुत सुंदर एवं सहज चित्रण करती है। इस फिल्म के गीत भी बच्चों को ध्यान में रखकर लिखे गए हैं। एक और फिल्म 'बूट पालिश' जो 1954 में बनी, उसमें अनाथ, बेघर बच्चों की समस्या को उठाया गया। ऐसा धनी वर्ग, जो निस्संतान है, आश्रयरहित बच्चों को गोद लेकर उनका भविष्य सँवार सकते हैं, इस विषय पर बनी इस फिल्म ने पर्याप्त लोकप्रियता हासिल की थी। इस फिल्म का एक गीत 'नन्हे-मुन्ने बच्चे तेरी मुट्ठी में क्या है' आज भी गुनगुनाया जाता है। सन् 1980 के दशक में 'मिस्टर इंडिया' फिल्म बनी, जो अदृश्य मानव की संकल्पना को लेकर बनाई गई थी। इस फिल्म के केंद्र में भी बच्चे ही थे। फिल्म का नायक एक अनाथ आश्रम चलाता है, जिसे निर्धनतावश उन अनाथ बच्चों की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरा न कर पाने के कारण खेद होता है। एक दिन उसे अचानक गायब कर देने वाली घड़ी मिलती है, जिसे हाथ में बाँधने से वह अदृश्य हो जाता है और वह सभी कार्य आसानी से कर पाता है। कथ्य और प्रस्तुति दोनों ही मनोरंजक है। यह फिल्म दर्शकों द्वारा बहुत सराही गई और व्यावसायिक दृष्टि से भी यह फिल्म सफल रही। इसके पश्चात् विशाल भारद्वाज द्वारा निर्देशित फिल्म 'मकड़ी' ने हिंदी बाल सिनेमा के प्रति समाज की धारणा को बदला। 'मिस्टर इंडिया' के बाद बाल फिल्मों का दौर जैसे ठहर सा गया था, जिसे विशाल भारद्वाज की फिल्म 'मकड़ी' ने पुनर्जीवित किया। इसमें दो जुड़वां बहनें एवं एक चुड़ैल की कहानी बड़े रोमांचक एवं मनोरंजक ढंग से अभिव्यक्त की गई है। मकड़ी की सफलता से प्रेरित होकर कई नवीन विषयों को आधार बनाकर बॉलीवुड के कई जाने-माने निर्माता निर्देशक बाल फिल्मों के निर्माण की ओर प्रेरित हुए और कई फिल्में बनाईं, जो दर्शकों में पर्याप्त लोकप्रिय भी हुईं और उनकी सराहना भी की गई। बॉलीवुड फिल्म इंडस्ट्री में इन फिल्मों ने अपनी एक अलग पहचान बनाई। इनमें से कुछ फिल्मों की चर्चा करना इस लेख में आवश्यक है -

ब्लैक - संजय लीला भंसाली के निर्देशन में बनी यह फिल्म, जिसमें एक छोटी अंधी और गूंगी-बहरी लड़की की कहानी थी। रानी मुखर्जी ने इस लड़की का अभिनय किया और अमिताभ बच्चन ने उस अंधी बच्ची के कठोर शिक्षक के रूप में प्रभावशाली अभिनय किया। इस फिल्म को बहुत सराहना मिली और सर्वश्रेष्ठ फिल्म के कई पुरस्कार भी मिले। दर्शकों पर इस फिल्म का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा और इस प्रकार के बच्चों के प्रति समाज में संवेदनशीलता जागृत करने में यह फिल्म सफल रही। संजय लीला भंसाली को सर्वश्रेष्ठ निर्देशक का फिल्मफेयर पुरस्कार मिला, अमिताभ बच्चन को सर्वश्रेष्ठ अभिनेता और रानी मुखर्जी को अंधी, गूंगी-बहरी लड़की का सर्वश्रेष्ठ अभिनय करने पर फिल्मफेयर अवार्ड के अतिरिक्त आई. आई. एफ. ए. पुरस्कार एंव जी सिने पुरस्कार भी मिले।

द ब्लू अंब्रेला - विशाल भारद्वाज, जिन्होंने 'मकड़ी' जैसी एक सफल और लीक से हटकर बाल फिल्म बनाई थी, उनके निर्देशन में बनी इस फिल्म को सर्वश्रेष्ठ बाल फिल्म के नेशनल अवार्ड से सम्मानित किया गया। यह फिल्म प्रख्यात लेखक रस्किन बांड की एक कहानी पर आधारित है। इस फिल्म में एक साधारण छोटी लड़की बिनिया का मर्मस्पर्शी चित्रण है, जो नीले रंग का एक जापानी छाता खरीद कर लाती है और अपने गाँव में आकर्षण का केंद्र बनती है। एक दुकानदार नंदकिशोर उसकी छतरी लेना चाहता है, लेकिन बिनिया इसे देने के लिए तैयार नहीं है। एक दिन छतरी चोरी हो जाती है, बिनिया को दुकानदार नंदू (नंदकिशोर) पर शक होता है। तलाशी लेने पर भी छतरी नंदू के पास नहीं मिलती। पूरी फिल्म बिनिया और नंदू के बीच छतरी को लेकर उत्पन्न हुए तनाव की कहानी है। यह फिल्म बच्चों की निश्छल दुनिया की सुंदर एवं मोहक छवि दिखाती है। बाल कलाकार श्रेया ने इस फिल्म में बहुत सुंदर अभिनय किया।

थैंक्स माँ - निर्देशक इरफान कमल ने इस फिल्म में मुंबई की झुग्गी-बस्तियों के आवारा और अनाथ बच्चों के माध्यम से अधूरे बचपन की मार्मिक कथा दर्शाने का प्रयास किया है। इस फिल्म में एक अनाथ बच्चा है। वह स्वयं को सलमान खान कहलाना पसंद करता है। दूसरे आवारा और अनाथ बच्चों के साथ वह पॉकेटमारी कर अपना गुजारा करता है। वह अपने जीवन में माँ की कमी को बहुत महसूस करता है और उसकी यही इच्छा है कि किसी दिन वह अपनी माँ से

मिले। बाल सुधार गृह से भागते समय उसे दो दिनों का एक नवजात बच्चा मिलता है, वह उसका लालन-पालन करता है। अपने मित्रों की सहायता से वह उस बच्चे की माँ तक पहुँचने में सफल हो जाता है। परंतु जब उसे पता चलता है कि उसकी माँ ने ही उसे वहाँ छोड़ा था तो वह आश्चर्यचकित रह जाता है। फिल्म के अनुसार देश में 270 बच्चे प्रतिदिन अनाथ छोड़ दिए जाते हैं। इन बच्चों की जिंदगी शहर की गुमनाम गलियों में गुजरती है और कुछ बच्चे अपराध के रास्ते पर चल पड़ते हैं। इस फिल्म में मुंबई की झुग्गी-झोपड़ियों के आवारा और अनाथ बच्चों के माध्यम से अधूरे, अभावग्रस्त बचपन की मार्मिक दशा का चित्रण किया गया है।

तारे जमीं पर - इस फिल्म का निर्माण आमिर खान प्रोडक्शन के तहत हुआ है और इस फिल्म के निर्माता भी आमिर खान हैं और मुख्य भूमिका भी आमिर खान ने ही निभाई है। डिस्लैक्सिया से पीड़ित बच्चे किस प्रकार परिवार, विद्यालय, समाज से जूझते हैं और न वे अपनी समस्या बता पाते हैं और न ही समाज उन्हें समझ पाता है, इस विषय को केंद्र में रखकर बाल मनोविज्ञान पर आधारित यह एक ऐसी फिल्म है, जिसने कई कीर्तिमान स्थापित किए। माता-पिता को प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या की अंधी दौड़ में न पड़कर अपने बच्चे की समस्या को समझना चाहिए, उन्हें अपने बच्चे पर अपनी महत्वाकांक्षाओं को लादना नहीं चाहिए। माता-पिता अपनी संतान को प्रथम स्थान पर ही देखना चाहते हैं। प्रथम स्थान न आने पर स्वयं तो तनावग्रस्त होते ही हैं, बच्चे के बचपन को भी खत्म कर देने में तनिक भी संकोच नहीं करते। यह फिल्म उन फिल्म निर्माताओं के लिए भी एक सबक है, जो बाल फिल्मों के नाम पर कुछ भी परोस देते हैं। बॉलीवुड में बहुत कम ऐसी बाल मनोविज्ञान पर आधारित फिल्में बनी हैं, जो एक ओर सामाजिक आधार पर वैचारिक हों, कलात्मक रूप में सार्थक हों और व्यावसायिक रूप से भी सफल और लोकप्रिय हों। 'तारे जमीं पर' निस्संदेह ऐसी ही फिल्म है, जिसने बाल फिल्मों के क्षेत्र में भारतीय सिनेमा का न केवल देश में, अपितु विदेशों में भी गौरव बढ़ाया। इसी प्रकार प्रिजेरिया बिमारी की समस्या को लेकर 'पा' फिल्म बनी। इस फिल्म में अमिताभ बच्चन ने इस प्रिजेरिया बिमारी से ग्रस्त बच्चे का अभिनय बखूबी निभाया।

बम-बम बोले - प्रियदर्शन द्वारा निर्देशित इस फिल्म में गरीबी रेखा से नीचे पलने वाले एक ऐसे परिवार की कहानी है, जिसमें दो छोटे भाई-बहन हैं। एक दिन गलती से भाई से अपनी बहन के जूते गुम हो जाते हैं। माता-पिता के डर से वह उन्हें बताते नहीं हैं। अब उनके पास एक ही जोड़ा जूता रह जाता है। वे दोनों जूता साझा करने का निर्णय करते हैं कि सुबह बहन वह जूता पहनकर स्कूल जाएगी और शाम को भाई वह जूता पहनकर स्कूल जाएगा। भाई इंटरनेशनल स्कूल मैराथन रेस में इसलिए भाग लेता है क्योंकि तीसरे स्थान पर आने वाले विद्यार्थी को जूते मिलेगें। वह इस रेस में तीसरे स्थान पर आने के लिए ही भाग लेता है परंतु वह रेस में विजयी होकर प्रथम स्थान को प्राप्त करता है। उसे आगे की पढ़ाई के लिए स्कॉलरशिप मिलती है। उसे खुशी नहीं होती अपितु रेस में जीत कर भी वह अपने आप को हारा हुआ मानता है। इस फिल्म का यह मार्मिक प्रसंग है। यह फिल्म उन अनछुए पहलुओं से अवगत कराती है, जिन्हें अक्सर आज की भाग-दौड़ की जिंदगी में हम अनदेखा कर देते हैं। इस फिल्म में भाई-बहन के साथ उनके माता-पिता के संघर्ष की भी कहानी चलती है। पिता ईमानदार और सभ्य नागरिक होते हुए भी निर्धनता एवं बेरोज़गारी के कारण आतंकवादी समझ लिया जाता है। गरीबी के अभिशाप को इस फिल्म में बखूबी दर्शाया गया है। दर्शील सफारी, जिसने 'तारे जमीं पर' फिल्म में अभिनय किया था, उसी बाल कलाकार ने इस फिल्म में भी श्रेष्ठ अभिनय किया। इसी कहानी पर प्रख्यात फिल्मकार माजिद मजिदी ने 'चिल्ड्रन आव हेवेन' बनाई, हिंदी में खालिद बाई बाटलीवाला ने 'सलाम बच्चे' नाम से यह फिल्म बनाई।

आइ एम कलाम - निर्देशक नीलना माधव पांडा की यह फिल्म राजस्थान के एक गरीब लड़के छोटू की कहानी है, जो राष्ट्रपति अब्दुल कलाम का बहुत बड़ा प्रशंसक है और उनसे मिलना चाहता है। फिल्म का कथ्य गरीबी रेखा के नीचे जीवन बसर कर रहे नन्हें बच्चे छोटू के इर्द-गिर्द घूमता है। वह एक बार टेलीविजन पर राष्ट्रपति अब्दुल कलाम का भाषण सुनता है। इस भाषण में वह अपने बारे में बताते हैं कि बचपन में उनके पास स्कूल की फीस भरने के लिए भी पैसे नहीं थे। वे अखबार बाँट कर अपनी शिक्षा के लिए फीस का इंतजाम करते थे। वे कहते हैं कि इंसान अपने कर्म से

अपनी जिंदगी बदल सकता है। जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए चार चीज़ें आवश्यक हैं - 1. जिंदगी में लक्ष्य तय करना 2. शिक्षा 3. कड़ी मेहनत 4. धैर्य। कलाम के इस भाषण से छोटू का जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदलता है। पहले उसे सब छोटू के नाम से जानते थे। फिर वह स्वयं को कलाम समझने लगता है और किसी के द्वारा नाम पूछे जाने पर वह अपना नाम कलाम कहता है। ढाबे पर दिनभर परिश्रम करने के बाद वह शाम को किताबें पढ़ता है और अपनी पढ़ाई पूरी करने की हर संभव कोशिश करता है। छोटू को विश्वास है कि एक दिन वह कलाम जैसा बड़ा आदमी बनेगा। इस फिल्म में बाल मन की सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति हुई है।

गट्टू - राजेश खोसा द्वारा निर्देशित यह फिल्म एक 10 वर्ष के बच्चे गट्टू की कहानी पर आधारित है, जो चतुर है और उसे पतंग उड़ाने का बड़ा शौक है। वह अपने चाचा के साथ रहता है, जिसका कबाड़ी का काम है और वह गट्टू को भी कबाड़ के काम में ही निपुण बनाना चाहता है। परंतु गट्टू का मन कबाड़ के काम में बिल्कुल नहीं लगता। आकाश में एक काली पतंग सबसे ऊँची उड़ती है, जिसे आज तक कोई नहीं काट पाया था। कोई नहीं जानता था कि वह पतंग किसकी है। गट्टू उस काली पतंग को काटने का निर्णय लेता है। वह अपनी सूझ-बूझ और चतुराई से स्कूल में दाखिल हो जाता है। स्कूल के तीन बच्चों को काल्पनिक कहानी का आश्रय लेकर अपने साथ मिला लेता है और स्कूल की छत पर जाकर उस काली पतंग को काटने में सफल हो जाता है। लेकिन बाद में स्कूल के प्रिंसिपल की डाँट से गट्टू अपनी गलती स्वीकार करता है। गट्टू की मासूमियत और उसकी सूझ-बूझ, तेज दिमाग को देखते हुए प्रिंसिपल उसे स्कूल में दाखिला दे देते हैं। अपनी दृढ़ निश्चय-शक्ति और सूझ-बूझ से हर कठिन कार्य को संभव बनाया जा सकता है, यह संदेश इस फिल्म के माध्यम से दिया गया है।

स्टेनली का डब्बा - यह फिल्म अमोल गुप्ते द्वारा निर्देशित है। इस फिल्म में स्कूल में पढ़ने वाले नौ वर्षीय स्टेनली की कहानी है। स्टेनली अपने दोस्तों के साथ रोज़ खाना खाता है, वह अपना डब्बा नहीं लाता। एक दिन एक शिक्षक की नज़र उनके खाने के डब्बों पर पढ़ जाती है, तब उसे पता चलता है कि स्टेनली तो डब्बा लाता ही नहीं। शिक्षक बाबूराम स्टेनली पर अपना डब्बा लाने के लिए दबाव डालता है और कहता है कि अगर वह डब्बा नहीं लाया तो उसे स्कूल में घुसने नहीं दिया जाएगा। यहीं से स्टेनली के डब्बे की तलाश शुरू होती है। फिल्म के अंत में जब दर्शकों को जानकारी मिलती है कि स्टेनली अनाथ है और वह अपने खड़ूस चाचा के रहमो करम पर जी रहा है तो दर्शकों की आँखों में आँसू आ जाते हैं। यह फिल्म स्कूल में अध्यापकों और विद्यार्थियों के आपसी संबंधों की परतों को खोलती है। बच्चों को यह फिल्म बहुत पसंद आई क्योंकि हर बच्चे को लगा कि यह तो खुद उसके अपने ही स्कूल की कहानी है।

चिल्लर पार्टी - यू. टी. वी. और सलमान खान के सहनिर्माण में निर्मित फिल्म चिल्लर पार्टी झुग्गी-बस्ती में रहने वाले अभावग्रस्त, सभी सुविधाओं से वंचित मासूम बच्चों के एक ऐसे समूह की कहानी है जो गली के एक आवारा कुत्ते को बचाने के लिए एक राजनेता के विरुद्ध खड़े हो जाते हैं और उस आवारा कुत्ते की जिंदगी बचाकर सबका दिल जीत लेते हैं। झुग्गी-झोपड़ी में रहने वाले बच्चों के जीवन को केंद्र में रखकर उनके सामाजिक, पारिवारिक परिवेश, उनकी समस्याओं, संघर्षों और सपनों को प्रतिबिंबित करने वाली फिल्म अपने ढंग की एक अलग और अनोखी फिल्म है।

धनक - नागेश कुकुनूर द्वारा निर्देशित यह फिल्म बड़ी भावनात्मक एवं अर्थपूर्ण है। यह फिल्म भाई-बहन की कहानी पर आधारित है। दोनों बच्चों के माता-पिता नहीं हैं, राजस्थान के एक गाँव में चाचा-चाची के पास रहते हैं। भाई छोटू की आँखों की रोशनी चली जाती है। छोटू सलमान खान का प्रशंसक है और बहन परी शाहरुख खान की दिवानी है। परी शाहरुख खान का नेत्रदान से संबंधित पोस्टर देखती है, उसके भीतर यह प्रेरणा जागती है कि उसके भाई की आँखें वापस आ सकती हैं। वह उस पोस्टर से प्रभावित होकर भाई को लेकर जैसलमेर के लिए निकल पड़ती है, जहाँ शाहरुख खान की फिल्म की शूटिंग चल रही है। परी अपने भाई से वादा करती है कि उसके नवें जन्मदिन से पहले उसकी आँखों की रोशनी आ जाएगी, वह देख पाएगा। मार्ग में अनेक कठिनाइयों का सामने करते हुए दोनों शूटिंग स्थल पर पहुँच जाते हैं। फिल्म में राजस्थान के दृश्य मनमोहक हैं। दोनों बच्चों का साहस एवं सूझ-बूझ

दर्शनीय है। बच्चे कच्ची मिट्टी की तरह उपजाऊ होते हैं। उनमें संस्कार रूपी जैसे बीज डाले जाते हैं, वैसे ही वे अंकुरित होते हैं। बच्चों के लिए बड़ी प्रेरणादायी फिल्म है।

एक अजूबा – सुनील आडवाणी द्वारा निर्देशित यह फिल्म दो बच्चों की कहानी पर आधारित है। चित्रा और रतन दो भाई-बहन हैं। चित्रा मेहनती है पर उसमें आत्मविश्वास की कमी है। कड़ी मेहनत करने के बावजूद कक्षा में प्रथम न आने के कारण वह निराश है। वह गुरुजी से सहायता माँगती है और गुरुजी अपने तरीके से उसकी सहायता करते हैं और उसमें आत्मविश्वास जगाते हैं। भभूत, जादू-टोना, गंडा-ताबीज़ आदि अंधविश्वासों से कोई अजूबा नहीं होता अपितु आत्मिक शक्ति, आत्मविश्वास, मेहनत और लगन से ही जीवन में सफलता प्राप्त होती है। आत्मविश्वास अपने आप में एक अजूबा है, उसमें ही सफलता की कुँजी है, यह संदेश देने के लिए ही यह बाल फिल्म बनाई गई है।

जलपरी – इस फिल्म के निर्देशक नील माधव पंडा हैं। यह राजस्थान के एक ऐसे गाँव की कहानी है, जो अंधविश्वासों और रहस्यों से घिरा हुआ है। उस गाँव में एक भी परिवार में लड़की नहीं है। कोई अस्पताल भी नहीं है। एक नीम हकीम ही सब गाँव वालों का इलाज करता है। उसी गाँव का एक बेटा देव शहर जाकर पढ़ता है और डॉक्टर बनता है। उसकी बेटी श्रेया है, जो बहुत ही साहसी एवं तार्किक बुद्धि वाली है। वह अपने पिता और भाई के साथ गाँव आती है, जहाँ उसे अनेक अंधविश्वासों और रहस्यों का पता चलता है। वह अपने भाई के साथ मिलकर बहादुरी से उन रहस्यों का पर्दाफाश करती है। गाँव के जमींदार की मिलीभगत से मोबाइल अस्पताल से अवैध रूप से गर्भ में लिंग का पता लगाकर बेटी होने पर गर्भपात करा दिया जाता है, इसका पर्दाफाश उस साहसी श्रेया के कारण होता है। यह फिल्म समसामयिक एवं यथार्थपरक है। समाज की उस मानसिकता को दर्शाती है जो आज भी घर में कन्या का जन्म होना अभिशाप मानते हैं। अंधविश्वासों का आश्रय लेकर अशिक्षित भोले-भाले लोगों को बहकाकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बॉलीवुड में विभिन्न विषयों को केंद्र में रखकर कई बाल फिल्में बनी। 'कोई मिल गया', 'बाजा', 'हवा हवाई', 'पाठशाला', 'नन्हे जैसलमेर', 'लिलकी', 'उड़ान', 'चेन कुली की मेन कुली', 'तहान', 'सिकंदर', 'सिक्रेट सुपरस्टार' जैसी फिल्में दर्शकों में पर्याप्त लोकप्रिय हुई। बालमनोविज्ञान पर आधारित और बच्चों की समस्याओं से जुड़ी फिल्मों का समाज पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। हमारा समाज डिस्लैक्सिया और प्रिजेरिया जैसी बिमारियों से अनभिज्ञ था लेकिन 'तारे जमीं पर' और 'पा' जैसी फिल्मों के कारण समाज उनसे परिचित हुआ। हॉलीवुड की तर्ज पर बॉलीवुड में भी एनिमेशन फिल्मों का दौर चल पड़ा है। बच्चे मनोवैज्ञानिक रूप से इन एनिमेशन फिल्मों से बहुत ही भावात्मक और संवेगात्मक रूप से जुड़ जाते हैं। 'डोनाल्ड डक', 'मिक्की माउस', 'छोटा भीम', 'डोरेमोन', 'हनुमान', 'माइ फ्रेंड गणेशा' आदि एनिमेशन फिल्मों ने बच्चों के मन पर अमिट छाप छोड़ी है। इनकी लोकप्रियता को देखते हुए अनेक टी.वी. चैनल एनिमेशन फिल्मों एवं धारावाहिकों के खुल गए हैं और बच्चों में पर्याप्त लोकप्रिय हैं।

आज जब अंतरराष्ट्रीय पटल पर भारत एक वैश्विक शक्ति के रूप में तेजी से अपनी विशिष्ट पहचान बना रहा है, तब यह सवाल महत्वपूर्ण और प्रासंगिक हो जाता है कि हम अपने बच्चों के लिए कैसा मनोरंजन प्रस्तुत कर रहे हैं? बाल फिल्मों को सिर्फ मनोरंजन की दृष्टि से आँकना उचित नहीं होगा। आज आवश्यकता है कि बाल सिनेमा को मुख्य धारा के सिनेमा से जोड़ा जाए। बड़े खेद के साथ कहना पड़ता है कि बॉलीवुड में बाल सिनेमा को मुख्य धारा के सिनेमा में वह स्थान नहीं मिला, जो अपेक्षित है। यदि इसे मुख्य धारा में स्थान मिले तो निश्चित रूप से देश में बाल सिनेमा का भविष्य उज्ज्वल होगा और उसे एक नई दिशा मिलेगी।

– एसोसिएट प्रोफेसर, स्वामी श्रद्धानंद कॉलेज, अलीपुर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

❑❑❑

भारतीय सिनेमा की प्रारंभिक फिल्में व मुंशी प्रेमचंद के साहित्याधारित फिल्मों के परिदृश्य में जातिगत समन्वय

हेतराम

भारतीय सिनेमा में जातिवाद के संबंध में समन्वय भावना का परिचय कला और विज्ञान का अद्‌भुत संगम है। इसमें सिनेमा का बहुत बड़ा योगदान है। सिनेमा एक ऐसा दृश्य चलचित्र कला है, जिसके माध्यम से जातिवाद को दूर करने का अथक प्रयास किया गया है। प्रारंभिक सभी फिल्मों में जातिवाद के विरुद्‌ध जाते हुए, सामंतवाद के खिलाफ लड़ाई के संघर्ष को दिखाया गया है। कथानक की दृष्टि से प्रारंभिक फिल्मों में अभिनय नवीन पटल पर दलित होने की हीन ग्रंथि को इस विश्वसनीयता से प्रस्तुत किया गया है कि दर्शक अपने मन मानस में जातिगत धारणा को भूलने का प्रयास करता है। प्रेमचंद का साहित्य एक ओर शोषण को मिटाने की प्रेरणा देता है वहीं दूसरी ओर बेबस को बलशाली बनाने की अधिकता पर जोर देता है। अत: चलचित्र में यह यथार्थ रास नहीं आ सका। प्रेमचंद जी की साहित्य पर आधारित फिल्मों में मानवता से मानवता को जोड़ने व जातिवाद संघर्ष मिटाने का एक सफल प्रयास किया गया है। प्रेमचंद के साहित्य पर आधारित सभी फिल्में समाज की रूढ़ि को तोड़ने का सफल कार्य करती हैं।

भारतीय सिनेमा की प्रारंभिक फिल्मों के परिदृश्य में जातिगत समन्वय – सिनेमा एक ऐसी दृश्य चलचित्र कला है जिसके माध्यम से जातिवाद को दूर करने का अथक प्रयास किया गया है। प्रारंभ के स्तर में भारतीय सिनेमा में दादा साहेब फाल्के ने 'सत्य हरिश्चंद्र तारामती' (1913), 'मोहिनी भस्मासुर' (1913), 'लंका दहन' (1917), 'कृष्ण जन्म' (1918), 'कालिया मर्दन' (1919) जैसी धार्मिक फिल्में दीं। इन फिल्मों में पिछड़े वर्गों का सर्वेसर्वा होना, इन्हीं फिल्मों में पिछड़े वर्गों का कलाकार के रूप में भाग लेना, निम्न-जातियों को समान व सम्मान स्थापित करने की प्रेरणा दी है। दादा साहेब फाल्के ने अपनी फिल्मों में निम्न वर्गों को नृत्य, संगीत व वाद्‌य में शामिल किया। क्योंकि ये लोग आर्थिक मंदी के शिकार थे। आर्थिक अभाव से ग्रसित थे अत: 'सत्य हरिश्चंद्र तारामती' फिल्म की भूमिका में ऐसे ही कलाकारों को लिया जाना एक सम्यक दृष्टिकोण का पहला उदाहरण प्रस्तुत करता है। सत्य हरिश्चंद्र में रानी तारामती की भूमिका करने वाला नायक दलित था, क्योंकि इस फिल्म के लिए कोई महिला पात्र तैयार नहीं हुई। नायक की भूमिका में राजकुमार का रोल करने वाला रोहताष भी दलित था। 'कालिया मर्दन' में मंदाकिनी और कृष्ण की भूमिका करने वाले दोनों पात्र दलित थे। अत: हम समझ सकते हैं कि सिनेमा ने दलित साहित्य और शुद्र अर्थात् निम्न वर्ग के लोगों को शामिल करके यह पहली बार सिद्‌ध किया कि कला संगीत और वाद्‌य यंत्र के माध्यम से हम सभी के सम्मुख उपस्थित हो सकते हैं। कालांतर में डॉ. अंबेडकर का उदाहरण प्रस्तुत करें तो आजादी के बाद ऐसी अनेक फिल्में जो वर्ण व्यवस्था पर भी आधारित रही। इनमें 'अछूत कन्या' (1936) में यह एक वस्तुनिष्ठ वैज्ञानिक और ईमानदार व्यक्तित्व को प्रस्तुत करते हुए आजादी के आंदोलन व जातिवाद पर लिखी गई है। इसमें ठाकुर प्रतिष्ठित व्यक्ति होते हुए मानसिक घृणित व्यक्ति है, वह घृणित भावना रखता है। आगे 1940 के बाद की फिल्मों में

नायक–नायिका के बलिदान इत्यादि जिसमें गांधी जी के हरिजन उद्धार की प्रेरणा दिखाई गई है।

स्वतंत्रता के पूर्व हमने जातिवाद के प्रति वर्चस्व की लड़ाई को देखा और जब देश आजाद हुआ तो देश की आजादी के बाद अनेक ऐसी फिल्में बनी। जिसमें हम कुछ मुख्य फिल्मों को ही यहाँ ले सकते हैं, जैसे 'आवारा' फिल्म दलित विमर्श या जातिगत भेदभाव पर तो नहीं है परंतु इस फिल्म में सम्यक समता व समानता के परिपेक्ष्य में जातिवाद के विचारों को दर्शाया गया है। जैसे, इसी फिल्म के गाने में

घर बार नहीं, संसार नहीं, मुझसे किसी को प्यार नहीं
दुनिया में तेरे तीर का या तकदीर का मारा हूँ।।

इस गीत से स्पष्ट है कि यहाँ पूंजीवादी और भाग्यवादी पीड़ा से पीड़ित हैं। 'दो बीघा जमीन' तो प्रेमचंद जी के 'रंगभूमि' उपन्यास पर आधारित थी। इस फिल्म में शंभू महतो किसान (बलराज साहनी) के रूप में पत्नी पार्वती (निरूपमाराय) की भूमिका में एक जातिवाद से संघर्षशील रहते हैं। 'बूट पॉलिश' (1954) में भी भीख मांगने और चोरी करने से अच्छा मेहनत मजदूरी करके जीवन यापन करना दिखाया गया है। जिया सरहदी की 'हम लोग' (1951), 'फुटपाथ' (1954), 'आवाज' (1956), 'श्री 420' (1955), 'इंडिया' (1957), 'अर्पण' (1957), 'सुजाता' (1959), 'गंगा जमुना' (1960), 'फूल और पत्थर' (1960), 'संगीन' (1970) इन सभी फिल्मों में भले ही कहीं ब्रिटिश अत्याचार है कहीं उच्च वर्ग का अत्याचार है। इन्हीं सभी फिल्मों में ऊँच–नीच और जातिगत भेदभाव के आपसी संघर्ष का चित्रण किया गया है। इन सभी फिल्मों में ब्राह्मणवाद और जातिवाद के विरुद्ध जाते हुए, सामंतवाद के खिलाफ लड़ाई के संघर्ष को दिखाया गया है कथानक की दृष्टि से इन्हीं फिल्मों में अभिनय नवीन पटल पर दलित होने की हीन ग्रंथि को इस विश्वसनीयता से प्रस्तुत किया गया है कि दर्शक अपने मन मानस में जातिगत धारणा को भूलने का प्रयास करता है अंततः एक जमींदारी प्रथा से ऊपर उठकर अभी 21वीं शताब्दी में बनने वाली फिल्मों में अंतरजातीय विवाहों पर अनेक फिल्में बनी हैं। इन फिल्मों में हम देखते हैं कि एक धर्म से दूसरे धर्म के नायक नायिका या एक देश से दूसरे देश या प्रतिरोधी देश के नायक नायिका आपसी प्रेम के चित्रण को प्रस्तुत करते हुए सहर्ष जीवन और प्रेम का उदाहरण 'वसुधैव कुटुंबकम्' के रूप में प्रस्तुत करते हैं। वर्तमान परिदृश्य में हम देखते हैं कि सिनेमा के माध्यम से जातिवाद पर गहरी चोट की गई है और समाज के मन मानस में जातिवाद के भूत को निकालने का प्रयास सिनेमा के माध्यम से किया गया है। स्पष्ट है कि जातिवाद के शोषण की चक्की में बुरी तरह पीस रहे व्यक्ति को सरकारी सेवाओं में आने का अवसर, औद्योगिकरण विकास, उनके लिए भरपेट खाना, बच्चों को अच्छी शिक्षा, बच्चों के उच्च दर्जे के सिनेमा के माध्यम से आम जन तक चलचित्र के माध्यम से दिखाते हुए इस समस्या से निजात पाने का प्रयास किया गया है। स्वाधीनता के बाद स्वाधीनता आंदोलन एवं राष्ट्रीय नवनिर्माण के रूप में सिनेमा का एक क्रांतिकारी योगदान है। आज लाखों लोग प्रतिदिन सिनेमा के माध्यम से जातिवाद के विरुद्ध सम्यक धर्म, सम्यक समाज आधारित सामाजिक जीवन की फिल्में देखते हैं। जिससे वह अपने मन मानस में एक साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं, कि हमें हमारे देश में धर्म के विरुद्ध आचरण नहीं करना चाहिए, धार्मिक और जातिगत विषमता से दूर हमें एक सम्यक समाज की स्थापना करनी चाहिए। अतः जातिगत मतभेदों को दूर करने के लिए सिनेमा का अविस्मरणीय योगदान है।

भारतीय सिनेमा और मुंशी प्रेमचंद का साहित्य

सिनेमा के प्रारंभिक युग में अनेक साहित्यकारों ने सिनेमा की ओर अपना भाग्य आजमाया, इसमें मूर्धन्य साहित्यकार मुंशी प्रेमचंद भी पीछे न रहे। प्रेमचंद का साहित्य यथार्थ के पटल पर चेतना देते हुए मानव को संघर्षशील बनाता है साहित्य पर आधारित अनेक फिल्में बनी हैं। सिनेमा और साहित्य का अंततः गहरा संबंध है। सिनेमा में अपना भाग्य आजमाने हेतु मुंशी प्रेमचंद मुंबई पहुँच गए। मुंबई में प्रेमचंद जी को 1933 में अजंता मूवीटोन मुंबई की ओर से निर्देशक मोहन भावनानी द्वारा 'मिल मजदूर' फिल्म की कहानी लिखने हेतु निमंत्रण मिला। परंतु 'मिल मजदूर' कहानी पर यह फिल्म बनने के बाद प्रेमचंद जी की लिखी गई साहित्य कथा और फिल्म के चलचित्र में अलग–अलग बदलाव के कारण प्रेमचंद जी काफी निराश हुए। अतः प्रेमचंद

जी को फिल्मी दुनिया रास नहीं आई। उन्हें काफी गहरा धक्का लगा और वह अपनी व्यथा को प्रकट करते हुए जैनेंद्र कुमार को अपने पत्र में मुंबई की फिल्मी दुनिया के बारे में लिखते हैं। "फिल्मी हाल क्या लिखूँ? मिल (बाद में मजदूर नाम से बनी चलचित्र फिल्म), यहाँ पास न हुआ। लाहौर में पास हो गया और दिखाया जा रहा है। मैं जिन इरादों से आया था उनमें से एक भी पूरा होता नहीं नजर आता है। ये प्रोड्यूसर जिस ढंग की कहानियाँ बनाते आए हैं, उसकी लीक से जौ भर भी नहीं हट सकते। 'वल्गैरिटी' को ये 'एंटरटेनमेंट वैल्यू' कहते हैं। मैंने सामाजिक कहानियाँ लिखी हैं, जिन्हें शिक्षित समाज भी देखना चाहे, लेकिन उनकी फिल्म बनाते हुए इन लोगों को संदेह होता है कि चले या न चले।" इस कथन में प्रेमचंद जी जैनेंद्र को अपनी व्यथा प्रकट कर रहे हैं, इससे स्पष्ट है कि फिल्मी दुनिया कहानियों को तोड़-मरोड़ कर पेश करती है। जिससे प्रेमचंद जी संतुष्ट न थे। अनेक साहित्यकारों ने फिल्मी दुनिया में जगह बनाई परंतु प्रेमचंद जी को सिनेमा की आदर्शवादी दुनिया रास नहीं आई।

मुंशी प्रेमचंद जी के साहित्य पर आधारित बनी हुई फिल्में- मुंशी प्रेमचंद जी के साहित्य पर पहली फिल्म 'मिल मजदूर' (1934) मोहन भावनानी द्वारा मजदूरों की पटकथा पर आधारित थी। दूसरी, निर्देशक नानू भाई ने 'वकील' (1934) फिल्म सेवासदन उपन्यास को आधार बनाकर बनाई। श्रीमती मदुरै षण्मुखवडिवु सुब्बुलक्ष्मी कर्नाटक की मशहूर संगीतकारा थी। इन्होंने मुंशी प्रेमचंद जी की 'सेवासदन' को आधार बनाते हुए 'सेवासदन' (1938) को रिलीज किया गया। यह एक महत्वपूर्ण व्यावसायिक फिल्म रही। 'सेवासदन' समाज की रूढ़ि व्यवस्था को सामाजिक नीतियों द्वारा सुधार व वकालत करने वाली प्रारंभिक तमिल फिल्मों में से एक है। मुंशी प्रेमचंद जी के लोकप्रिय उपन्यास 'गोदान' पर भी तत्कालीन समय के मशहूर अभिनेता राजकुमार व महमूद को लेकर फिल्म बनाई गई। जो बाद में एक टीवी सीरीज एपिसोड के रूप में 2004 में 26 एपिसोड के माध्यम से 'तहरीर ए मुंशी प्रेमचंद' के रूप में दिखाई गई। भारतीय छात्रों को 'गोदान' को पूर्ण करने के लिए यह एक महत्वपूर्ण कड़ी है। 'शतरंज के खिलाड़ी' कहानी सत्यजीत रे द्वारा इसी नाम से बनी फिल्म जिसको खूब सराहा गया और कई अवार्ड भी मिले। यह फिल्म शतरंज के खेल में डूबे रहने वाले दो राजाशाही कलाकारों का उदाहरण पेश करती है। ऋषिकेश मुखर्जी के द्वारा निर्देशित 'गबन' (1966) फिल्म सामाजिक दशा का चित्रण करती है। ए. आर. कारदार ने प्रेमचंद जी की कहानी 'त्रिया चरित्र' को आधार बनाकर 'स्वामी' (1941) फिल्म का निर्माण किया। यह फिल्म एक सामाजिक चिंतन का उदाहरण देती हुई समाज में मानवीयता को झकझोर कर रख देती है। 1940 मे रंगभूमि उपन्यास पर 'रंगभूमि' फिल्म बनाई गई, जो मानव जीवन संघर्ष के बदलाव को प्रकट करती है परंतु 'त्रिया चरित्र' और 'रंगभूमि' दोनों ही फिल्में दर्शकों को अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाई। 1981 में भारत सरकार ने निर्माता के रूप में सत्यजीत रे के निर्देशन में 'सद्गति' फिल्म का निर्माण किया इस फिल्म में मानसिक रूप से गुलाम व्यक्ति, जो ब्राह्मणवाद से ग्रसित होता है। शोषण का शिकार रहता है और अत्याचार सहता है इसी मानसिक गुलामी को यह फिल्म दर्शाती है। बांग्ला भाषा में मृणाल सेन के निर्देशन में 'कफन' कहानी पर फिल्म बनाई गई, जिसका नाम था 'ओका उरी कथा' (1977)। यह फिल्म गरीबी व जिजीविषा के यथार्थ चित्रण के साथ बुरी लत को प्रदर्शित करती है।

प्रेमचंद के साहित्य पर आधारित सभी फिल्में समाज की रूढ़ि को तोड़ने का सफल कार्य करती हैं, परंतु दर्शक चलचित्र की फिल्मी दुनिया में मनोरंजन करते हुए चलचित्र के अंत में स्वांत सुखाय की प्रतिपुष्टि चाहते हैं। अतः प्रेमचंद के यथार्थवादी साहित्य के अंत में स्वांत सुखाय की प्रतिपुष्टि नहीं हो पाती है। प्रेमचंद का साहित्य दर्शकों को चलचित्र के पर्दे पर रिझाने में असफल रहा। इसीलिए मुंशी प्रेमचंद की कहानियों पर आधारित लगभग सभी फिल्में इतनी सफल नहीं रही हैं। उनकी सफलता का उद्देश्य सिर्फ साहित्यिक विद्यार्थियों तक ही सीमित रहा है। सच्चे अर्थों में मुंशी प्रेमचंद का साहित्य यथार्थ-आदर्श के पटल पर मानव जीवन को धर्म व संस्कृति इत्यादि के भेदभाव में जीवन जीने वाले लोगों को एक साथ मिलकर रहने की शिक्षा देता हैं। प्रेमचंद का साहित्य अत्याचारी व्यक्ति को शोषण का त्याग और शोषित को शोषण का विरोध करते हुए दोनों

को उभरने का अवसर देता है। प्रेमचंद का साहित्य एक ओर शोषण को मिटाने की प्रेरणा देता है, वहीं दूसरी ओर बेबस को बलशाली बनाने की अधिकता पर जोर देता है। अत: चलचित्र में यह यथार्थ रास नहीं आ सका। प्रेमचंद जी की साहित्य पर आधारित फिल्मों में मानवता से मानवता को जोड़ने व जातिवाद संघर्ष मिटाने का एक सफल प्रयास किया गया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. सिनेमा हिंदी साहित्य – इकबाल रिजवी, हिंदी समय में इकबाल रिजवी की रचनाएँ, मगाँअंहिविवि, वर्धा ई पत्रिका।

2. हिंदी साहित्य और सिनेमा – विवेक दुबे वेब पेज।

3. साहित्य और सिनेमा – अजय कुमार चौधरी, निबंध साहित्य और सिनेमा, सहायक प्राध्यापक, पी एन दास पलता।

4. हिंदी साहित्य और सिनेमा का अंतर्संबंध – रमेश चंद्रा, रमेश चंद्रा वेब ब्लॉग।

5. यू ट्यूब पर प्रेमचंद कथाधारित फिल्में।

6. इक्कीसवीं सदी में दलित आंदोलन – डॉ. जय प्रकाश कर्दम, पंकज पुस्तक मंदिर दिल्ली।

– शोधार्थी, राजकीय मॉडल उच्च माध्यमिक विद्यालय, करसान, चंडीगढ़-160002

❑❑❑

हिंदी फिल्मों में जातिप्रथा के विभिन्न आयामों का चित्रण

उमेश कुमार

भारतीय सिनेमा का आरंभ अवाक फिल्मों से हुआ था। तत्कालीन लोकप्रिय सिनेमा ने उस पारसी थियेटर की जगह अपनी जड़े जमाईं थीं, जो शहरी निम्नमध्यवर्ग के मनोरंजनार्थ था। इसी पारसी थियेटर के नाटकों का प्रभाव आरंभिक भारतीय सिनेमा पर दिखाई देता है। लेकिन अवाक फिल्मों के समय भी ऐसी फिल्मों का निर्माण होने लगा था, जिनमें सामाजिक सरोकारों को विषय बनाया गया था। उदाहरणार्थ, बाबूराव पेंटर की फिल्म 'सावकारी पाश' (1925) जो वी. शांताराम अभिनीत थी। इसमें साहूकारों के शोषण को कथा का विषय बनाया गया था।

हिंदी सिनेमा के सवाक युग की शुरुआत के साथ ही ऐसी अनेक फिल्में बनने लगीं जिनका सामाजिक सवालों से सरोकार था। 1932 में जब ब्रिटिश सरकार ने निर्वाचन क्षेत्रों को जाति और धर्म के आधार पर विभाजित करने का प्रयत्न किया। उस समय देश में जो बहस चली और गांधी तथा अंबेडकर के मध्य जो समझौता हुआ और बाद में जो पूना पैक्ट के नाम से जाना गया, उसने अछूतों के सवाल को सबसे बड़ा राजनैतिक सवाल बना दिया। अब खुद गांधी जी ने महसूस किया कि स्वतंत्रता आंदोलन में जब तक अछूतों को शामिल नहीं किया जाएगा। तब तक सच्ची स्वतंत्रता प्राप्त नहीं होगी। अंबेडकर तो बहुत पहले ही यह महसूस कर चुके थे, कि जब तक सामाजिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं हो जाती तब तक राजनैतिक स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है। अंबेडकर ने अछूतों के अधिकारों के लिए गोलमेज सम्मेलन में आवाज उठाई और सामाजिक स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया। अंबेडकर के साथ गांधी जी ने भी उस समय अछूतों के अधिकारों के लिए न केवल आवाज उठाई बल्कि छुआछूत जैसी अमानवीय प्रथा को खत्म करने का साहसिक प्रयास किया, अछूतों के मंदिर प्रवेश और उनके साथ मानवीय व्यवहार को सामाजिक आंदोलन का मुख्य हिस्सा बनाया तो उसका प्रभाव हिंदी सिनेमा पर भी पड़ना जरूर था। इसी प्रभाव ने 1934 में न्यू थियेटर्स की फिल्म 'चंडीदास' का निर्माण संभव बनाया, जो छुआछूत की समस्या पर बनी पहली लोकप्रिय फिल्म थी और जो आज भी दर्शकों द्वारा सराही जाती है। 1936 में बांबे टॉकीज की फिल्म 'अछूत कन्या' निर्मित हुई। 1940 में 'अछूत' नाम से एक और फिल्म का निर्माण हुआ। ये फिल्में उस समय बहुत लोकप्रिय हुईं। जैसा कि फिल्मों के नाम से भी प्रकट होता है कि इन फिल्मों का संबंध छुआछूत की समस्या से था। फिल्म यह बताती है कि जन्म से न कोई बड़ा होता है और न कोई छोटा। जिन्हें जन्म के आधार पर जाति से छोटा समझा जाता है। वे भी इंसानियत में उनसे बड़े हो सकते हैं। जो अपने को जन्म के आधार पर जाति से ऊँचा समझते हैं। उनसे भी रोटी-बेटी का संबंध बनाया जा सकता है और बनाया जाना चाहिए। उमा शशि और के.एल. सहगल अभिनीत फिल्म 'चंडीदास' में प्रेम और समानता का यही संदेश दिया गया है। देविका रानी और अशोक कुमार अभिनीत फिल्म 'अछूत कन्या' में भी यही संदेश दिया गया है। गांधी जी के हरिजनोद्धार से प्रेरित यह फिल्म गांधी जी के विचार से आगे तक बढ़ती है।

उनका मुख्य जोर छुआछूत समाप्ति और मंदिरों में हरिजन प्रवेश तक ही सीमित था। लेकिन यह फिल्म ऊँची और नीची जातियों के बीच विवाह संबंधों का समर्थन भी करती है, लेकिन उस दौर की फिल्मों की सीमा यह भी थी कि वे जातिवाद के सवाल को सामाजिक सीमा में ही देखती हैं, उसके आर्थिक, राजनैतिक और शैक्षणिक पक्ष की उपेक्षा करती हैं। यह विशेषता बहुत बाद तक बनी रहती है। बिमल राय की फिल्म 'सुजाता' (1959) की सीमा भी यही है।

हिंदी सिनेमा के आरंभिक दौर में कुछ ऐसी फिल्में भी बनीं जो प्रत्यक्ष तौर पर जातीय समस्या पर नहीं बनी हैं, लेकिन इनमें प्रदर्शित समस्याओं का संबंध निम्नवर्गो से भी उतना ही गहरा है। इस संदर्भ में छठे दशक में निर्मित बिमल राय की 'दो बीघा जमीन' (1953), राजकपूर की 'बूट पॉलिश' (1954), 'जागते रहो' (1956), और 'अब दिल्ली दूर नहीं' (1957) अपना महत्व रखती हैं। इन फिल्मों पर नव यथार्थवाद का प्रभाव था। नव यथार्थवाद का आरंभ इटली के सिनेमा से हुआ था। प्रसिद्ध इतालवी फिल्म निर्देशक विटोरियो डि सिका की फिल्म 'दि बाइसिकल थीफ' (1948) ने विश्व के सभी फिल्मकारों को प्रभावित किया था। भारत में भी सत्यजीत रे, ऋत्विक घटक, राजकपूर, बिमल राय आदि कई फिल्मकारों ने छठे दशक में ऐसी फिल्में बनाई थीं, जिनमें उस सामाजिक यथार्थ को अपनी फिल्मों का विषय बनाया, जिनका संबंध समाज के सर्वाधिक उत्पीड़ित और शोषित वर्ग से था। बिमल राय की फिल्म 'दो बीघा जमीन' का संबंध एक गरीब किसान से है। यह गरीब किसान अपनी जमीन जमींदार के पास गिरवी रख देता है और वह जमीन को छुड़ाने में असमर्थ है। एक दिन उसकी जमीन नीलाम कर दी जाती है। वह किसान से मजदूर बनने को मजबूर हो जाता है। 'दो बीघा जमीन' की कथावस्तु का केंद्रीय भाव प्रेमचंद के महान उपन्यास 'गोदान' से समानता रखता है। गौरतलब है कि प्रेमचंद के उपन्यास का नायक होरी भी निम्न वर्ग का था। 'दो बीघा जमीन' के किसान की जाति के बारे में कुछ नहीं बताया गया है। लेकिन यह यथार्थ है कि गरीब किसानों के इस वर्ग में अधिकतर वे समुदाय ही आते हैं, जिन्हें निम्न जाति का माना जाता है। फिल्मकार की दृष्टि वर्ण की बजाय वर्ग आधारित रही। अतः उन्होंने जाति के प्रश्न को मूल में स्थान नहीं दिया लेकिन इससे जमीन का प्रश्न कम महत्वपूर्ण नहीं हो जाता। यह आज भी उतना ही यथार्थ है कि जातिवाद की समस्या का कोई समाधान भूमि सुधारों को लागू किए बिना नहीं हो सकता। 'दो बीघा जमीन' में जमीन की समस्या को विषय बनाकर निम्न जातीय समाज की मूल समस्या को ही बिमल राय अभिव्यक्त कर रहे थे। राजकपूर की फिल्म 'बूट पॉलिश' का संबंध महानगर की झुग्गी बस्तियों में बसने वाले उन गरीबों से है, जो या तो भीख मांगकर अपना जीवन निर्वाह करते हैं या छोटे-मोटे काम करके। ऐसे काम आमतौर पर भारत में निम्न समझी जाने वाली जातियाँ ही करती रही हैं। यह ऐसे दो बच्चों की कथा है जिनकी माँ हैजे से मर गई है और जिनके पिता को काले पानी की सजा हो गई है। दोनों बच्चों का पालन-पोषण उनकी चाची करती है जो खुद शरीर बेचकर अपना जीवन यापन कर रही है। वह दोनों बच्चो से भीख मंगवाती है। ऐसे परिवेश में पलने वाले बच्चों में जॉन चाचा लगातार यह भावना भर देता है कि भीख मांगना बुरा काम है, मेहनत की रूखी-सूखी कहीं अधिक अच्छी है। इन मासूम बच्चों की एक ही इच्छा है कि वे भीख मांगना छोड़कर बूट पॉलिश का काम करें, जिससे उन्हें भीख मांगने के लिए किसी के आगे हाथ फैलाना ना पड़े। जूतों की पॉलिश करने का स्वप्न देखने वाले यह बच्चे क्या निम्न जाति के अलावा कुछ और हो सकते हैं? हिंदुस्तान में जूते गांठने वाले और जूतों की पॉलिश करने वाले लोगों की निम्न जाति के अतिरिक्त और क्या पहचान रही है? क्या फिर भी उनकी जाति का उल्लेख आवश्यक था? इसी प्रकार 'जागते रहो' का किसान जो मजदूरी की तलाश में शहर आता है। एक फ्लैट में पानी पीने के लिए घुस जाता है, उसके निम्न जाति का होने और न होने से क्या अंतर आ जाता? एक जातिवादी समाज में जैसे निम्न जाति के लिए पीने का पानी तक आसानी से प्राप्त नहीं होता। यहाँ प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी 'ठाकुर का कुआँ' की विषय वस्तु से समानता है। क्या इस किसान की स्थिति भी ठीक वैसी ही नहीं है? इसी तरह 'अब दिल्ली दूर नहीं' का मजदूर हरी जिसे उस अपराध के लिए जेल में बंद कर दिया गया है, जिसे उसने किया ही नहीं।

न्यायालय भी उसे आधे-अधूरे सबूतों पर ही फांसी की सजा सुना देता है। हरी नामक मजदूर के लिए न्याय की खातिर दिल्ली पहुँचकर नेहरू जी तक अपनी फरियाद पहुँचाने का प्रयास करने वाला उसका पुत्र केवल अपने पिता के लिए ही न्याय नहीं मांग रहा है, बल्कि उन सभी के लिए न्याय मांग रहा है, जिनको गरीबी और जहालत का जीवन जीने के लिए मजबूर किया जाता रहा है। छठे दशक की ये फिल्में जो कई अर्थो में क्लासिकीय दर्जा प्राप्त कर चुकी हैं, समाज के उस वर्ग की कथा बयान करती हैं, निम्न जाति जिससे जुड़ी है। एक अर्थ में इन फिल्मों में जाति का जिक्र न होना फिल्मकारों के उस प्रगतिशील नजरिए का परिचालक भी है, जो इन फिल्मों के जरिए एक समतावादी समाज निर्माण का संदेश देना चाहते हैं। एक ऐसा समाज जहाँ किसी तरह का भेदभाव, शोषण और उत्पीड़न न हो, जातिवादी प्रताड़ना भी नहीं।

फिल्मकारों के इस प्रगतिशील नजरिए का प्रमाण हमें उन फिल्मों में भी दिखाई देता है जिसमें जातीय समस्या को प्रत्यक्ष तौर पर दर्शाया गया है। बिमल राय ने 'सुजाता' (1959) फिल्म का निर्माण किया। यह फिल्म जातिवाद पर आधारित थी। सुजाता एक अछूत माता-पिता की कन्या है, जिनकी महामारी के दौरान मृत्यु हो जाती है। ग्रामीण उस कन्या को उसी मध्यवर्गीय और उच्चवर्णीय परिवार को सौंप देते हैं जिनके यहाँ उसका पिता काम करता था। परिवार उस कन्या को बोझ समझता है और छुटकारा पाने का प्रयास करता है लेकिन सफल नहीं हो पाता। फिल्म जातिवाद के प्रश्न को भावात्मक स्तर पर ही अधिक उठाती है और उसका संदेश भी बहुत आसान है। जबकि जातिवाद की समस्या बहुत जटिल है। 'अछूत कन्या' और 'सुजाता' दोनों में छुआछूत की जातिप्रथा को बहुत हद तक सांकेतिक रूप दिया गया है। जबकि समाज में जातिप्रथा बहुत विकराल समस्या के रूप में अपनी जड़े जमाए हुए थी। सुजाता में जातिप्रथा की समस्या बहुत हद तक एक उच्च वर्ग के परिवार की निजी और नैतिक समस्या के रूप में नजर आती है, न कि एक सामाजिक समस्या के तौर पर। फिल्म में सुजाता का अछूत होना इस अर्थ में भी अधिक प्रभाव नहीं छोड़ता क्योंकि उसका पालन-पोषण एक उच्च वर्ग के परिवार में हुआ है और फिल्म यह अभिव्यक्त करती दिखती है कि सुजाता तो वैसे भी जन्मना ही अछूत है अन्यथा उच्च वर्ग में पालन-पोषण होने के कारण वह तो उच्च वर्ग की है। इसका अर्थ यह भी निकलता है कि अछूत अगर उच्च वर्ग के संस्कार ग्रहण करले तो वे समाज में अपनाने योग्य हैं। यह अभिव्यक्ति उच्च वर्ग की श्रेष्ठता को पुनर्स्थापित करना ही तो है। 'सुजाता' जैसी फिल्मों के प्रगतिशील नजरिए की यह सीमा है। लेकिन सुजाता की इस अभिव्यक्ति के सकारात्मक पक्ष को इस नजरिए से भी देखा जाना चाहिए कि आखिकार फिल्म का उद्देश्य जन्म आधारित श्रेष्ठता के सिद्धांत को नकारना है। प्रगतिशील फिल्मकारों ने इस प्रश्न को कई फिल्मों में उठाया। उदाहरणार्थ, राजकपूर की प्रसिद्ध फिल्म 'आवारा' (1951) का मूल मकसद ही यह था कि व्यक्ति जन्म से अच्छा या बुरा नहीं होता, बुरा होता है अपने कर्मो से और कर्मो का निर्धारण उसके परिवेश पर आधारित होता है। फिल्म का संदेश यह था कि यदि हम अपने करीब की दुनिया को बेहतर बनाएँगे तो कोई व्यक्ति बुरा नहीं बन सकता। स्पष्ट है यह संदेश अपने मूल अर्थ में जातिवाद की अवधारणा को नकारता है। यदि हम लोकप्रिय और व्यावसायिक फिल्मों में जातिवाद की समस्या के प्रति रवैये से इसकी तुलना करें तो इसको अधिक अच्छे ढंग से समझ सकते हैं। हिंदी का लोकप्रिय सिनेमा आमतौर पर जातिवाद की समस्या को प्रत्यक्ष रूप से नहीं उठाता। ऊपरी तौर पर हिंदी फिल्में जाति आधारित ऊँच-नीच के भेदभाव को नकारती हुई नजर आती हैं।

भारतीय समाज में अंतर्निहित जटिलताओं को कहीं अधिक अच्छे ढंग से अभिव्यक्त उन फिल्मकारों ने किया है जिन्होंने यथार्थवादी परंपरा से अपने को संबद्ध किया है। 1970 के आस-पास हिंदी सिनेमा में यथार्थवाद की जो नई लहर उभरी उसने जातीय समस्याओं को भी अपना विषय चुना। फिल्मकार श्याम बेनेगल ने शुरू से ही इस समस्या पर ध्यान दिया है। 'अंकुर' (1973), 'मंथन' (1976) और 'समर' (1998) में उन्होंने जातीय समस्या को अपनी फिल्मों का विषय बनाया है। इसी तरह मृणाल सेन की फिल्म 'मृगया' (1976), गोविंद निहलानी ही फिल्म 'आक्रोश' (1980), सत्यजीत रे की फिल्म 'सद्गति' (1981), रिचर्ड

एटनबरो की 'गांधी' (1982), गौतम घोष की फिल्म 'पार' (1984), प्रकाश झा की फिल्म 'दामुल' (1984), अरुण कौल की फिल्म 'दीक्षा' (1991), शेखर कपूर की फिल्म 'बैंडिट क्वीन' (1994), जब्बार पटेल की 'डॉ. बाबा साहेब अंबेडकर' (2000), अनवर जमाल की 'स्वराज : दि लिटिल रिपब्लिक' (2003), मजहर कामरान की 'मोहनदास' (2009), प्रकाश झा की 'आरक्षण' (2011), संजीव जायसवाल की 'शूद्र : दि राइजिंग' (2012), केतन मेहता की 'मांझी : दि माउंटेन मैन' (2013), अश्विनी अय्यर तिवारी की 'निल बटे सन्नाटा' (2016), अनुराग कश्यप की 'मुक्काबाज' (2018) और अनुभव सिन्हा की 'आर्टिकल 15' (2019) में भी हम प्रत्यक्ष या अप्रयत्क्ष तौर पर जातीय यथार्थ की अभिव्यक्ति देख सकते हैं। इन फिल्मों की खासियत यह है कि ये फिल्में जातीय प्रश्न को व्यापक सामाजिक दायरे में रखकर देखती हैं। इनमें सामाजिक और आर्थिक शोषण को नजर अंदाज नहीं किया गया है। ये फिल्में सामाजिकता के साथ आर्थिक सजगता और आधुनिक सोच को प्रकट करती हैं।

सातवें दशक और उसके बाद के दशकों की फिल्मों का विश्लेषण करने से यह बात साफ उजागर होती है कि सामाजिक उत्पीड़न के सवाल के साथ आर्थिक शोषण के सवाल को भी साथ लिया गया है। 'अंकुर' फिल्म में निम्न जाति की स्त्री की आर्थिक परतंत्रता का लाभ उठाकर उसका शारीरिक शोषण करने वाले जमींदार के विरुद्ध फिल्म में अभिव्यक्त गुस्सा किसी विद्रोह में परिणत नहीं होता। लेकिन एक छोटे बच्चे द्वारा जमींदार के घर पर पत्थर फेंकना उस भविष्य की तरफ जरूर इशारा करता है, जब निम्न जाति के लोग इस प्रकार के शोषण के विरुद्ध उठ खड़े होंगे। 'मंथन' फिल्म में सहकारिता का आंदोलन निम्न जातीय समाज में राजनैतिक जागरूकता का माध्यम बनकर आया है। निम्न जातीय और गैर निम्न जातीय गरीबों के बीच शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध राजनैतिक लामबंदी सही राजनैतिक संदर्भ को भी दिखाती है। 'मृगया' फिल्म में उत्पीड़न के विरुद्ध आदिवासी समुदाय के संघर्ष की कथा को नायकत्व की गरिमा के साथ अभिव्यक्त किया गया है। 'सद्गति' फिल्म प्रेमचंद की इसी नाम की कहानी पर आधारित है। इसमें उच्च जातियों द्वारा बेगारी के द्वारा निम्न जातियों के शोषण की कथा चित्रित है। यह कथा निम्न जातियों की सामूहिक एकता और शोषण के विरुद्ध संकल्प के साथ एकजुट होकर खड़े होने की ताकत का भी चित्रण करती है। इसी फिल्म में एक ओर नव यथार्थवाद की परंपरा है तो दूसरी ओर सामाजिक परिवर्तन का क्रांतिकारी राजनैतिक संदेश भी है। 'पार', 'आक्रोश' या 'दामुल' फिल्म का यथार्थवाद भी उसी राजनैतिक चेतना से पैदा हुआ है जो उस दौर में साहित्य का भी मूल स्तर था। लेकिन इन तीनों फिल्मों में कहीं न कहीं निम्न जाति के रूप में सामाजिक चेतना पृष्ठभूमि में ही बनी रहती है। 'बैंडिट क्वीन' फिल्म फूलन देवी की जीवनी पर आधारित है। इसमें एक निम्न जाति की स्त्री के आत्मसम्मान के संघर्ष को जिस सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और शैक्षणिक परिप्रेक्ष्य में उठाया गया है, वह इस बात को तो सिद्ध करता ही है कि जागरूक फिल्मकार जातीय सवाल की जटिलता को कलात्मक उत्कर्षता के साथ दिखाने की क्षमता रखता है। 'समर' फिल्म में शहरी आधुनिकतावादी होने का दावा करने वाले लोगों में भी जातिवाद किस तरह अंदर तक बैठा हुआ है, उसका बहुत ही प्रभावशाली चित्रण हुआ है। 'आरक्षण' फिल्म चैरिटी से आरंभ होकर चैरिटी पर समाप्त हो जाती है। सारा जीवट, अधिकार की मांग, शोषण-दमन की व्यथा और संघर्ष ये सब कुछ केवल एक राजनैतिक और आर्थिक रूप से सुदृढ़ और एक ट्रस्ट की मालकिन महिला की क्षणिक उपस्थिति में खत्म हो जाता है। जिस प्रकार निम्न जातीय समुदाय अनुदान और अधिकार के बीच पिस रहा है, उसी तरह फिल्म के आरंभ और समाप्त के मध्य जातीय विमर्श भी पिसकर रह जाता है। यदि कुछ बचता है तो एक बूढ़े शिक्षक का जज्बा, पत्नी का विश्वास, बेटी का प्रेम, छात्र का अपने शिक्षक के प्रति सम्मान तथा अवर्ण और सवर्ण जाति के दो संवेदनशील युवाओं के बीच की दोस्ती। विमर्श कहीं खो गया है। विमर्श को, संघर्ष को तो ट्रस्ट की मालकिन ने अपनी उदारता और अनुदान से दबा दिया है। यह फिल्म नव उदारवाद की झलक दिखाती है। फिल्म यह भी दिखाती है कि दीपक जैसे निम्न जाति वालों के पास एक चीज है जो तमाम छल-कपट के बाद भी हड़पी नहीं जा सकती और जिसको छीनने की कोशिशें अब

लगातार जोरों पर हैं, वह है- आत्मबल। वह कहता भी है कि "हमारे पास आत्मबल है जिसे कोई ताकत कुचल नहीं सकती।" और यह सत्य भी है कि जीतने के लिए आत्मबल चाहिए। 'मोहनदास' फिल्म में जहाँ बेहतर जीवन की आशा लिए एक निम्न जाति का युवक शिक्षा के क्षेत्र में सफलता के झंडे गाड़ता है वह कड़ी मेहनत से ज्ञान और डिग्री प्राप्त करता है। पढ़ाई समाप्त करने के बाद नौकरी के लिए यहाँ-वहाँ न जाने कहाँ-कहाँ चप्पल घिसता है और आखिरकार जब नौकरी प्राप्त होती है तो व्यवस्था का षड्यंत्र उससे उसकी नौकरी ही नहीं, उसका नाम भी छीन लेता है। मोहनदास का अंतिम दृश्य इस व्यवस्था की नेकनीयती पर एक करारा व्यंग्य है- "आप शायद गलत जगह आई हैं, यहाँ कोई मोहनदास नहीं रहता।" मेघना (मीडिया कर्मी) के मुँह पर भड़ाक से बंद हुआ दरवाजा, एक जाति के उस अथक संघर्ष की चरम परिणति है जिसमें वह पहले खोल से बाहर आता है और फिर आखिरकार उसी खोल में जाने को मजबूर कर दिया जाता है। 'मुक्काबाज' फिल्म में प्यार-मोहब्बत के तड़के में मुक्केबाजी की जिद और आज के समाज की हकीकत दिखाई है। बनारस निवासी निम्न जाति का कोच संजय कुमार, ठाकुर जाति के श्रवण कुमार सिंह को ट्रेनिंग देने का जोखिम, मुक्केबाजी संघ के माफिया भगवान दास मिश्रा के विरोध के बावजूद उठाता है। परिणामत: उसकी जबरदस्त पिटाई होती है और वह हमेशा के लिए कोमा में चला जाता है। श्रवण कुमार सिंह, भगवान दास मिश्रा की भतीजी सुनैना मिश्रा के साथ वैवाहिक जीवन इस शर्त के साथ व्यतीत करने लगता है कि वह भविष्य में किसी मुक्केबाजी प्रतियोगिता में हिस्सा नहीं लेगा। इसी शर्त पर भगवानदास मिश्रा, श्रवण को माफ करता है और उसको जिंदा छोड़ता है। फिल्म के अंतिम दृश्य में श्रवण कुमार सिंह बहुत सम्मान से भगवान दास मिश्रा के पैर छूकर आशीर्वाद लेता है। यह सब कुछ आज के समाज में जातीय श्रेष्ठता को दिखाना ही तो है। 'आर्टिकल 15' फिल्म भारत का संविधान, 1950 के आर्टिकल 15 पर आधारित है। जिसमें यह है कि धर्म, नस्ल, जाति, लिंग, जन्म स्थान या इसमें से किसी आधार पर राज्य अपने किसी भी नागरिक से कोई भेदभाव नहीं करेगा। इसमें उत्तर प्रदेश के लाल गाँव की कहानी है। अपर पुलिस अधीक्षक अयान रंजन (आयुष्मान खुराना) यहाँ पद-स्थापित होते हैं। सिपाहियों में कोई ब्राह्मण है, तो कोई अन्य पिछड़ी जाति से है, तो कोई निम्न जाति का है। सभी जातियों में भी ऊँच-नीच है। इसी जातिवाद के चश्में से वे थाने में आने वाली रिपोर्टो को तवज्जो देते हैं। गाँव से तीन निम्न जाति की लड़कियाँ गायब हैं। दो लड़कियों की लाश दूसरे दिन पेड़ पर लटकी मिलती हैं। एक लड़की की तलाश करते हुए अयान को समझ आता है कि निम्न जाति के लोगों के साथ अन्याय और अत्याचार अभी भी हो रहा है। थाने में अयान 'आर्टिकल 15' की फोटो कॉपी लगा देता है। इसमें आर्थिक सवाल यह उठता है कि उनको अभी भी मजदूरी के पैसे बढ़ाने की मांग पर उनका शोषण होता है और मौत के मुँह में धकेल दिया जाता है। इसमें राजनेताओं और पुलिसवालों का यथार्थ चित्रण हुआ है।

जातीय सरकार के इतने जटिल और अतंर्विरोधी पहलुओं को छूने का प्रयास इस बात का प्रमाण तो है ही कि हिंदी सिनेमा की प्रगतिशील धारा जातिवाद की समस्या के सवाल को उतना ही महत्व देती रही है जितना कि अन्य सामाजिक सवालों को। इस धारा के प्रभाव का विश्लेषण केवल इस बात से नहीं किया जा सकता कि इन फिल्मों को कितने दर्शक मिले। इनके दर्शक कम हो सकते हैं लेकिन इसका प्रभाव व्यावसायिक सिनेमा की तुलना में कहीं ज्यादा स्थायी और दीर्घकालीन होता है।

फिल्म सूची

1. पेंटर, बाबूराव; 'सावकारी पाश', 1925
2. बोस, नितिन; 'चंडीदास', 1934
3. आस्टेन, फ्रांज; 'अछूत कन्या', 1936
4. सिका, विटोरियो डि; 'दि बाइसिकल थीफ', 1948
5. अरोरा, प्रकाश; 'बूट पॉलिश', 1954
6. राजकपूर; 'अब दिल्ली दूर नहीं', 1957
7. राय, बिमल; 'सुजाता', 1959
8. बेनेगल, श्याम; 'अंकुर', 1973
9. निहलानी, गोविंद; 'आक्रोश', 1980
10. रे, सत्यजीत; 'सद्गति', 1981
11. एटनबरो, रिचर्ड; 'गांधी', 1982

12. झा, प्रकाश; 'दामुल', 1984
13. घोष, गौतम; 'पार', 1984
14. कपूर, शेखर; 'बैंडिट क्वीन', 1994
15. बेनेगल, श्याम; 'समर', 1999
16. पटेल, जब्बार; 'डॉ बाबासाहेब अंबेडकर', 2000
17. जमाल, अनवर; 'स्वराज : दि लिटिल रिपब्लिक', 2003
18. कामरान, मजहर; 'मोहनदास', 2009
19. जायसवाल, संजीव; 'शूद्र : दि राइजिंग', 2012
20. मेहता, केतन; 'मांझी : दि माउंटेन मैन', 2013
21. तिवारी, अश्विनी अय्यर; 'निल बटे सन्नाटा', 2016
22. सिन्हा, अनुभव; 'आर्टिकल 15', 2019

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. किशोर, पंकज ; (2017), 'डॉ. भीमराव अंबेडकर', सत्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली
2. कीर, धनंजय (अनुवादक-सुर्वे, गजानन); (2006), 'डॉ. बाबा साहेब अंबेडकर : जीवन-चरित' रामदास भटकल, पॉपुलर प्रकाशन, नई दिल्ली
3. कुमार, डॉ. अरुण; (2017), 'श्याम बेनेगल : भारतीय संवेदनाओं और अधिकारों का सिनेमा', साहित्यागार, जयपुर
4. चौकसे, जयप्रकाश; (2010), 'राजकपूर : सृजन प्रक्रिया', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
5. त्रिपाठी, सत्यदेव; (2013), समकालीन फिल्मों के आईने में समाज', दिल्ली
6. प्रसाद, कमला, प्रकाश स्वयं, शर्मा, राजेंद्र, अग्रवाल, प्रहलाद (संपादक); (2009), 'हिंदी सिनेमा : बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक', इलाहाबाद
7. पारख, जवरीमल्ल; (2001), 'लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ', अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली
8. पारख, जवरीमल्ल; (2006), 'हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र', ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) दिल्ली
9. पालीवाल, कृष्णदत्त; (2016), 'डॉ अंबेडकर : अस्वीकार का साहस', सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
10. पूरणमल; (2012), 'गांधी, अंबेडकर एवं दलित कल्याण', प्रेमचंद बाकलीवाल, आविष्कार पब्लिशर्स, जयपुर
11. बरनवाल, अनूप; (2017), 'निर्माण-पुरुष डॉ. अंबेडकर की संविधान यात्रा', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
12. मून, वसंत (अनुवादक: पांडे, प्रशांत); (2017), 'डॉ. बाबासाहेब अंबेडकर', राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली
13. मीणा, प्रमोद (संपा.); (2016), 'हिंदी सिनेमा: दलित-आदिवासी विमर्श', समय के संवाद-19, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली
14. रज़ा, राही मासूम (संपादक एवं संकलन : सिंह कुँवरपाल); (2015), 'सिनेमा और संस्कृति', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
15. रंगूनवाला, फिरोज; (1979), 'अ पिक्टोरियल हिस्ट्री ऑफ इंडियन सिनेमा', दि हमलिन पब्लिशिंग ग्रुप लिमिटेड लंदन, इंग्लैंड,
16. शर्मा, डॉ. रामविलास; (2017), 'गांधी, अंबेडकर, लोहिया और भारतीय इतिहास की समस्याएँ', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
17. शर्मा, पंकज (संपा.); (2015), 'हिंदी सिनेमा की यात्रा', समय से संवाद-5, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली

पत्र-पत्रिकाएँ

1. जनसत्ता, नई दिल्ली
2. टाइम्स ऑफ इंडिया, नई दिल्ली
3. द हिंदू, नई दिल्ली
4. दैनिक भास्कर, जयपुर
5. हिंदुस्तान, नई दिल्ली

- सहायक आचार्य (हिंदी), राजकीय वाणिज्य महाविद्यालय, अलवर (शोधार्थी, राज ऋषि भर्तृहरि मत्स्य विश्वविद्यालय, अलवर)

❑❑❑

हिंदी सिनेमा एवं जनजातीय संस्कृतिः विशेष संदर्भ पूर्वोत्तर भारत

डॉ. मिलन रानी जमातिया

जैसा कि हम सभी जानते हैं कि भारतीय हिंदी सिनेमा ने 1912-13 ई. से अपनी यात्रा आरंभ की और जन-रुचि, जिज्ञासा एवं समय की मांग के अनुसार स्वयं को बदलते हुए इसने एक नई पहचान बनाई है। इस सुनहरे सफर के प्रति प्रत्येक भारतीयों का बहुत गहरा आकर्षण रहा है। कुछ विद्वानों ने सिनेमा को "मनुष्य जाति का सबसे बड़ा सम्मोहन केंद्र" माना तो कुछ ने इसे "अपने समय के समाज के परिवर्तनों का दर्पण" कहा है। यहाँ हर एक दशक अपने साथ तमाम परिवर्तनों को लेकर आता है। आज के समाज का रेखांकन हम इस समय की फिल्मों में अच्छी तरह देख सकते हैं। चाहे वह धार्मिक आडंबरों और सामाजिक रूढ़ियों पर आधारित 'पीके' फ़िल्म हो या फिर 'ओएमजी-ओह माय गॉड' हो, चाहे वो लिव-इन रिलेशनशिप पर बनने वाली 'शुद्ध देसी रोमांस' हो या 'कॉकटेल'। हिंदी सिनेमा ने शुरू से लेकर आज तक अपने समाज की प्रतिध्वनि की भूमिका अच्छी तरह निभाई है। ऐसा कोई मुद्दा नहीं, विमर्श नहीं जिसकी आवाज हिंदी सिनेमा ने न सुनी हो, या न उठाई हो। चाहे वह स्त्री विमर्श हो, दलित विमर्श हो या फिर आदिवासी/जनजाति विमर्श।

हिंदी सिनेमा को यदि हम आदिवासी जीवन के संदर्भ में देखें तो 'राही' (1952), 'सगीना महतो' (1970), 'मृगया' (1976), 'आक्रोश' (1980), 'द नक्सलाइट' (1980), 'तरंग' (1984), 'मैसी साहब' (1986), 'हजार चौरासी की माँ' (1998), 'लाल सलाम' (2002), 'हजारों ख्वाहिशें ऐसी' (2005), 'चमकू' (2008), 'रेड अलर्ट' (2009), 'रावन' (2011), 'चक्रव्यूह' 2012 आदि ऐसी कई फिल्में हैं, जो हिंदी सिनेमा की दुनिया में आदिवासी/जनजातीय जीवन को उकेरती हैं। औपनिवेशिक काल में साहूकारी दमन की समस्या को केंद्र बनाकर 'मृगया' (1976) फिल्म बनाई जाती है तो 'आक्रोश' (1980) में स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय राज्य में पुलिस प्रशासन ठेकेदारी तंत्र के नीचे पिसते जनजातीय जीवन की त्रासदी चित्रित करती है, इसी तरह 'मैसी साहब' (1986) फिल्म हो आदिवासी समाज की 'गेनोंग प्रथा' पर आधारित है।

जनजातीय जीवन के कुछ पहलुओं को हिंदी सिनेमा ने अपने ढंग से प्रस्तुत करने की कोशिश की है, जो कि प्रशंसनीय है, लेकिन सवाल यह है कि हिंदी सिनेमा के पर्दे पर दिखाया जाने वाला आदिवासी/जनजातीय यथार्थ असल में कितना यथार्थपरक है और कितनी फंतासी या कल्पना आधारित है! ऐसे में जनजातीय जीवन के वास्तविक प्रस्तुतिकरण को लेकर मन में संदेह उत्पन्न होता है। जनजातीय जीवन के विभिन्न पहलुओं के बारे में निर्माता-निर्देशक, अभिनेता आदि की अनभिज्ञता इसमें बड़ी बाधा के रूप में सामने आते हैं, इसलिए जनजाति के कलाकारों का सीधा हस्तक्षेप इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण हो जाता है।

रही बात पूर्वोत्तर भारत आधारित हिंदी फिल्मों की, हम सब जानते हैं कि एक तो इस क्षेत्र पर आधारित फिल्में बहुत कम हैं, अगर हैं भी तो यहाँ की जनजातियों के जीवन पर आधारित फिल्में नगण्य कही जा सकती हैं; जबकि पूर्वोत्तर भारत में सिनेमा और रंगमंच की एक मजबूत परंपरा रही है। जिस समय यहाँ

यानी असम में ज्योति प्रसाद अग्रवाल के निर्देशन में पहली फिल्म 'सती जयमती' बनी, उसके बहुत पहले से यहाँ असमिया, बांग्ला और मणिपुरी रंगमंच मजबूती से खड़ा दिखाई देता है। पूर्वोत्तर के सिनेमा और कलाओं को लेकर विशेषज्ञता रखने वाले प्रो. ओम प्रकाश भारती के शब्दों में कहें तो, "पूर्वोत्तर भारत के कला रूपों में जो शिल्पकारी है, क्राफ्टिंग है, वह बहुत मज़बूत है। यह चीज़ उनकी रंगमंचीय परंपरा और दूसरे संचार और लोक माध्यमों में दिखाई देती है। यहाँ के रंगमंच से सिनेमा को बड़ा लाभ यह हुआ कि प्रशिक्षित अभिनेता मिल गए। अगर हम मुख्य धारा का सिनेमा देख लें, तो पाते हैं कि ऐसे अदाकार हमें कहीं देखने को नहीं मिलते जो पूर्वोत्तर भारत की इन फिल्मों में देखने को मिलते हैं। ज़्यादा से ज़्यादा वहाँ फारसी थियेटर का प्रभाव देखने को मिल रहा था, लेकिन पूर्वोत्तर के सिनेमा में अगर हम पहली फिल्म 'सती जयमती' को ही देख लें तो पाते हैं कि उस फिल्म की अभिनय शैली में भी भिन्नताएँ हैं। इसका कारण है कि वहाँ सामाजिक और भिन्न विषयों पर होने वाले रंगमंच से भिन्नताओं से भरपूर अभिनेता मिल रहे थे।" (2019 में ओम प्रकाश भारती द्वारा मनीष कुमार जैसल को दिए गए मूल साक्षात्कार के संपादित अंश से)

आशय यह है कि पूर्वोत्तर भारत ने ही साफ-सुथरी, अच्छी और सुलझी हुई फिल्में भारतीय समाज को सौंपी, उदाहरण के लिए ज्योति बरुआ के निर्देशन में बनी असम की पहली फिल्म 'सती जयमती' (1935) को देखें, जो नायिका प्रधान फिल्म थी, उसमें नायिका राजा के अत्याचार के विरुद्ध खड़ी होती है। वहीं फिल्म 'पियाली फुकन' जो अंग्रेज़ों के विरुद्ध थी, वह चाय बगानों के मज़दूर या स्थानीय जनजातियों को संगठित करके रिवोल्ट का प्रतिनिधित्व करती है। इस तरह हम देखते हैं कि शुरुआत के दिनों में ही यहाँ सामाजिक व्यक्तित्वों को लेकर कई फिल्में बनी जो उस समाज के लोगों का प्रतिनिधित्व करते दिखते हैं।

आज़ादी के बाद 1958 में एक और फिल्म 'रंगा पोलिस' बनती है, जिसे छह नेशनल अवार्ड दिए गए। निक बरुवा के निर्देशन में बनी इस फिल्म को उस दौर की महत्वपूर्ण फिल्मों में से एक माना जाता है। जिसमें उस दौर के करप्शन का चित्रण है, जो हिंदी या अन्य भारतीय भाषाओं में 70 के दशक यानी समानांतर सिनेमा और व्यावसायिक दौर में दिखता है।

पूर्वोत्तर भारत आधारित हिंदी फिल्मों का सार कुछ इस प्रकार है, यथा- भारतीय हिंदी फिल्म की दुनिया में राजतिलक के निर्देशन में बनी '36 घंटे' (1974), जिसमें डैनी देंजुंगपा को अत्यंत फूहड़, गैर जिम्मेदार, यथार्थ और अनुभव से दूर दिखाया जाता है। '36 घंटे' 1950 के दशक में न्यूयॉर्क शहर में हुई एक वास्तविक जीवन की घटना पर आधारित हॉलीवुड फिल्म 'द डेस्परेट आवर्स' का भारतीय संस्करण था। भूपेन हजारिका के निर्देशन में अरुणाचल प्रदेश के जन-जीवन पर आधारित 'मेरा धरम मेरी माँ' (1976) फिल्म इस अर्थ में महत्वपूर्ण मानी जा सकती है। फिल्म की कहानी आजादी के बाद अरुणाचल प्रदेश का राज्य रूप में उदय कैसे हुआ? उसके विकास की प्रमुख समस्याएँ क्या रहीं? कैसे वहाँ के शिक्षित युवकों ने अंधविश्वासों, रूढ़ियों का सामना कर लोगों को सही रास्ता दिखाया और सबसे बड़ी बात वहाँ के लोगों के देश प्रेम और देश भक्ति को, निर्माता, निर्देशक ने दिखाया है।

असम की क्रांति एवं उग्रवाद की समस्या पर बनी 'काल संध्या' (1997) भी इस कड़ी की महत्वपूर्ण फ़िल्म है, जिसके निर्देशक भवेंद्रनाथ सैइकिया हैं। इसका नायक एक शिक्षित और बेरोजगार युवक रंजीत है, जो उग्रवाद में शामिल है। सशस्त्र विद्रोहियों के लक्षित हत्याओं में लिप्त होने के कारण वह भी अनुराधा के पति की हत्या में शामिल है। कुछ दिनों बाद, स्थानीय कॉलेज के एक प्रोफेसर, बनजीत दत्ता की भी गोली मारकर हत्या कर दी गई। समय बीतने के साथ-साथ रंजीत प्रोफेसर के परिवार के करीब आता जाता है, सच्चाई जानने के बाद उसे अपने अपराध पर पछतावा होता है। इस फ़िल्म में अधिकतर कलाकार पूर्वोत्तर के ही हैं।

2003 में अनुराग बासु के निर्देशन में बनी 'साया', जिसमें आकाश 'अक्की' (जॉन अब्राहम) और उनकी पत्नी माया (तारा शर्मा) डॉक्टर मुख्य किरदार में हैं। जब भारत की बर्मा सीमा पर मलेरिया का हमला होता है, तो आकाश की अस्वीकृति के बावजूद, गर्भवती माया लोगों की मदद करने के लिए निकल जाती है। आकाश को जल्द ही एक बस दुर्घटना से उसकी मौत

की खबर मिलती है। भारी बारिश में बस पानी में दुर्घटनाग्रस्त हो जाती है। आकाश माया के निधन को स्वीकार नहीं कर पाता है और इस बारे में छानबीन करता है। सिस्टर मार्था नामक एक नन और कुछ सुरागों की मदद से, आकाश सीमा पर पहुँचता है। इस तरह इस फ़िल्म में पूर्वोत्तर की स्थितियाँ दर्शाई गई हैं।

2005 में मणिशंकर के निर्देशन में बनी 'टैंगो चार्ली' हिंदी भाषा में बनी, युद्ध आधारित फ़िल्म है। इस फ़िल्म का सार तरुण चौहान नामक अर्द्धसैनिक से भारतीय सीमा सुरक्षा बल में बतौर नव नियुक्त सिपाही के तथाकथित युद्ध में कठोर अनुभवों पर केंद्रित है। फ़िल्म में प्रस्तुत किया गया है कि सच्चे सिपाही जन्म नहीं लेते, बस बन जाते हैं।

2014 में उमंग कुमार की 'मैरी कॉम' फिल्म मणिपुर की मैरी कॉम की कहानी है। वे भारत के उस हिस्से की रहने वाली हैं, जहाँ आजादी के वर्षों बाद भी वहाँ के लोगों को बताना पड़ता है कि वे भारतीय हैं। मैरी कॉम ने एक ऐसा खेल चुना जिसमें पुरुषों का दबदबा है। भारत में बॉक्सिंग में महिला खिलाड़ी ढूँढे नहीं मिलती। मैरी कॉम के परिवार की आर्थिक हालत ऐसी नहीं थी कि उन्हें तमाम सुविधाएँ मिलती। मैरी के पिता इस खेल के खिलाफ थे। भारतीय खेलों में व्याप्त भ्रष्टाचार से तो सभी परिचित हैं। मैरी कॉम को भी अपने स्तर पर इससे लड़ना पड़ा। फेडरेशन मुक्केबाजों को डाइट में एक केला और चाय देता है। मैरी अपनी पहली फाइट भूखे पेट लड़ती है। उनका कोच पूछता है कि क्या वह लड़ लेगी तो वह कहती है कि सर, खुशी से ही पेट भर गया। तमाम बाधाओं को पार करते हुए मैरी ने विश्व चैम्पियन का खिताब एक-दो बार नहीं बल्कि पूरे पाँच बार अपने नाम किया। मैरी की कहानी सभी को प्रेरित करती है।

अनिरुद्ध रॉय चौधरी के निर्देशन में बनी 'पिंक' (2016) को व्यापक आलोचना मिली और अन्य सामाजिक मुद्दों पर सर्वश्रेष्ठ फिल्म के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार भी मिला पर फिल्म में एंड्रिया तारियांग नामक किरदार मूक या काठ की तरह पूर्वोत्तर की जनजाति महिला को रिप्रेजेंट करती है, इसके बावजूद चूँकि वह पूर्वोत्तर की है इसलिए उस पर कई तरह के आरोप लगाए जाते हैं।

रूपक गोगई के निर्देशन में 2017 में 'गैंग्स ऑफ नार्थ ईस्ट' नामक एक रोमांटिक फिल्म आई। फिल्म में रेवती क्षेत्री, परीप्रिया अहमद, विवेक बोरा और उदयन दुवारा प्रमुख भूमिकाओं में है। फिल्म की कहानी शिलांग की धरती में एक किशोर लड़की मार्ग्रेट और उसकी सिंगल मदर रोजी के जीवन के इर्द-गिर्द घूमती है। जिसमें माग्रेट का उसकी सिंगल मदर द्वारा स्वस्थ माहौल में पालन-पोषण दिखाया जाता है। लेकिन आराम के जीवन के बावजूद, वह आत्मनिर्भर होने का फैसला करती है और ट्यूशन पढ़ाना शुरू कर देती है। वह अपने जीवन में एक खुशहाल परिवेश में है पर एक लंबे समय तक छिपा हुआ और भूला हुआ रहस्य उसके चेहरे पर साफ झलकता है, जो उसकी माँ रोजी के जीवन में द्वंद्व बनकर सामने आता है कि वह इस कड़वी सच्चाई को बाहर आने दें या नहीं। इसके अतिरिक्त फिल्म में पूर्वोत्तर की खासतौर पर मणिपुर, असम आदि की समस्याओं को भी आंशिक रूप से दिखाया गया है।

निकोलस खारकंगोर की 'एक्सोन' (2019) भी पूर्वोत्तर आधारित एक महत्वपूर्ण फिल्म कही जा सकती है। उच्च शिक्षा के लिए दिल्ली में आए पूर्वोत्तर के छात्र शादी की पार्टी आयोजित करने के अपने प्रयास में उन्हें पता चलता है कि सब कुछ योजना के अनुसार नहीं हुआ है। फिल्म में कमेडी ड्रामा के साथ पूर्वोत्तर के विशेष खाद्य पदार्थ जिसे नागालैंड की प्रायः सभी जनजातियों यथा सूमी, रेंगमा, छाकेसांग आदि एवं मणिपुर की जनजातियों और मैतेई जाति द्वारा 'अखुनी' को मेघालय में खासी जनजाति द्वारा 'तरुमबाई' कहा जाता है, उसकी गंध को लेकर फिल्म में काफी बवाल दिखाया जाता है।

पूर्वोत्तर भारत ने हिंदी और बांग्ला फिल्मों के विख्यात संगीतकार और गायक सचिन देव बर्मन, करोड़ों लोगों के दिल पर राज करने वाले पंचम दा यानी आर. डी. बर्मन, जिन्हें विश्व के सर्वश्रेष्ठ संगीतकारों में से एक माना जाता है, संगीतकार खगेस देव बर्मन जैसे व्यक्तित्व बॉलीवुड को दिए।

ज्योति प्रसाद, फनी भूषण, भूपेन हजारिका, रूपक गोगई आदि जैसे फिल्म-निर्माता और निर्देशक भी दिए, जिन्होंने पूर्वोत्तर में असमिया फिल्मों की अस्मिता और

स्वतंत्रता रखते हुए, उसे विशिष्ट पहचान दिलाई और शेष भारत के सिनेमा जो राजनैतिक, सामाजिक या समकालीन मुद्दे पर बने, उसमें भी अपना योगदान दिया। बावजूद इसके किसी ऐतिहासिक तथ्य को लेकर पूर्वोत्तर भारत में अब तक कोई महत्वपूर्ण हिंदी फिल्म नहीं बनी है और न ही यहाँ के जनजातीय समाज की सच्चाई को दिखाने की कोशिश की गई है।

यह सत्य है कि जनजातिय क्षेत्र, स्थान, भाषा, बोली, प्रथा-परंपरा, रीति-रिवाज आदि की जानकारी इकट्ठी करना और उनके दुख-समस्याएँ और वस्तुस्थिति से स्वयं को जोड़ना न सिर्फ निर्देशक बल्कि नायक-नायिकाओं के लिए भी एक चुनौती है। इन तथ्यों का बारीकी से अध्ययन करने की जरूरत है, तभी इनकी वास्तविक स्थितियों को पर्दे पर गंभीरता से फिल्माया जा सकता है।

आज फिल्मों के साथ एक बड़ी समस्या है, वह है-दर्शक वर्ग। भारतीय संदर्भ में यदि बात करें तो मध्यवर्ग ही सबसे अधिक फिल्में देखता है और उनसे प्रभावित भी होता है। उनके फिल्म देखने का उद्देश्य केवल मनोरंजन होता है। ऐसे में किसी फिल्म से कोई शिक्षा या प्रेरणा मिल जाए तो किस्मत की ही बात हो सकती है।

जनजातियों पर आधारित जो थोड़ी सी फिल्में बनी, उन्हें समझने के लिए दर्शक उतना तैयार नहीं है, क्योंकि वह उनकी स्थिति और परंपराओं से परिचित नहीं होता, वह फिल्म देखकर भले ही संवेदना से भर जाए, सहानुभूति रखे पर खुद को उनसे जोड़ नहीं पाता है।

मैं जोर देकर कहना चाहती हूँ कि पूर्वोत्तर के लोग कला और प्रकृति प्रेमी हैं। यहाँ के जनजातीय समाज का अपना धर्म है। ये प्रकृति पूजक हैं और जंगल, पहाड़, नदियों एवं सूर्य की आराधना करते हैं। इनके अपने-अपने पारंपरिक परिधान हैं जो ज्यादातर प्रकृति से जुड़े होते हैं। इनका रहन-सहन, बोलचाल एंव खाद्य सामग्री भी अलग होते हैं। सही है कि भारतीय फिल्मों में भी जनजातियों के जीवन को दर्शाया गया, लेकिन कुछेक फ़िल्मों और डॉक्यूमेंट्री को छोड़ दें तो जनजातियों के यथार्थ जीवन, उनके रहन-सहन, पहनावे, तीज-त्योहार को शायद ही फिल्मों में जगह दी गई होगी। इनको प्रायः पत्तों की पोशाकें पहने, 'झींगा-ला-ला हुर्र, हुर्र' करते हुए जंगलों में भाला-बरछा लेकर दौड़ते हुए, आजीबों-गरीब हावभाव करते हुए ही दिखाया जाता रहा है। हालांकि जनजातियाँ अभाव में रहते हैं लेकिन हर मौकों को दिल से जीना जानते हैं, ऐसे में बड़े पर्दो पर उन्हें दीन-हीन, मैचे-कुचलों परिधानों में दिखाना कहाँ तक न्याय संगत है!

पूर्वोत्तर की जनजातियाँ अपने समाज, संस्कृति और परंपरा के प्रति सजग हैं, इन्हें संस्कृति और परंपरा से कटी हुई चीजें सख्त नापसंद हैं, इसलिए यहाँ की जनजातियों को, उनकी संस्कृति और मूल्यों को फिल्म के पर्दे पर उतारने से पहले सही पड़ताल की जाने की आवश्यकता है। इनके प्रति पूर्वाग्रह से काम लेंगे तो वस्तुस्थिति सामने नहीं आ पाएगी और फिर उनके जीवन और समाज को सही ढंग से अनुभूत न कर पाने के कारण इस विषय में स्वानुभूति और परानुभूति का विवाद उठता रहेगा।

वर्तमान में पूर्वोत्तर भारत के लोग खासतौर पर हिंदी फिल्म के हर दृश्य को यथार्थ से जुड़ा हुआ देखना चाहते हैं, अगर उनके जीवन पर आधारित फिल्म हो तो उसमें दिखाए जाने वाले प्रत्येक दृश्य चाहे गाँव हो या नगर, नदी हो या पहाड़, पूजा-पद्धति, तीज-त्योहार, कोई क्रांति हो या आंदोलन आदि में नितांत यथार्थ हो। यहाँ का समाज पंख लगाकर आसमान में उड़ान नहीं भरता है, बल्कि यथार्थ की तर्कशील और चुनौतीपूर्ण जमीन पर रहता है। उसे अपनी सच्ची दुनिया का आभास हिंदी फिल्मों में चाहिए, यह कोई अविवेकपूर्ण और हवाई मांग तो नहीं!

- सहायक प्राध्यापिका, हिंदी विभाग, त्रिपुरा विश्वविद्यालय, अगरतला

❑❑❑

बदल रहा है हिंदी सिनेमा

डॉ. सुनील कुमार तिवारी

भारतीय उपमहाद्वीप में सिनेमा ने अपने वयस के सौ वर्ष पूरे कर लिए हैं। पहली हिंदुस्तानी फिल्म 'आलम आरा' का निर्माण 1931 में हुआ था और इसे बीते हुए 89 वर्ष हो चुके हैं। इस लंबी अवधि में हिंदी सिनेमा का परिदृश्य लगातार बदलता रहा है। कहानी, नायक-नायिका, गीत-संगीत, संवाद अदायगी, मैनेजमेंट एजेंसियाँ, संगठित प्रोडक्शन हाउस, तकनीक सक्षमता, मल्टीप्लेक्सों की बढ़ती संख्या -- सिनेमा के हर क्षेत्र में आज बदलाव की सुखद बयार उपस्थित है। आज हिंदी सिनेमा महज आह्लादपरक आख्यान नहीं, सरोकार धर्म परिवर्तन का क्रांतिकारी आह्वान भी है। एक ओर वह कला भी है, दूसरी ओर विज्ञान भी। साहित्य की भाँति आज सिनेमा भी समाज का दर्पण है। वह मनोरंजन के साथ-साथ सामाजिक दायित्व का भी निर्वहन है। आज वह एक साथ व्यावसायिक और समांतर धारा का सुखद सुमेल है। उसकी नजर सचमुच कमाई के साथ-साथ बड़ाई पर भी जा टिकी है। इस तरह, एक बड़े कालखंड में फैले हिंदी सिनेमा के कैनवास पर भारत के बदलाव की तस्वीर समय-समय पर दिखती रही है और इस पूरी प्रक्रिया में बहुत कुछ जुड़ता और छूटता भी रहा है।

सिनेमा चित्रकला, संगीत, साहित्य और नाट्य-कलाओं की तरह ही एक उत्कृष्ट कला रूप है, जो प्रौद्योगिकी और सौंदर्य-दृष्टि के अन्योन्य क्रिया से परिघटित होता है। यद्यपि उपर्युक्त कलाओं के सृजन और प्रस्तुति में प्रत्यक्षतः कम धन खर्च होता है, वहीं फिल्म निर्माण बहुव्ययसाध्य कार्य है। सिनेमा कला का वह आधुनिकतम सशक्त माध्यम है, जो अपने दर्शकों को किसी खास कथा से पूरी तरह जोड़ लेता है और मनोरंजन करते हुए दर्शकों के हृदय में गहरे उतर जाने की अभूतपूर्व क्षमता रखता है। देशकाल, समाज, परिवेश, सभ्यतामूलक विमर्श, सामाजिक संरचनाएँ एंव विविध समस्याएँ, सिनेमा का संबंध इन सबसे सीधा जा जुड़ता है। इस तरह मनुष्य की कलात्मकता और उसकी चेतना से उद्घाटित एक तकनीक-संपन्न विधा है सिनेमा, जिसकी समग्रता और संपूर्ण प्रभाव असंदिग्ध है।

यद्यपि प्रख्यात फिल्मकार ऋत्विक घटक यह मानते हैं कि "फिल्म को अन्य कलाओं का सुधरा हुआ रूप कहकर शेखी बघारना गलत है। कोई भी कला अन्य कलाओं का सुधरा हुआ रूप होने का दावा नहीं कर सकती। इस विश्व में हर कला का अपना-अलग स्थान है। उनकी अभिव्यक्ति के तौर-तरीके और सीमाएँ भिन्न हैं। फिल्म जो कह सकती है, वह अन्य कला विधाओं की परिधि से बाहर है। इसी प्रकार, अन्य कलाओं में जो सामर्थ्य है, वह फिल्म में नहीं हो सकती, अतः इनकी तुलना या प्रतियोगिता का प्रश्न ही नहीं उठना चाहिए। फिल्म एक पृथक् भाषा है यही पर्याप्त है।"

बहुविश्रुत सर्जक जैनेंद्र 'फिल्म की सार्वजनीन संभावनाएँ' शीर्षक लेख में लिखते हैं कि "सिनेमा की भाषा रूप की भाषा है, इसलिए इसका प्रभाव व्यापक और तात्कालिक है। भाषाओं में भेद है, पर भाव और रूप की अपील एक है। इस तरह सिनेमा में संभावनाएँ जबरदस्त हैं।"

सचमुच यथार्थ को सेल्यूलाइड पर उतारने की प्रक्रिया में सिनेमा कई तरह के नए यथार्थों को रचता भी है। लेकिन बॉलीवुड के सिनेमा की पड़ताल करें और यथार्थ से उसके रिश्ते की खोज करें तो खासी मुश्किल का सामना करना पड़ता है। हिंदी सिनेमा के समानांतर खड़े कला-फिल्म-आंदोलन को हटा दें तो भारतीय जीवन और उसके यथार्थ से सिनेमा का संबंध अटपटा सा दिखता है। भारतीय लोकप्रिय सिनेमा, चमकीले और सत्य प्रतीत होने वाले असत्य सपनों को मखमली सेज पर दिखाता रहा है। दलील वही है कि दर्शक जो देखना चाहता है, उसे ही हम दिखाते हैं। दरअसल सामाजिक-सामयिक और प्रासंगिक फिल्म, बॉक्स ऑफिस की शर्तों के अनुकूल नहीं पड़ती, पर सच यह भी है कि जो फिल्में बॉक्स ऑफिस की परवाह नहीं करतीं, उनके कारण ही हिंदी सिनेमा की एक महत् स्तरीयता बनी है और विश्व सिनेमा के परिदृश्य में उसे थोड़ी-बहुत सराहना प्राप्त हुई है।

सिनेमा और सर्जनात्मकता का संबंध नजदीक का रहा है। प्रख्यात फिल्मकार इंगमार बर्गमैन के अनुसार, सिनेमा साहित्य का ही तकनीकी उपलब्धियों से संयुक्त एक फार्म है। पर सच्चाई यह है कि भारत में साहित्य और सिनेमा का संबंध हमेशा ही विवादास्पद और आरोप-प्रत्यारोप के आदान-प्रदान वाला रहा। कुछ लोग साहित्य को श्रेष्ठ, उदात्त और शाश्वत मानते हैं, जबकि कुछ लोग सिनेमा को सांस्कृतिक श्रेष्ठता का संहारक घोषित करते हैं। वर्जिनिया वुल्फ ने तो साहित्य और सिनेमा के अंतर्संबंध को दोनों माध्यमों के लिए अहितकर और अस्वाभाविक बताया। दूसरी और जॉर्ज बर्नार्ड शॉ ने सिनेमा को नैतिकता से जोड़ते हुए कहा कि सिनेमा द्वारा दीक्षित नैतिकता का प्रश्न असाधारण महत्व का है। सिनेमा देश के दिमाग को आकार देगा। देश की चेतना, देश के आदर्श और आचरण की कसौटी वही होगी, जो सिनेमा की होगी।

सच है कि कई बार साहित्य को फिल्म माध्यम ने जीवंत, प्राणवान, पॉपुलर और नव्य रूप में प्रस्तुत कर उसकी महत्ता और ग्राह्यता का विस्तार किया तथा आमतौर पर जिसकी कल्पना मौलिक रचनाकार नहीं कर पाता, उसे भी परदे पर जीवंत कर दिया। दूसरी ओर फिल्म माध्यमों ने साहित्य और साहित्यकारों को हमेशा महत्वहीन माना और निर्देशक की कृति के रूप में अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करने की कोशिश की। फलतः प्रतिक्रिया में यह कहा जाता रहा है कि सिनेमा का निर्देशक साहित्यकार की मूल भावना, संवेदना, संकेत, सूक्ष्मता और मनोदशा को नहीं पकड़ सकता। सृजनात्मकता के साथ न्याय उसके बस की बात नहीं। फिल्मकार मौलिकता के अभाव का मारा होता है और कोई भी फिल्म पूरी तरह विचार को रूपांतरित या अनूदित नहीं कर सकती। जॉर्ज ब्लूस्टोन लिखते हैं कि "उपन्यास के विशेष सृजनात्मक क्षणों को किसी भी अन्य माध्यम से प्रकट नहीं किया जा सकता है।"

आज भी हिंदी सिनेमा और साहित्य का संबंध तनाव का संबंध बना हुआ है और यह सवाल हर साहित्य और सिने प्रेमियों को सोचने पर मजबूर करता है कि प्रेमचंद, अमृतलाल नागर, भगवती चरण वर्मा, वृंदावन लाल वर्मा, उपेंद्रनाथ अश्क आदि अनेक साहित्यकार सिनेमा के व्यवसाय में क्यों नहीं टिक पाए? उन्हें क्यों लौटना पड़ा? यूरोप और अमरीका में श्रेष्ठ कृतियों पर असाधारण फिल्में बनी हैं, पर अधिकांश हिंदी फिल्में साहित्य की मूल संवेदना को पकड़ने और व्यक्त करने में क्यों विफल रहीं?

वस्तुतः हिंदी फिल्मों की संस्कृति की जड़ें अपनी मिट्टी में नहीं है और राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय पहचान के व्यामोह के साथ बाजार का दबाव उन्हें इधर-उधर भटकाने में सक्षम हो जाता है। आज तकनीक, स्पेशल इफेक्ट्स, ध्वनि और प्रकाश के उन्नत यंत्रों के सहारे सिनेमा दर्शनीय हुआ है और कथ्य के विस्तार ने उसे विशेष मजबूती दी है, पर सिनेमा की विश्वसनीयता में रत्ती भर की बढ़ोत्तरी नहीं दिखती। वस्तुतः आज के चंचल बाजारवादी दौर में फिल्में प्रबंधन हैं। फलतः आज कारपोरेट सेक्टर ही नहीं, अमरीका सिनेमा के कारोबारी भी हिंदी सिनेमा के बाजार में हैं।

सिनेमा की सफलता और लोकप्रियता को बॉक्स ऑफिस की कमाई से जोड़कर देखा जाने लगा है। औसत, हिट, सुपरहिट, प्लस, फ्लॉप, लूजिंग -- सिनेमा कारोबार के हिसाब से ये शब्द अब पारिभाषिक शब्दों का दर्जा पा गए हैं। औसत का मतलब है, लागत निकाल लेना। हिट का तात्पर्य है, जो लागत दोगुनी कर दे। सुपरहिट का अर्थ है, चौगुनी के अलावा पचास

प्रतिशत की बढ़ोत्तरी होना। प्लस का अभिप्राय है, लागत वसूली के ऊपर मुनाफा कमाना। फ्लॉप यानी लागत में आधे का नुकसान और लूजिंग अर्थात् लागत में भी आधे से अधिक पूंजी की हानि।

हिंदी सिनेमा में सौ करोड़ी का इस्तेमाल शायद सन् 2012 में ही शुरू हो गया था। इसी तर्ज पर अब कमाई की आँकड़ेबाजी ने लोकप्रिय सिनेमा के नए मानक गढ़े हैं। ताजा पैमाना तीन सौ करोड़ वाला है। पहले सिल्वर और गोल्डन जुबली के पैमाने चला करते थे। जो फिल्म 25-50 सप्ताह तक चला करती थी, उसे ही सफल माना जाता था, जबकि आज पहले दिन के बिजनेस को प्रभावी मानकर करोड़ों का हिसाब-किताब लगाने का चलन है।

सिनेमा के साथ प्रतिबद्धता अब बहुत महत्वपूर्ण नहीं रही। जबकि भारतेंदु लिख रहे थे, तब पारसी थियेटर का बोलबाला था, पर धारा के विरुद्ध तैरते हुए उन्होंने नाटक की सोद्देश्यता को साकार किया। प्रेमचंद के समय तिलस्मी और ऐय्यारी उपन्यासों की जबरदस्त मांग थी, पर प्रेमचंद ने बाजार की परवाह न कर समाज को उद्दात्त मूल्यों से जोड़कर समस्याओं पर उँगली रखने का माद्दा दिखाया। बहुधा हमारे अधिकांश फिल्मकार यह साहस नहीं कर पाते। बॉक्स ऑफिस उनका एकमात्र लक्ष्य बन जाता है, फलतः कई महत्वपूर्ण कथाएँ परदे पर परिघटित नहीं हो पातीं और समाज के दिशा-निर्देश के महत्वपूर्ण अवसर अक्सर उनके हाथ से फिसल जाते हैं। वे खुद को दोहराव का आसान शिकार बनाते रहते हैं और घिसी-पिटी कहानी में अटपटापन या आइटम सांग जोड़कर पूंजी का खेल खेलने का सपना पालते रहते हैं। कई बार उनके हाथ तुक्का लग जाता है तो सफलता के फार्मूले के रूप में इसी प्रमेय को बार-बार दोहराने की दुहाई दी जाने लगती है।

दरअसल, सिनेमा के सृजनात्मक और व्यावसायिक संसार के पाँच स्तंभ हैं नायक, निर्देशक, निर्माता, वितरक और दर्शक। सिनेमा भले ही निर्देशक का माध्यम कहा जाता हो पर इन सबके बीच अगर संतुलन नहीं होगा तो कोई चमत्कार ही सिनेमा को चला पाएगा। ब्रेख्त यह मानते थे कि लोकप्रिय सिनेमा को आम लोगों को सामाजिक और आर्थिक स्थितियों से रूबरू देखना अत्यंत आवश्यक है। आम लोगों के जनजीवन में परिवर्तन लाकर ही लोकप्रिय सिनेमा में परिवर्तन लाया जा सकता है, क्योंकि सिनेमा हमेशा से आम लोगों के जीवन की परिस्थितियों और देश के राजनैतिक स्वरूप के साथ जुड़ा हुआ है। मतलब यह है कि लोकप्रिय सिनेमा उस समय स्वतः बदल जाएगा जब आम लोगों के जीवन की परिस्थितियाँ और राजनैतिक स्वरूप बदल जाएँगे। ब्रेख्त की सोच का असर चाहे किसी भी देश के सिनेमा पर पड़ा हो, पर सच यह है कि इसका असर भारतीय सिनेमा पर कतई नहीं पड़ा। जिस थियेटर में अमृता प्रीतम की कथा पर आधारित 'पिंजर' एक सप्ताह ही चल पाती है, उसी थियेटर में 'कल हो न हो' छह सप्ताह का हाउसफुल बिजनेस करती है। सिनेमा आम आदमी के लिए मनोरंजन का सबसे सस्ता साधन रहा है, जबकि मल्टीप्लेक्स के टिकट आज काफी महँगे हो गए हैं और पॉपकार्न की कीमत, लागत से दस-बीस गुनी देनी पड़ती है। सवाल यह है कि दर्शक-मनोविज्ञान को समझे बिना दर्शकों की मांग की दुहाई देकर पाश्चात्य संस्कृति और उपभोक्तावाद की घिसी-पिटी छवियों को जनता के मन-मस्तिष्क में बिठाने का खेल, पता नहीं हिंदी सिनेमा कब तक खेलेगा?

सिनेमा का प्रभाव क्षेत्र साहित्य की अपेक्षा बहुत व्यापक है। प्रसिद्ध चिंतक हैबरमास सही कहते हैं कि सिनेमा के आविष्कार ने समाज में खास तरह का 'पब्लिक स्फीयर' बनाया है। कल्पना को प्रत्यक्ष दिखाने की सिनेमा की प्रक्रिया भले ही आभासी हो, पर इसका प्रभाव प्रत्यक्ष जैसा ही है। इस माध्यम के प्रभाव के बारे में मनोवैज्ञानिक और न्यूरोवैज्ञानिक शोधरत हैं, पर बिना शोध के भी इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता कि सिनेमा दिल और दिमाग दोनों को झंकझोर देने वाला सर्वसमर्थ एवं सर्वाधिक लोकप्रिय जनमाध्यम है। यह मात्र पढ़े-लिखे, समझदार, साक्षर लोगों का ही माध्यम नहीं है। यह एक साथ ऊपर से नीचे तक सबको संप्रेषित करने का सामर्थ्य रखता है। निश्चय ही कमर्शियल बॉलीवुड फिल्मों की तकनीक पहले की तुलना में कुशल, कल्पनाशील और चमकदार हुई है। एक से एक श्रेष्ठ निर्देशक, प्रतिभावान और कुशल अभिनेता, बेजोड़ लेखक, कुशल तकनीशियन और समझदार तथा सरोकार संपन्न निर्माताओं की बड़ी फौज आज हिंदी सिनेमा की ताकत बन गए हैं।

हिंदी सिनेमा के लंबे सफर में आई एकरसता की थकान इधर टूटी है और सफलता के तयशुदा फार्मूले बदल गए हैं। अब आइटम सांग हिट होने की गारंटी नहीं देते। कहानी की अहमियत बड़ी है। फलतः सिनेमा की कहानी अब एक सीध में नहीं चलती। घुमाव, मोड़, रहस्य या प्रतिशोध की सरल, परिचित और पेच रहित कहानियाँ अब अनिवार्यतः नहीं दोहराई जातीं। हड्डियाँ हिला देने वाले पंच, रोंगटे खड़े कर देने वाले संवाद अब बीते दिनों की बात है। अब हास्य, सस्पेंस, थ्रिलर, प्रेरक व्यक्तित्व से जुड़े विषय और संदर्भ फिल्मों के कथ्य को विविधता से जोड़ रहे हैं। अब नायक से स्टार बनने के लिए बहुत लंबा सफर तय नहीं करना पड़ता। नायिकाएँ भी अब अपने बल पर मजबूती से खड़ी हैं। उनकी शैली, पहनावा और संजीदगी पुरानी नायिकाओं की तुलना में बिल्कुल बदल गई है। हिंदी सिनेमा में अब यह विश्वास दृढ़ हुआ है कि लोकल के साथ भी ग्लोबल होना मुमकिन है और इसी आत्म-विश्वास के साथ पिछले कुछ दशकों में बर्लिन अंतरराष्ट्रीय महोत्सव से लेकर कान, गोल्डन ग्लोब और अकादमी अवॉर्ड जैसे फिल्मों के महत् ठिकानों पर हिंदी सिनेमा ने न केवल अपनी छाप छोड़ी है, बल्कि वैश्विक स्तर पर अपना एक ठोस बाजार भी बना लिया है। कुल मिलाकर, बदलाव की इन बयारों के साथ यह उम्मीद जगती है कि जिस तरह हम ज्यादा फिल्में बनाने के लिए विश्वभर में मशहूर हैं, वैसे ही बेहतरीन फिल्मों के निर्माण के लिए भी जाने जाएँगे।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रजा राही मासूम, सिनेमा और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, 2003, दिल्ली

2. पारख जवरीमल्ल, हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र, ग्रंथ शिल्पी, 2006, दिल्ली

3. रे सत्यजीत, विषय : चलचित्र, रेमाधव पब्लिकेशंस नोएडा, 2007, उ. प्र.

4. कुमार हरीश, सिनेमा और साहित्य, संजय प्रकाशन, 1998, दिल्ली

5. भारद्वाज विनोद, सिनेमा : कल-आज-कल, वाणी प्रकाशन, 2006, दिल्ली

6. रंगून वाला फिरोज, भारतीय चलचित्र का इतिहास, राजपाल एंड संस, 1975, दिल्ली

7. ब्रह्मात्मज अजय, सिनेमा समकालीन सिनेमा, वाणी प्रकाशन, 2006, दिल्ली

8. तिवारी प्रदीप, सिनेमा के शिखर, संवाद प्रकाशन, 2006, मेरठ

9. जमाल अनवर, चटर्जी सैबल, हॉलीवुड बॉलीवुड, वाणी प्रकाशन, 2006, दिल्ली

– असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, शहीद भगत सिंह कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110017

❑❑❑

हिंदी सिनेमा का बदलता ट्रेंड

डॉ. आलोक रंजन पांडेय

सिनेमा जनसंचार के प्रभावशाली व महत्वपूर्ण साधनों में से एक है। शुरू से ही इसकी पहुँच जन सामान्य तक रही है। इसका प्रभाव जन सामान्य पर शुरू से ही रहा है जो आज भी विद्यमान है। इसके प्रभाव से समाज प्रेरित भी होता है। सिनेमा और समाज एक दूसरे के सामने भी दिखते हैं और समानांतर भी। एक ओर यदि सिनेमा के माध्यम से सामाजिक परिवर्तनों का लक्ष्य किया जाता है तो दूसरी ओर सामाजिक बदलावों को लक्ष्य करने की संभावना सिनेमा में उतनी ही बनती है। बुनियादी रूप में सारी दुनिया में आज सिनेमा समाज के मनोरंजन का एक व्यापक माध्यम है, इसलिए जाहिर है कि किसी भी रूप में वे एक दूसरे से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। जैसे-जैसे समाज का 'ट्रेंड' बदलता जाता है वैसे-वैसे फिल्मों का भी 'ट्रेंड' बदलता है। यहाँ 'ट्रेंड' शब्द को इस प्रकार परिभाषित कर सकते हैं कि जब एक ही तरीके की फिल्में बनती हैं या एक ही विषय पर आधारित होती हैं तब उसे 'ट्रेंड' कह दिया जाता है और जब इसमें बदलाव होता है तो 'ट्रेंड' में भी बदलाव आ जाता है। लगभग 107 वर्षों में भारतीय सिनेमा कई नए ट्रेंडों से गुजर चुका है। 'मूक' फिल्मों से शुरू होकर आज वह 'डिजिटल-डॉल्बी' तक पहुँच चुका है। इन बदलावों को देखने से पहले भारतीय सिनेमा की आरंभिक अवस्था को जानना भी आवश्यक है।

19वीं सदी के अंत में हमारे देश में अनेक परिवर्तनों के साथ कई राजनैतिक और सामाजिक सुधार भी हुए। इसी आधुनिकता के साथ-साथ एक अति महत्वपूर्ण परिवर्तन मनोरंजन के क्षेत्र में भी हुआ। 7 जुलाई 1896 ई. को जब लूमिएर भाईयों की सिनेमैटोग्राफी ने पहली बार छह आवाजहीन लघु फिल्मों का प्रदर्शन मुंबई के वाटसन होटल में किया तो किसी ने सोचा भी नहीं था कि यह प्रदर्शन भारतीय मनोरंजन में एक मील का पत्थर साबित होगा, जिसको देखकर कई और पत्थर तैयार हो जाएँगे। इसी के पश्चात् भारत में पहली बार किसी भारतीय 'हरिश्चंद्र भटवाडेकर' ने सेल्यूलाइड कैमरे का प्रयोग कर दो लघु फिल्मों को शूट कर उन्हें प्रदर्शित किया। इसी से भारत में धुंडीराज गोविंद फाल्के की 1913 में चलती-फिरती फिल्मों की शुरुआत हुई। भारत में सिनेमा की शुरुआत दादा साहेब फाल्के की फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' से हुई। यह प्रथम भारतीय फिल्म ध्वनि रहित थी और इसी फिल्म के निर्माण स्वरूप दादा साहेब फाल्के को भारतीय सिनेमा का पितामह स्वीकार किया गया। इस फिल्म के अतिरिक्त दादा साहेब फाल्के ने 'भस्मासूर मोहिनी', 'सत्यवान सावित्री' और 'लंकादहन' जैसी धर्मिक परंपरा से सजी समाज को प्रभावित करने वाली फिल्मों का निर्माण किया, जिसमें धार्मिक वर्णन का 'मिथ' मिलता है। इसके बाद कई फिल्म कंपनियाँ बनीं और मूक फिल्मों का निर्माण शुरू हुआ। सिनेमा के क्षेत्र में सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण बदलाव तब आया जब भारत में बोलती हुई फिल्में बननी शुरू हुईं। इस बदलाव को फिल्म कंपनियों ने हाथों-हाथ लिया और शीघ्र ही इन फिल्मों ने 'मूक-फिल्मों' का स्थान ले लिया। भारत में पहली बोलती फिल्म 'आलम आरा' बनी, जिसके निर्माता

इंपीरियल फिल्म कंपनी और निर्देशक 'अर्देशिर ईरानी' थे। यह फिल्म 14 मार्च 1931 को मुंबई के मैजेस्टिक सिनेमा में रिलीज हुई। इस बोलती फिल्म ने सिनेमा के पूरे तौर-तरीकों में क्रांतिकारी बदलाव ला दिया। बोलती फिल्मों के क्रेज के कारण ही 1935 ई. के बाद मूक फिल्मों का बनना भारत में लगभग खत्म सा हो गया।

'आलम आरा' का निर्माण तीसरे दशक में हुआ था। तीसरा और चौथा दशक भारतीय सिनेमा के इतिहास में सामाजिक विद्रोह का दशक माना जाता है। तीन बड़े बैनर 'प्रभात टॉकीज', 'बॉम्बे टॉकीज' और 'न्यू थियेटर' ने गंभीर, प्रभावशाली और मनोरंजक फिल्मों का निर्माण शुरू किया, जो सभी तरह के दर्शकों के लिए फिट बैठता था। इन फिल्मों में ज्यादातर ऐसी फिल्में थीं, जिनमें सामाजिक भेदभाव या अन्याय के खिलाफ मजबूत विद्रोह दिखाया गया। ऐसी फिल्मों में वी. शांताराम की 'दुनिया ना माने', 'आदमी और पड़ोसी' महबूब साहेब की 'रोटी' और 'वतन', गुरुदत्त की 'प्यासा' और 'चौदहवीं का चाँद' आदि प्रमुख हैं। इस समय की अधिकतर फिल्मों का संदेश था कि पैसे और नाम की जिस मरीचिका के पीछे दुनिया भाग रही है, उससे कहीं ऊपर हैं इंसानी रिश्ते व ईमानदारी। इस दौर की एक क्रांतिकारी फिल्म जिसका नाम 'हम तुम और वो' है का जिक्र किए बिना आगे बढ़ना उस फिल्म के लिए अन्याय साबित होगा। इस फिल्म का निर्माण महबूब खान ने किया था जिसमें एक नारी विवाह से बाहर यौन और भावनात्मक संतोष प्राप्त करने का प्रयास करती है। हालांकि इसके लिए उसे पितृसत्तात्मक सत्ता से टकराना पड़ता है। उस समय के समाज के लिए ऐसी फिल्मों का निर्माण आश्चर्यजनक लगता है लेकिन महबूब खान ने ऐसा करके विषयों के चुनाव में एक नया ट्रेंड' खड़ा कर दिया जो आज तक प्रचलित है।

फिल्मों में बदलाव का एक प्रमुख कारण यह भी कहा जाता है कि जहाँ पहले कंपनियाँ, टॉकीज, थियेटर आदि फिल्मों का निर्माण करती थीं, वह अब सिमट कर निर्माता के हाथों में पूर्णत: आ गई। फिल्म निर्माण में आने वाले ये निर्माता इन पुराने स्टूडियो से बिल्कुल अलग थे। उन्हें फिल्म-निर्माण की इस कलात्मक और व्यवस्थित शैली की कोई परवाह नहीं थी। वे तो केवल अधिक से अधिक पैसा कमाना चाहते थे, वह भी कम खर्च करके। परिणामस्वरूप जो गुणवत्ता स्टूडियो की फिल्मों में थी वह कम हो गई। अब फिल्मों की बाढ़ आ गई, जिसका नतीजा था कि लगभग 600 निर्माता फिल्म निर्माण उद्योग में आ गए। एक सर्वे के अनुसार 1931 से 1948 ई. के बीच भारत में चार सौ फीचर फिल्में बनीं। जो उस समय का एक रिकॉर्ड माना जाता है। स्टूडियो-प्रणाली अब सितारा-प्रणाली में परिवर्तित हो गई। पहले जो फिल्में स्टूडियो के नाम पर चलती थी वह अब सितारों के नाम पर चलने लगीं। इससे स्टार सिस्टम और सशक्त होता गया, जिस कारण फिल्मों में कहानी, पटकथा आदि का महत्व कम होने लगा। अब सामाजिक या गंभीर फिल्मों की जगह शुद्ध मनोरंजन करने वाली पलायनवादी फिल्में बनने लगी, हालांकि मध्यवर्ग अभी भी पारिवारिक नाटकों को अधिक पसंद करता था। धीरे-धीरे लेकिन निश्चित रूप से यथार्थ से विमुख परी कथाओं जैसे बड़े पैमाने पर बनने वाली ये फिल्में छठे और सातवें दशक में लोकप्रिय होने लगी। इन्हीं में ऐतिहासिक रोमांस भी शामिल था, जैसे 'अनारकली', 'मुगल-ए-आजम' जो बड़ी हिट साबित हुईं। इस दौर में एक सफल पर व्यावसायिक रूप में असफल फिल्म 'तीसरी-कसम' का जिक्र भी जरूरी है। फणीश्वर नाथ 'रेणु' की कहानी पर आधारित इस फिल्म को जिस निष्ठा के साथ बनाया गया और फिल्म के निर्माण में जिस प्रकार लेखक को भी शामिल किया गया वह सर्वथा अभूतपूर्व चीज थी।

सन् 1969 में तीन फिल्मों के प्रदर्शन के साथ ही हिंदी फिल्मों में 'नवसिनेमा आंदोलन' का जन्म हुआ। ये तीन फिल्में थीं--मृणाल सेन की 'भुवनशोम', मणिकौल की 'उसकी रोटी' और बासू चटर्जी की 'सारा आकाश'। नया सिनेमा एक ऐसी प्रतिक्रिया के रूप में उभरा जो प्रसिद्ध सिनेमा से एक अलग अस्तित्व रखता है। यह ऐसा सिनेमा था जिसकी अपनी अलग सामाजिक सार्थकता थी, और कलात्मक लगन व निष्कपटता थी, इनके द्वारा आधुनिक और मानवीय परिप्रेक्ष्य से फिल्मों का प्रस्तुतीकरण होने लगा। यह सिनेमा प्रसिद्ध सिनेमा की काल्पनिक दुनिया से अधिक सजीव और टिकाऊ था। हिंदी सिनेमा में चले इस नए ट्रेंड ने उसे ब्लूम पीरियड तक पहुँचाया, जहाँ 70 का दशक समाप्ति की ओर था और उसी समय कुछ नए फिल्मकारों का भी आगमन

हुआ। जैसे-साईं परांजपे की 'स्पर्श', गोविंद निहलानी की 'आक्रोश', सईद मिर्जा की 'अल्बर्ट पिंटो को गुस्सा क्यों आता है' मुजफ्फर अली की 'गमन' आदि। इन फिल्मों ने हिंदी सिनेमा को एक नए रूप में परिभाषित किया। नए सिनेमा का यह दौर 80 के दशक में उफान पर था। कुछ अन्य फिल्में भी बनीं जिन्हें अलग तरह से पेश किया गया। जैसे- 'दामुल', 'मिर्च मसाला', '36 चौरंगीलेन', 'इजाजत' आदि।

यह एक सच्चाई है कि फिल्मों के 'ट्रेंड' में मूल परिवर्तन 90 के दशक की शुरुआत में आया, जब फिल्मों में कथानक, पटकथा, तकनीक, अभिनेता आदि सभी स्तरों पर बदलाव दिखने लगा। प्रारंभ में सिनेमा की कहानी ऐतिहासिक या प्रेम पर आधारित हुआ करती थी। प्रेम आधारित कहानियों में सामान्य परिवेश में उत्पन्न नायक के द्वारा धन व प्रेम प्राप्ति जैसे कथानक भारतीय समाज को आकर्षित करते थे, वहीं उत्तरोत्तर भारतीय सिनेमा अपने विषय में विस्तृत होता गया। जहाँ 80 के दशक में नायक खलनायक में अंतर दिखता था, वहीं 90 के दशक के बाद नायक की कुर्सी को खलनायक ने हासिल कर लिया। ऐसी फिल्मों की शुरुआत 'दीवाना' और 'डर' से हुई जब निगेटिव किरदार निभाने वाले शाहरुख खान सबके प्रिय बन गए। इसके बाद 'गजनी' और 'रावन' जैसी फिल्मों ने इसे और पुख्ता किया। 'करण-अर्जुन' जैसी फिल्मों में पुनर्जन्म जैसी बातों का समावेश किया गया तो 'नक्शा' और 'द्रोण' जैसी फिल्मों में किसी ऐतिहासिक घटना को वर्तमान से जोड़कर पटकथा का निर्माण किया गया। एक ओर भूत-प्रेत जैसे विषय पर 'राज', 'जानी-दुश्मन' जैसी फिल्में बनीं, तो दूसरी ओर 'कोई मिल गया' जैसी फिल्मों में अन्य ग्रहवासियों को भी पटकथा में शामिल किया गया। इसी तरह खेल पर आधारित फिल्म 'चक दे इंडिया', 'गोल', 'मैरीकॉम', 'गोल्ड', 'सूरमा', 'दंगल', 'सुल्तान', 'पटियाला हाउस', 'पंगा' आदि फिल्मों का निर्माण हुआ तो दूसरी ओर 'मुन्ना भाई एमबीबीएस', 'लगे रहो मुन्नाभाई', 'रंग दे बसंती', 'पेज थ्री', 'थ्री इडियट्स' जैसी फिल्में बनीं जो पारंपरिक फिल्मों की कहानी और तकनीक दोनों रूपों में अलग थी। इसी तरह 'तारे जमीं पर', 'धोबी घाट', 'इश्किया', 'फैशन', 'वाटर' 'गुजारिश' जैसी फिल्मों के माध्यम से नए-नए विषयों को उठाना भारतीय सिनेमा के विषयों को विस्तृत होने की ओर संकेत करता है।

फिल्में समाज के मनोरंजन का साधन होती हैं लेकिन समाज को एक नई दिशा देना भी इसका उद्देश्य रहा है। फिल्म-निर्माण के प्रारंभिक काल में भारतीय समाज शिक्षा के अभाव में कुरीतियों से जकड़ा हुआ था, तो फिल्म निर्माता आदि भी समाज में व्याप्त कुरीतियों पर सीधा प्रहार नहीं करते थे, क्योंकि उन्हें अपनी फिल्म के असफल हो जाने या कोई विवाद खड़ा हो जाने की आशंका हुआ करती थी। कुछ फिल्म आलोचकों का मानना है कि फिल्म 'शोले' में जय (अमिताभ बच्चन) का मरना इसलिए भी जरूरी था क्योंकि वह विधवा नायिका (जया बच्चन) से प्यार करता है। उस समय इस प्रेम का और कोई सुखद अंत संभव नहीं था। लेकिन कालांतर में जैसे-जैसे समाज शिक्षित होता चला गया, लोग कुरीतियों को गलत समझने लगे तो फिल्मों में भी इन पर कटाक्ष किया जाने लगा। इसी दौरान भारतीय सिनेमा में 'वाटर' जैसी फिल्में भी आईं, जो कुरीतियों पर सीधा प्रहार करती प्रतीत होती हैं। इसी तरह सामाजिक परंपराओं के विरुद्ध 'खिलाड़ियों का खिलाड़ी', 'दिल चाहता है', जैसी फिल्मों में नायक अपने से अधिक उमर की नायिका से प्रेम संबंध बनाता है। वहीं 'चीनी कम', 'निशब्द' जैसी फिल्मों में नायिका लगभग अपने पिता की अवस्था के नायक से प्रेम करती नज़र आती हैं।

2000 ई. के बाद हिंदी सिनेमा में कथा, पटकथा, निर्माण और तकनीक के स्तर पर कई बदलाव होते हैं। इस बदलाव का प्रमुख कारण शहरीकरण और पश्चिमी सभ्यता का आधुनिकीरण माना जा सकता है। पश्चिमी सभ्यता को देखकर हमारे समाज में ना केवल संस्कृति बल्कि रहन-सहन और जीवन-शैली में भी बदलाव आता है। जहाँ हम पहले अपने रिश्तों को छुपाकर रखने की कोशिश करते थे, वहीं 2000 के बाद आपसी खुलापन समाज में ज्यादा दिखाई देने लगा। चूँकि सिनेमा समाज से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता इस कारण 2000 के बाद फिल्मों में एक नए 'ट्रेंड' की शुरुआत हुई। इसी 'ट्रेंड' के तहत 2000 के बाद 'रिमेक' और 'कॉन फिल्मों' का प्रचलन बढ़ा तो 2005 के बाद 'लिव-इन-रिलेशनशिप' पर बनने वाली

फिल्मों की, 2008 के बाद '100 करोड़ी क्लब' की स्थापना हुई तो 2010 के आस-पास 'सिक्वल' और 'बायोपिक' फिल्मों का प्रचलन खूब बढ़ा। सबसे बड़ी बात कि इस 'ट्रेंड' को सिनेमा के दर्शकों ने हाथों-हाथ लेकर खूब पसंद किया, जिस कारण निर्माता भी ऐसी फिल्मों में पैसा लगाने लगे। यहाँ संक्षेप में इन 'ट्रेंडों' पर विचार किया जा रहा है।

आजकल निर्माता और निर्देशक वैसी फिल्मों का निर्माण करना चाहता है जो ज्यादा मुनाफा दे सके। मुनाफे के लालच में फिल्मकार क्षेत्रीय और विदेशी भाषाओं में सफलतम फिल्मों को हिंदी में पुनर्निर्माण कर दर्शकों के समक्ष परोसने लगे हैं। ऐसी अधिकतर फिल्मों को दर्शक देखने और सराहने भी लगे। दर्शकों को देखने और सराहने से ऐसी फिल्मों के निर्माण का एक 'ट्रेंड' शुरू हो गया जिसे 'रिमेक फिल्म' कहा गया। आज रिमेक फिल्म व्यावसायिक सफलता की गारंटी हो गई है और अधिकतर पुरानी हिट फिल्मों का पुनर्निर्माण शुरू हो गया है। आजकल प्रदर्शित होने वाली अधिकतर फिल्में किसी न किसी फिल्म की रिमेक ही है। पिछले 15-20 वर्षों में सिनेमा में कई बदलाव देखने को मिले हैं इन्हीं बदलावों का परिणाम 'रिमेक फिल्म' भी है। वर्तमान समय में प्रदर्शित होने वाली आधी से अधिक फिल्में किसी न किसी फिल्म की रिमेक ही हैं। रिमेक का अर्थ है "किसी भी पुरानी फिल्म को नए तरीके से पेश करना।" इसमें अधिकांशत: पहले वाली फिल्म में बिना कथानक में परिवर्तन किए हुए पात्र, संवाद, गीत-संगीत, सेट, लोकेशन आदि में परिवर्तन कर उसे नए रूप में दिखाने की कोशिश की जाती है। कुछ फिल्में तो वास्तव में पहली फिल्म से अधिक निखरकर दर्शकों के सामने आती हैं तो कुछ खराब होकर। पिछले वर्षों में प्रदर्शित कई सफल फिल्में- 'हिचकी', 'बागी-2', 'धड़क', 'पति-पत्नी और वो', 'जंजीर', 'गजनी', 'रेड्डी', 'एक था टाईगर', 'अग्निपथ', 'हिम्मतवाला', 'डॉन', 'राउडी राठौर', 'सन ऑफ सरदार', 'सरगम', 'एक दूजे के लिए', 'सदमा', 'साथियाँ', 'ईश्वर', 'वो सात दिन' आदि प्रमुख हैं। इनमें से अधिकतर फिल्में साउथ इंडियन फिल्मों की रिमेक हैं। आजकल साउथ इंडियन फिल्मों का रिमेक ज्यादा क्यूँ बन रहा है इस संदर्भ में प्रसिद्ध अभिनेता अजय देवगन का कहना है कि "भारतीय लोगों को थाली पसंद है। उन्हें लंबे समय तक एक ही तरह की फिल्में दिखाकर संतुष्ट नहीं रखा जा सकता। दर्शकों को खालिस मनोरंजन चाहिए। वे सिनेमा से संदेश की अपेक्षा नहीं करते। सिनेमा हॉल में वे ढाई घंटे बैठकर पाई-पाई वसूलना चाहते हैं। साउथ इंडियन फिल्में मसालों से भरपूर होती हैं। उनके कलेवर में थोड़ा-बहुत फेर-बदलकर दर्शकों के समक्ष उसकी हिंदी रिमेक पेश कर दी जाती है, जो उन्हें एंटरटेन करता है। उन्हें वैसी फिल्में अच्छी लगती हैं, तभी तो वे उसे देखने जाते हैं और उसे हिट कराते हैं। पिछले चार-पाँच सालों की बात करें तो शायद ही किसी साउथ इंडियन फिल्म ने रिमेक घाटे का सौदा किया होगा।"

वास्तव में रिमेक फिल्म बनने की शुरुआत सवाक फिल्मों के निर्माण के साथ होती है। सवाक फिल्मों के शुरुआत के साथ ही अधिकतर फिल्मकार अपनी मूक फिल्मों का पुनर्निर्माण करने लगे। जिसमें शरतचंद द्वारा लिखित उपन्यास 'देवदास', 'परिणीता' और उस समय लोककथा के रूप में प्रचलित 'हीर-राँझा' का नाम प्रमुखता से लिया जा सकता है। ऐसी फिल्मों में 'मुगल-ए-आजम' हिंदी फिल्म 'अनारकली' का, 'पार्टनर' अंग्रेजी फिल्म 'हिच' का, 'सरकार' अंग्रेजी फिल्म 'द गॉड फादर' का, 'यू मी और हम' अंग्रेजी फिल्म 'द नोट बुक' का, 'ऐतराज' अंग्रेजी फिल्म 'डिस्क्लोजर' का, 'चोरी-चोरी' अंग्रेजी फिल्म 'हाउससिटर' का, 'एक अजनबी' अंग्रेजी फिल्म 'मैन ऑन फायर' का, 'मुसाफिर' अंग्रेजी फिल्म 'यू टर्न' का, 'काँटे' अंग्रेजी फिल्म 'रिजर्वियर डॉग्स' का, 'मर्डर' अंग्रेजी फिल्म 'अनफेथफुल' का, 'दिलवाले दुल्हनियाँ ले जाएँगे' अंग्रेजी फिल्म 'द स्यूर थिंग' का, 'कयामत' अंग्रेजी फिल्म 'द रॉक' का, 'धूम-2' अंग्रेजी फिल्म 'प्ले बैक' का, 'ब्लैक' अंग्रेजी फिल्म 'द मिरकल वर्कर्स' का, 'रेस' अंग्रेजी फिल्म 'बैड लवर्स' का, 'अराधना' अंग्रेजी फिल्म 'द इच हिज ओन' का, 'बॉम्बे टू गोआ' तमिल फिल्म 'मद्रास टू पॉन्डीचेरी' का, 'कलकत्ता मेल' तेलुगु फिल्म 'छ्डालमी वुंदी' का, 'वो सात दिन' तमिल फिल्म 'अंदा यह नटरिकाल' का, 'रमैय्या वस्ता वैय्या, तेलुगू फिल्म' नुवोस्त्नांते निनोद्नांतना का, प्रियदर्शन की फिल्म 'रंगरेज' तमिल फिल्म 'नाडोडिगल' का, 'फैमली पिक्चर' तमिल फिल्म 'तामीज पदम' का, 'पुलिसगिरी' दक्षिण भारतीय

फिल्म 'साम्मी' का, मणि रत्नम की फिल्म 'युवा' भी उनकी तमिल फिल्म 'आयेथा इज्हुथु' का, 'कहो न प्यार है' अंग्रेजी फिल्म 'ब्राजील' का, 'जिस्म' अंग्रेजी फिल्म 'बॉडी हिट्स का', 'नो एंट्री' तमिल फिल्म 'चार्ली चौपलीन का', 'मेरे ब्रदर की दुल्हन' अंग्रेजी फिल्म 'डैन इन रियल लाईफ का', 'निरुशब्द' 'लोलिता' का आदि प्रमुख हैं। इसी तरह अक्षय कुमार अभिनीत फिल्म 'राउडी राठौर' एस एस राजमौली की फिल्म 'विक्रमारकुडु' की, प्रियदर्शन की फिल्म 'भूलभुलैया' 1993 में आई मलयालम फिल्म 'मनिचित्रताजहु' की, 'वांटेड' तमिल फिल्म 'पोकिरी' की, 2011में आई हिंदी फिल्म 'सिंघम' 2010 में आई तमिल फिल्म 'सिघम' की,'कबीर सिंह' तेलुगू फिल्म 'अर्जुन रेड्डी' की, 'बागी-2' तेलुगु फिल्म 'क्षनम' की, 'धड़क' मराठी फिल्म 'सैराट' की, 'हिचकी' हॉलीवुड फिल्म 'फ्रंट ऑफ क्लास' की, 'सिम्बा' तेलुगु फिल्म 'टेंपर' की आदि रिमेक फिल्में हैं।

2000 के आसपास फिल्मों में एक नया 'ट्रेंड' शुरू होता है जिसे 'कॉन' फिल्मों के रूप में जाना जाता है। 'कॉन' फिल्मों के बारे में कहा जाता है कि उसका हीरो नेगेटिव होता है, किंतु उसे खलनायक नहीं कहा जा सकता। खलनायक और 'कॉन मैन' में अंतर होता है, खलनायक जहाँ खतरनाक होता है, वहीं कॉन मैन खतरनाक ना होकर अपनी बुद्धि व दिमाग का उपयोग कर अमीर व ताकतवर लोगों को ठगता है। 'कॉन मैन' गरीबों को धोखा नहीं देता बल्कि जिस तरह की शैतानी या ठगी वह करता है उसे हर आम इंसान भी करना चाहता है। इसी कारण 'कॉन मैन' पर बनी फिल्में आजकल दर्शकों को रोचक लगती हैं और उन्हें आकर्षित भी करती हैं। 'कॉन मैन' फिल्मों में ठगी का काम करने से पहले एक लंबा-चौड़ा खेल रचता है जो कि दर्शकों को पसंद आता है। कुछ फिल्म समीक्षकों का मानना है कि दिलीप कुमार की फिल्म 'संघर्ष' में वे 'कॉन मैन' की भूमिका में है पर ध्यान से देखने पर पता चलता है कि वे 'कॉन मैन' हो ही नहीं सकते। यह फिल्म बनारस की ठगी पर बनी थी और इसके पात्र दिलीप कुमार को 'कॉन मैन' नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह अमीर या जवानों के जेवर को लूटने के लिए उसकी हत्या कर देते हैं जबकि 'कॉन मैन' किसी की हत्या नहीं करता। साथ ही वह शारीरिक रूप से किसी को नुकसान भी नहीं पहुँचाता बल्कि अपने दिमाग और बुद्धिमत्ता से लोगों को ठगता है। हाँ 1964 में प्रदर्शित फिल्म 'जौहर महमूद इन गोवा' में जौहर महमूद देशभक्त 'कॉन मैन' की भूमिका में हैं, जो पुर्तगाली सरकार के खिलाफ ठगी कर अपने देश के लिए काम करते हैं। इसके बाद 'कॉन मैन' पर बनी प्रमुख फिल्में हैं- 'कोहिनूर', 'सच्चा झूठा', 'हेरा-फेरी', 'किस्मत', 'बाप नंबरी बेटा दस नंबरी', 'खेल', 'खेल खेल में', 'एक से बुरे दो', 'एक खिलाड़ी एक हसीना', 'जय वीरू', 'धमाल', 'ओय लकी ओय', 'बदमाश कंपनी', 'तीसमार खाँ', 'ब्लफमास्टर', 'बनारसी बाबू', 'संघर्ष', 'धूम', 'बंटी और बबली', 'रूप की रानी चोरों का राजा', 'बदमाश कंपनी', 'स्पेशल 26', 'ठग्स ऑफ हिंदुस्तान' आदि। 'कॉन मैन' पर बनी फिल्मों की सफलता की वजह यह भी है कि उसके पात्र नकारात्मक होते हुए भी रोचक होते हैं। वह लोगों को इसलिए पसंद आते हैं कि वे नटखट, प्यारे, मीठी बातें करने वाले मसालेदार व चटकदार होते हैं। इसी कारण 'कॉन मैन' पर निरंतर फिल्में बन रही हैं।

2005 में रिलीज सैफ अली खान और प्रीति जिंटा की फिल्म 'सलाम नमस्ते' हिंदी सिनेमा में एक नया अध्याय जोड़ती है जिसे 'लिव-इन-रिलेशनशिप' के रूप में देखा जाता है। इस फिल्म से हिंदी सिनेमा में एक नया 'ट्रेंड' शुरू होता है जिसके बाद इस विषय पर निरंतर फिल्में बनने लगती हैं। मूलत: 'लिव-इन-रिलेशनशिप' एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें एक लड़का और एक लड़की जिनका विवाह नहीं हुआ है वह एक साथ एक ही घर में पति-पत्नी जैसा संबंध बनाकर रहते हैं। यह संबंध स्नेहात्मक होता है और रिश्ता गहरा। यह संबंध कई बार लंबे समय तक चलने के बाद स्थायी भी हो जाता है। 'लिव-इन-रिलेशनशिप' को आधार बनाकर बनने वाली प्रमुख फिल्में हैं- 'कट्टी-बट्टी', 'लुका-छुपी', 'हैप्पी एंडिंग', 'बचना ऐ हसीनों', 'शुद्ध देसी रोमांस', 'फैशन', 'कॉकटेल', 'प्यार का पंचनामा', 'गेस्ट इन लंदन' आदि।

2008 में बनी एक फिल्म 'गजनी' ने हिंदी सिनेमा में एक ऐसा 'ट्रेंड' ला दिया जिसने हिंदी सिनेमा की व्यावसायिक दिशा ही बदल दी। वह 'ट्रेंड' 100

करोड़ी फिल्मों का था। यह तो शुरू से ही माना जाता रहा है कि जो फिल्म बॉक्स ऑफिस पर जितना पैसा बटोरेगी उसे उतना ही कामयाब माना जाएगा, पर गजनी ने आने वाली फिल्मों के समक्ष एक चुनौती रख दी वह चुनौती थी 100 करोड़ क्लब के हिस्सा बनने की। इस क्लब का हिस्सा बनने के लिए निर्माता और निर्देशक बेकरार होने लगे। उनकी व्याकुलता उन में दिखाई देने लगी। आजकल तो 100 करोड़ की कौन बात करे, हर अभिनेता, निर्देशक और निर्माता पाँच सौ करोड़ क्लब का सदस्य बनना चाहता है। यहाँ यह बताना जरूरी है कि '100 करोड़ी क्लब' में फिल्में कैसे शामिल होती हैं? किसी फिल्म का 100 करोड़ के कलेक्शन से सीधा मतलब है कि उसका बॉक्स ऑफिस पर कलेक्शन जिसे 'ट्रेंड' की भाषा में नेट कलेक्शन कहा जाता है। इस नेट कलेक्शन में सैटेलाइट राइट्स, म्यूजिक राइट्स, फ्रेंचाइजी, ओवरसीज कलेक्शन आदि से प्राप्त आमदनी को नहीं जोड़ा जाता है। यह केवल सिनेमाघरों से प्राप्त कलेक्शन होता है वह भी टैक्स आदि को छोड़कर। 'गजनी' के बाद की प्रमुख '100 करोड़ी' फिल्में हैं- 'थ्री इडियट्स', 'बॉडीगार्ड', 'रावन', 'डॉन-2', 'गोलमाल','सिंघम','अग्निपथ','हाउसफुल-2','केसरी', 'हाउसफुल-3', 'जॉली एलएलबी', 'रुस्तम', 'राउडी राठौर', 'टोटल धमाल', 'सन ऑफ सरदार', 'बोल बच्चन', 'सिंघम रिटर्न', 'चेन्नई एक्सप्रेस', 'दिलवाले', 'हैप्पी न्यू ईयर', 'जब तक है जान', 'टाइगर जिंदा है', 'बजरंगी भाईजान', 'ट्यूबलाइट', 'रेड्डी', 'जय हो', 'बॉडीगार्ड', 'प्रेम रतन धन पायो', 'दंगल', 'सुल्तान', 'बाहुबली', 'उरी : द सर्जिकल स्ट्राइक', 'वार', 'हाउसफुल-4' आदि फिल्मों का रिकॉर्ड बनाते जा रहे हैं और अब तो पाँच सौ करोड़ी क्लब में शामिल होने की होड़ लगी है।

2010 के आसपास ही सीक्वल फिल्मों का भी प्रचलन खूब चला। सीक्वल फिल्म भी दो प्रकार की होती है, जिन्हें हम 'स्पिन ऑफ सीक्वल' और 'स्प्रिचुअल सिक्वल' कह सकते हैं। 'स्पिन ऑफ सीक्वल' में पिछली फिल्म के कुछ किरदारों को लेकर कहानी आगे बढ़ाई जाती है तो वहीं 'स्प्रिचुअल सीक्वल' में कहानी पुरानी फिल्म की कहानी पर आधारित नहीं होती बल्कि उसमें पुरानी फिल्म के थीम, स्टाइल, एलिमेंट और पात्र अवश्य होते हैं। सीक्वल फिल्मों के निर्माण के पीछे बजट का हाथ भी महत्वपूर्ण है। आजकल फिल्मों के बजट में उनकी मार्केटिंग का बड़ा हिस्सा होता है। लेकिन सीक्वल फिल्मों के लिए इसके लिए ज्यादा पैसा खर्च करने की जरूरत नहीं होती क्योंकि जिस सीक्वल फिल्म को निर्माता बनाते हैं उसकी मार्केटिंग पहली वाली फिल्म में ही हो गई होती है, क्योंकि अधिकांशत: दर्शक उस फिल्म के नाम, निर्देशक और पात्र से पहले ही वाकिफ होते हैं। इसी कारण भारतीय फिल्म उद्योग में सीक्वल फिल्में अब खूब बन रही हैं। सीक्वल फिल्म के संदर्भ में ड्रीम गर्ल के एसोसिएट निर्माता अक्षत सलूजा का मानना है कि "भारत में सीक्वल फिल्मों का निर्माण इसलिए होता है उसका ऑडियंस पक्का होता है, पर कई बार सीक्वल फिल्में इसलिए फ्लॉप हो जाती हैं कि जितनी मेहनत कहानी पर होनी चाहिए उतनी मेहनत कहानी पर नहीं की जाती है।" इसी संदर्भ में फिल्म ट्रेड एक्सपर्ट अतुल मोहन का मानना है कि "हॉलीवुड में जब फिल्में बनाई जाती हैं तो पहले ही उसका सीक्वल ऐलान कर दिया जाता है जबकि हमारे यहाँ जब कोई फिल्म हिट हो जाती है तब उस फिल्म का सीक्वल बनाने की हम बात करते हैं।" भारतीय हिंदी सिनेमा में सीक्वल फिल्मों का जादू आजकल खूब देखा जा सकता है। 'दबंग' के बाद 'दबंग 2', 'दबंग 3' का निर्माण हुआ है और हो सकता है कि आने वाले समय में दबंग 4 का भी निर्माण हो। इसी तरह 'हाउसफुल', 'हाउसफुल 2', 'हाउसफुल 3', 'हाउसफुल 4', 'बाहुबली', के सीक्वल के रूप में 'बाहुबली 2', 'जॉली एलएलबी' के सीक्वल के रूप में 'जॉली एलएलबी 2', 'हम्प्टी शर्मा की दुल्हनिया' के सीक्वल के रूप में 'बद्रीनाथ की दुल्हनिया', 'गोलमाल' के सीक्वल के रूप में 'गोलमाल अगेन', 'जुड़वा' के सीक्वल के रूप में 'जुड़वा-2', 'फुकरे' के सीक्वल के रूप में 'फुकरे रिटर्न', 'एक था टाइगर' के सीक्वल के रूप में 'टाइगर जिंदा है', 'रोबोट' के सीक्वल के रूप में 'रोबोट 2.0', 'नमस्ते लंदन' के सीक्वल के रूप में 'नमस्ते इंग्लैंड', 'क्या कूल है हम' के सीक्वल के रूप में 'क्या सुपर कूल हैं हम','गंगाजल' के सीक्वल के रूप में 'जय गंगाजल','आपका सुरूर' के सीक्वल के रूप में 'तेरा सरूर', 'मस्ती' के सीक्वल के रूप में

'ग्रैंड मस्ती' और 'ग्रेट ग्रैंड मस्ती' आदि को देखा जा सकता है। पिछले 5 साल में सीक्वल फिल्म-निर्माण की बात करें तो 2016 में 12 सीक्वल फिल्में, 2017 में 9 सीक्वल फिल्में, 2018 में 8 सीक्वल फिल्में, 2019 में 6 सीक्वल फिल्में बनीं तो 2020 में 13 सीक्वल फिल्में रिलीज होनी हैं। 2020 में आने वाली प्रमुख सीक्वल फिल्में हैं- 'लाइफ इन मेट्रो' का 'लूडो', 'बंटी और बबली' का 'बंटी और बबली पार्ट-2', 'भूल भुलैया' का 'भूल भुलैया पार्ट-2', 'हंगामा' का 'हंगामा पार्ट-2', 'सत्यमेव जयते' का 'सत्यमेव-जयते पार्ट-2', 'केजीएफ चैप्टर' का 'केजीएफ चैप्टर-2' और 'उरी : द सर्जिकल स्ट्राइक' का 'उरी : द सर्जिकल स्ट्राइक-2'। सीक्वल फिल्मों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसकी कमाई बॉक्स-ऑफिस पर खूब होती है और अधिकतर फिल्में 100 करोड़ से ज्यादा कमा ले रही हैं। इसलिए सीक्वल फिल्मों के निर्माण में निर्माता अधिक रुचि ले रहे हैं। इस तरह सीक्वल फिल्मों ने भी भारतीय सिनेमा में अपना अलग स्थान बना लिया है।

आजकल हिंदी सिनेमा में एक नया ट्रेंड 'बायोपिक फिल्मों' का है। आज बायोपिक फिल्मों को सफलता की गारंटी के रूप में भी देखा जा रहा है। बायोपिक फिल्में वे होती हैं जिसमें जानी-मानी हस्तियों के जीवन पर और सत्य घटनाओं पर आधारित तथ्यों का विश्लेषण कर उसे एक नए अंदाज में दर्शकों तक पहुँचाते हैं। ऐसे व्यक्तियों या सत्य घटनाओं को सिनेमा में इसलिए उतारते हैं कि उस व्यक्ति के जीवन कर्म से व उस घटना से समाज में कुछ नया और अच्छा प्रभाव पड़े। 2010 में तिग्मांशु धूलिया के निर्देशन में आई फिल्म 'पान सिंह तोमर' ने बायोपिक फिल्मों के निर्माण में एक नया अध्याय जोड़ दिया। इस फिल्म में तिग्मांशु धूलिया ने एक ऐसे व्यक्ति के चरित्र को रुपहले पर्दे पर उतारा जिसने अपने जीवन की शुरुआत भारतीय सैनिक के रूप में की थी, वह सात बार एथलीट की राष्ट्रीय प्रतियोगिता में स्वर्ण-पदक भी जीता था। 1952 के एशियाई खेल में भारत का प्रतिनिधित्व भी किया था पर परिस्थिति के कारण वह बागी होकर डाकू बन गया जिसे पुलिस ने एनकाउंटर में मार गिराया था। इस फिल्म में पान सिंह तोमर की भूमिका इरफान खान ने निभायी थी, जिसकी सराहना दर्शकों ने की थी। इस फिल्म के बाद बायोपिक फिल्मों का निर्माण निरंतर होने लगा। ऐसा नहीं है कि बायोपिक फिल्मों का निर्माण पहले नहीं होता था। अतीत में झाँककर देखें तो मिथक और इतिहास के प्रेरक चुनिंदा चरित्रों को फिल्मों का विषय बनाया जाता रहा है, तब इनके लिए बायोपिक शब्द का इस्तेमाल नहीं होता था। उनकी कोई विधानात्मक पहचान नहीं थी। रिचर्ड एटनबरो की 'गांधी' फिल्म को भी कुछ समीक्षक बायोपिक के तौर पर नहीं मानते। उन्हें वह महात्मा गांधी के जीवन पर बनी प्रमाणिक फिल्म मानते हैं। हिंदी सिनेमा की पहली फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' भी कहीं ना कहीं ऐतिहासिक और मिथकीय चरित्रों की शौर्य गाथा है जो समाज के लोगो को और फिल्मकारों को आकर्षित और प्रेरित करती है। आजादी के आसपास वी. शांताराम ने ख्वाजा अहमद अब्बास की मदद से 'डॉक्टर कोटनीस की अमर कहानियाँ' नामक एक फिल्म बनाई जो डॉक्टर कोटनीस के जीवन पर आधारित थी। चीन क्रांति में मदद के लिए वे भारत से गए थे। चीनी क्रांतिकारियों की सेवा करते हुए दिवंगत भी हो गए थे। इस फिल्म के बाद भी समाज को प्रेरित करने वाली,किसी व्यक्ति के जीवन चरित्र को लेकर फिल्में बनीं, लेकिन वे फिल्में दर्शकों को ज्यादा प्रभावित न कर सकीं। शेखर कपूर की फिल्म 'बैंडिट क्वीन' ने फिल्मकारों के लिए नया रूप खोल दिया। दस्यु सुंदरी फूलन देवी के जीवन पर आधारित 'बैंडिट क्वीन' रियलिस्टिक फिल्म थी। हिंदी में किसी जीवित व्यक्ति पर बनी संभवत: यह पहली फिल्म मानी जाती है। प्रमुख बायोपिक फिल्मों की बात करें तो 'मांझी द माउंटेन मैन', 'भाग मिल्खा भाग', 'द डर्टी पिक्चर', 'मैरीकॉम', 'अजहर', 'सरबजीत', 'एम एस धोनी, द अनटोल्ड स्टोरी','दंगल','राजी','मणिकर्णिका','गोल्ड', 'सुरमा', 'सुपर थर्टी', 'सुल्तान', 'पीएम नरेंद्र मोदी', 'सांड की आँख' आदि का नाम लिया जा सकता है। राजकुमार हिरानी के निर्देशन में बनी फिल्म 'संजू' अभिनेता संजय दत्त की बायोपिक है, 'सूरमा' हॉकी प्लेयर संदीप सिंह की बायोपिक है, इस फिल्म में संदीप सिंह के संघर्ष और जज्बे को दिखाया गया है। नंदिता दास के निर्देशन में बनी फिल्म 'मंटो' प्रसिद्ध कहानीकार 'सआदत हसन मंटो' के जीवन-चरित्र को

दर्शाती है। मंटो की भूमिका को रुपहले पर्दे पर नवाजुद्दीन सिद्दीकी ने साकार किया है। 2020 में आई 'छपाक' फिल्म तेजाब पीड़िता लक्ष्मी अग्रवाल के जीवन पर बनी है तो साउथ के दिग्गज राजनेता जयललिता के जीवन पर 'थलाइवा' बन रही है।

इस तरह कहा जा सकता है कि जो भारतीय सिनेमा की शुरुआत एक सामाजिक और नैतिक मूल्यों से हुई थी आज उसमें यथार्थ अधिक जोरों पर है। जहाँ पहले फिल्मों में अभिनेता प्रमुख होता था, आज उसमें खलनायक भी नायक की भूमिका निभाने लगा है। पहले शुरुआती दौर में फिल्में संगीत प्रधान होती थीं और एक फिल्म में 60 से 70 गाने होते थे, वहीं 'ब्लैक' जैसी फिल्मों में गाने की गुंजाइश भी नहीं है। आज फिल्मों के साथ गानों में भी अश्लीलता अपने जोरों पर है। आज हर फिल्म व्यावसायिक रूप से सफल होकर सौ करोड़ी क्लब या पाँच सौ करोड़ी क्लब का हिस्सा बनना चाहती है, साथ ही वह गीत की दृष्टि से हो या संगीत की या पटकथा-कथा की दृष्टि से या नई तकनीक की दृष्टि से 'ट्रेंड' में बदलाव देखने को मिलता है। यह नया फिल्मी 'ट्रेंड' उत्तर आधुनिक युग में कुछ दर्शकों को गुदगुदाता है तो कुछ को कहीं न कहीं सोचने पर भी मजबूर करता है। फिर भी कहा जा सकता है कि भारतीय सिनेमा आधुनिक संदर्भ से सामंजस्य स्थापित कर नित-प्रतिदिन एक नए 'ट्रेंड' को अपनाकर आगे बढ़ता जा रहा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. सत्यदेव त्रिपाठी : समकालीन फिल्मों के आईने में समाज, दिल्ली, शिल्पायन प्रकाशन, 2013

2. प्रह्लाद अग्रवाल : हिंदी सिनेमा बीसवीं से इक्कीसवीं सदी तक, इलाहाबाद, साहित्य भंडार, 2009

3. प्रो. रतन कुमार पांडेय : सिनेमा और साहित्य का अंतर्संबंध, दिल्ली. अनंग प्रकाशन, 2015

4. प्रसून सिन्हा : भारतीय सिनेमा एक अनंत यात्रा, दिल्ली, श्री नटराज प्रकाशन, 2006

5. डॉ. तेजनारायण ओझा डॉ. आलोक रंजन पांडेय, हिंदी सिनेमा बदलते संदर्भ, दिल्ली, सतीशबुक डिपो, 2014

6. प्रह्लाद अग्रवाल : हिंदी सिनेमा आदि से अनंत तक (चार भाग) साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 2014

7. फिरोज रंगूनवाला : भारतीय चलचित्र का इतिहास, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 1975

8. डॉ. पूरनचंद टंडन, डॉ. सुनील कुमार तिवारी: साहित्य, सिनेमा और समाज, नव उन्नयन साहित्यिक सोसायटी, दिल्ली, 2017

9. जवरीमल्ल पारख : हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र, दिल्ली

– असिस्टेंट प्रोफेसर, रामानुजन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, कालका जी, नई दिल्ली-19

❑❑❑

भारत में फिल्म निर्माण शिक्षा एवं व्यवसाय के विविध पहलू

डॉ. गोरखनाथ तिवारी

भारत में फिल्मों का नाम लेते ही हमारे मनः पटल पर अभिनेता, अभिनेत्री, नाच-गाना, कैमरा तथा बाजा संगीत जैसे शब्द चित्रांकित होने लगते हैं। फिल्म संवाद का एक सशक्त माध्यम है जिससे आम आदमी आसानी से जुड़ सकता है और अपनी बात समाज के सामने बेबाक ढंग से रख सकता है। यह मनोरंजन के साथ-साथ लोगों को शिक्षित भी करता है। भारत में फिल्मों का निर्माण स्वतंत्रता के पहले से ही होता आ रहा है। दादा साहेब फाल्के जैसे महापुरुषों के व्यक्तिगत प्रयास से ही हमारे देश में फिल्म निर्माण शुरू हुआ। धीरे-धीरे लोगों का फिल्मों के प्रति आकर्षण बढ़ा और आज भारतीय सिनेमा विश्व सिनेमा को कड़ी चुनौती दे रहा है।

आधुनिक युग में तकनीकी विकास के साथ-साथ फिल्मों के निर्माण का भी दायरा बढ़ा है। अगर व्यक्ति प्रतिभा संपन्न है तो उसे काम मिलना बहुत ही आसान है। आज-कल प्रत्येक स्तर पर फिल्मों का निर्माण हो रहा है। देशभर में कई ऐसे प्रतिष्ठित संस्थान हैं जहाँ से डिग्री, डिप्लोमा या पी.जी. कोर्स करने के उपरांत इन क्षेत्रों में रोजगार प्राप्त किया जा सकता है।

देशभर में फिल्म निर्माण, भाषा, साहित्य, शिक्षा, समाज तथा उद्योग के क्षेत्र में भी भारतीय फिल्में आज महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही हैं, इसमें कोई दो राय नहीं है। भारत विश्व में सबसे अधिक फिल्म बनाने वाले देश के रूप में ख्याति अर्जित कर चुका है। यहाँ फिल्म निर्माण एक उद्योग के रूप में स्थापित है। ये फिल्में हमारी मानसिकता को प्रभावित करती हैं। फिल्मों को हमारी जिंदगी का एक महत्वपूर्ण हिस्सा माना गया है। विभिन्न भाषाई एवं क्षेत्रीय फिल्मों की यात्रा, साहित्य से उनका संबंध, फिल्मों के विभिन्न प्रवाह, फिल्मों की इतिहास यात्रा, उद्योग आदि अनेक महत्वपूर्ण पहलुओं को देखने का प्रयास किया जाता है।

इस संदर्भ में राजकिरण रै जी 'परिदृश्य' शीर्षक के अंतर्गत लिखते हैं कि- "यहाँ फिल्म निर्माण एक उद्योग के रूप में स्थापित हो चुका है, बावजूद इसके ये फिल्में आपके जीवन और मानसिकता को प्रभावित करती हैं।"[1]

जब हम फिल्में देखते हैं तो उसे देखकर हम उसके साथ हँसते हैं, रोते हैं, क्रोधित होते हैं, खुशी से झूमने लगते हैं, पर्दे के नायक और नायिकाएँ हमारे जीवन में आदर्श बन जाते हैं। फिल्मों का समाज हमारे समाज जैसे लगने लगता है। कभी-कभार फिल्मों को देखकर हम गहरी सोच में डूब जाते हैं या फिर हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि भारतीय फिल्मों ने हमारे समाज पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है।

इस विषय पर डॉ. सुलभा कोरे अपने संपादकीय में लिखती हैं कि- "विभिन्न भाषाई या क्षेत्रीय फिल्मों की यात्रा उद्योग आदि ने अनेक पहलुओं को खंगालने का प्रयास किया है।"[2]

भारतीय भाषाओं में प्रतिवर्ष लगभग दो हजार फिल्में बनाई जाती हैं। दादा साहेब फाल्के ने राजा 'हरिश्चंद्र' (1913) ई. में मूक फिल्म का निर्माण

किया। इस फिल्म की व्यावसायिक सफलता की वजह से अन्य फिल्मों के निर्माण हेतु निर्माता और निर्देशक को एक नई संजीवनी प्राप्त हुई। शुरुआती दौर में फिल्मों में आवाज नहीं होती थी उसके बाद आवाज़ वाली फिल्में बनने लगी। सन् 1931 में भारतीय सिनेमा की पहली बोलती हुई फिल्म 'आलम आरा' बनी, जिसमें चित्र के साथ आवाज के मिश्रण से सिने जगत को एक नई गति और नया आयाम मिला। उसके बाद गीत संगीत का दौर शुरू हुआ। महानगरों से लेकर छोटे-छोटे शहरों तथा गाँवों में सिनेमाघर खुलने लगे। सन् 1937 ई. में भारतीय सिनेमा की पहली रंगीन फिल्म 'किशन कन्हैया' के उपरांत रंगीन फिल्में बनने लगीं और भारतीय सिनेमा नई ऊँचाईयों को छूने लगा।

जैसा कि यह देखा गया है कि बॉलीबुड के प्रारंभिक दौर में धार्मिक फिल्मों की समाज में मांग अधिक होने से धार्मिक फिल्में निर्मित होती थीं क्योंकि उस समय नैतिकता और धर्म का बोलबाला समाज में था। उसके बाद ऐतिहासिक फिल्में 'मुगल-ए-आजम' जैसी फिल्म (1960), 'जब प्यार किया तो डरना क्या' देश में बनने लगीं और जनमानस में अत्यधिक लोकप्रिय हुई। जिस समय हमारा देश स्वतंत्र हुआ तब देश भक्ति की फिल्में बनाई जाने लगीं और लोगों को खूब पंसद आईं। हम सब 'पूरब और पश्चिम' (1970) को भूल नहीं पाते हैं जिसका गीत- *है प्रीत जहाँ कि रीत सदा, मैं गीत वहाँ के गाता हूँ, भारत का रहने वाला हूँ भारत की बात सुनाता हूँ।* उस समय समाज सुधारकों और विचारकों पर भी फिल्में बनाई जाती थीं। 'दो आँखें, बारह हाथ', 'अछूत कन्या', 'बंदिनी' जैसी फिल्मों का हीरों या हीरोइन (नायक या नायिका) एक साधारण व्यक्ति होता था। ये सभी फिल्में समाज की सोच को परिवर्तित करने और जनमानस को झकझोरने में कामयाब रही हैं। युवा पीढ़ी फिल्म नायक ओर नायिकाओं का आज अनुकरण कर रहे हैं, फिल्मों की कहानी, संदेश के अनुसार उन पर प्रभाव भी परिलक्षित होता है। सन् 1960 और 1980 के दशकों में फिल्म निर्माण के समय नायिकाएँ साड़ी या सूट पहनती थीं और खलनायिकाएँ स्कर्ट्स और अंग प्रदर्शन करने वाले परिधान। लेकिन वर्तमान परिवेश में उनके परिधान को देखकर यह अंदाजा नहीं लगाया जा सकता है कि कौन-सा परिधान नायिका का है और कौन-सा परिधान खलनायिका का है।

भारतीय सिनेमा आज के समय में विश्व सिनेमा जगत से प्रतिस्पर्धा कर रहा है। पहले एक समय में एक ही सिनेमाघर में फिल्म चलती थी लेकिन आज मल्टीप्लेक्स के जरिए एक साथ कई फिल्में दिखाई जा रही हैं और फिल्म बनाने के लिए आधुनिक मशीनरी का प्रयोग जैसे बड़े-बड़े कैमरे, स्टुडियो, कंप्यूटर, संगीत के उपकरण आदि फिल्म बनाने में हजारों लोगों का सहयोग भी लेना पड़ रहा है जिससे कि इस क्षेत्र में रोजगार बढ़ता ही जा रहा है और उसके अवसर मुहैया कराए जा रहे हैं। शिक्षा पर आधारित फिल्में समय-समय पर देखने को मिलती हैं जो शिक्षा के महत्व को समझाती हैं। जिनमें से हम कुछ फिल्मों को लेकर देख सकते हैं। वर्ष 2007 में 'तारे जमींन पर' रिलीज हुई तो उसने समाज में एक महत्वपूर्ण संदेश दिया। हमारी शिक्षा व्यवस्था में समावेशी शिक्षा दी जाती है। समावेशी शिक्षा का अर्थ ही होता है विभिन्न अक्षमताओं वाले बच्चों को नियमित कक्षा में जहाँ सामान्य बच्चे हैं उनके साथ शामिल किया जाए। फिल्म में ईशान अवस्थी नामक एक बालक है जो मानसिक बीमारी डिस्लेक्सिया से पीड़ित है। इस प्रकार के बच्चों को लिखने और पढ़ने की समस्या होती है। ईशान को सामान्य बच्चों के साथ रखकर गीत गा कर अलग प्रकार की एक्टीविटी द्वारा शिक्षा देकर ईशान की मदद की जाती है। इस फिल्म में एक बहुत बड़ा संदेश समाज को दिया गया है कि 'एवरी चाइल्ड इज स्पेशल' एक माता-पिता और एक शिक्षक के रूप में हमें अपने बच्चों के गुणों और उनकी शिक्षा में आने वाली कठिनाइयों का पता लगाना होगा। तभी हम भावी भारतीय पीढ़ी को मजबूत कर पाएँगे।

आगे 2009 में '3 इडियट्स' फिल्म आई जिसमें बच्चों पर अभिभावक तथा समाज द्वारा पड़ने वाले दबाव के बारे में दर्शाया गया है। इस फिल्म का संदेश मुख्य रूप से यही है कि बच्चे जो भी बनना चाहें उन्हें बनने दें। उन पर अपने सपनों का या झूठी सामाजिक प्रतिष्ठा बनाए रखने के लिए दबाव न डालें क्योंकि हर बालक अपने आप में कुछ अलग होता है। 'आमिर

खान' और उनके दो दोस्त आई.आई.टी. कॉलेज में पढ़ाई कर रहे हैं उन्हीं के जीवन पर ये पूरी फिल्म चलती है। 'आमिर खान' ने इस फिल्म के माध्यम से एक महत्वपूर्ण बात कही है कि "आप अपने दिल की सुनों यदि सचिन तेंदुलकर ने अपने दिल की बात न सुनकर दूसरों के दबाव में आकर किसी अन्य क्षेत्र में प्रयास किया होता तो वे आज इस देश के महान खिलाड़ी न होते। संदेश साफ है हमें जो अच्छा लगे, जिसमें मन लगे वही काम करना चाहिए। बिना मन के बोझ समझकर चुना हुआ काम कभी सफलता नहीं दिलाता। 2009 में ही 'चल चलें' फिल्म में अकादमिक दबाव को दिखाया गया है। अभिभावकों के शैक्षिक दबाव के चलते बच्चा आत्महत्या कर लेता है। इस फिल्म में अभिभावकों के दबाव की तस्वीर में शिक्षा प्रणाली को समाज के सामने चित्रांकित किया गया है।

2012 में 'इंग्लिश विंग्लिश' फिल्म आई। इस फिल्म का मुख्य संदेश है कि जिस देश की भाषा हिंदी है वहीं हिंदी बोलने में लोग अपमानित महसूस करते हैं। वहीं इंग्लिश बोलने वालों को बहुत वरीयता दी जाती है। आप गणित के महारथी हों या विज्ञान के ज्ञाता आपको ज्ञानी तभी कहा जाता है जब आपको फर्राटेदार अंग्रेजी आती हो। आखिर में बात करेंगे 'चॉक एंड डस्टर' की जो फिल्म 2016 में आई। यह फिल्म भारतीय प्राइवेट शिक्षा व्यवस्था के व्यावसायीकरण पर आधारित है यह अध्यापकों और छात्रों के बीच कम्यूनिकेशन और उनकी आपसी समस्याओं पर प्रकाश डालती है जो दिन-प्रति-दिन बदलती और बढ़ती जा रही हैं।

आज फिल्मों को उद्योग का दर्जा प्राप्त है। फिल्में आज करोड़ों का व्यवसाय कर रही हैं। ऐसी फिल्मों की सफलता के प्रमुख रूप से कई कारण हैं जैसे नृत्य, संगीत, हिंसा, मोलोड्रामा, विदेशी लोकेशन, आइटम सांग्स, प्रसिद्ध हीरों एवं हीरोइनें इत्यादि। हाँ यह सच है कि फिल्म की सफलता और असफलता के पीछे उसकी कमाई से आज हम अंदाजा लगाते हैं। फिल्म उद्योग अब कार्पोरेट सेक्टर जैसा हो गया है। फिल्म स्टूडियो अब कंपनियों की तर्ज पर कार्य करने लगे हैं। फिल्मों की मार्केटिंग होने से आमदनी के स्रोत बढ़ रहे हैं।

आज कुछ हिंदी फिल्मों और कंपनियों ने अपना एक और सीज मार्केट तैयार किया है। प्रवासी भारतीयों को ध्यान में रखकर अब हिंदी फिल्में बनाई जा रही हैं। अगर ये फिल्में अपने देश में कमाई नहीं कर पाती हैं तो भी फिल्म निर्माताओं को कोई घाटा नहीं होता क्योंकि ऐसी फिल्में प्रवासी भारतीयों द्वारा विदेशों में खूब चलती हैं और वहाँ पसंद भी की जाती हैं। यही फिल्में लाभ के नए रिकार्ड को बनाने में सफल रहती हैं और निर्माता निर्देशक को कोई तनाव की बात नहीं होती।

फिल्म बनाने के लिए आज आई.डी.बी.आई. (औद्योगिक विकास बैंक) ने धन ऋण पर देना शुरू किया है। निर्माता-निर्देशक, संगीतकार, नायक-नायिका, तकनीशियन, कैमरामैन, लेखक या छोटे एवं बड़े कलाकार की तकनीकें बदलने लगीं हैं। पहले बहुत कम बजट की फिल्में होती थीं, लेकिन आज की फिल्में करोड़ों की लागत से बनाई जा रही हैं पहले जहाँ लाखों का व्यवसाय होता था अब उसमें आशातीत व्यवसाय हो रहा है।

भारतीय फिल्म उद्योग दुनिया के सबसे बड़े बाजारों में से एक है। यहाँ सभी वर्ग के लोग एक साथ मिलकर काम करते हैं और भारतीय फिल्म उद्योग के विकास के साथ रोजगार के अवसर भी मुहैया कराते हैं। फिल्म इंडस्ट्री सिर्फ कलाकारों के लिए ही नहीं अपितु लाखों युवाओं को भी रोजगार प्रदान करती है। लघु फिल्मों में धारावाहिक, वेब सिरीज, विज्ञापनों आदि में रोजगार की असीम संभावनाएँ हैं। तकनीक और ग्राफिक्स का फिल्मों में प्रयोग बढ़ा है इस क्षेत्र में रोजगार की और अधिक संभावनाएँ बढ़ती जा रही हैं। विदेशी फिल्मों के भारत में व्यापार करने से देशी फिल्मों ने भी अपने स्तर में काफी सुधार करते हुए 'बाहुबली' जैसी फिल्में बनाई हैं। इस तरह से प्रतियोगिता मनोरंजन व्यापार में एक क्रांतिकारी परिवर्तन वैश्विक फलक पर देखा जा सकता है।

इस प्रकार से हम यह देखते हैं कि फिल्मों के माध्यम से समाज का प्रतिबिंब हमें दिखाई देता है। ऐसा प्रतिबिंब जो जनमानस को मनोरंजन प्रदान करते हुए

सत्य-असत्य, न्याय-अन्याय के प्रति फर्क और विद्रोह कर सत्य के मार्ग पर चलने का संदेश देता है। सामाजिक कुरीतियों, अंधविश्वासों एवं पाखंडों जैसी बातों के प्रति सिनेमा हमारा मार्गदर्शन करता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. यूनियन सृजन- फिल्मी दुनिया विशेषांक, अप्रैल-जून, 2018, राजकिरण रै जी

2. डॉ. सुलभा कोरे-संपादक यूनियन सृजन फिल्मी दुनिया विशेषांक, अप्रैल-जून, 2018

– सहायक आचार्य, पी. जी. विभाग, उच्च शिक्षा और शोध संस्थान, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा एवं संपादक संकल्य (त्रैमासिक) खैरताबाद, हैदराबाद-500004

❑❑❑

सिनेमा - समकालीन परिदृष्य (सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक) थर्ड जेंडर (किन्नर विमर्श) के संदर्भ में

डॉ. अनुपमा

बचपन से ही मुझे सिनेमा के प्रति विशेष लगाव रहा है। दूरदर्शन पर प्रसारित होने वाले धारावाहिक, साप्ताहिक के कारण पैदा हुआ फिल्मों का आकर्षण, थिएटर में देखी फिल्मों के कारण रुझान में बदल गया। सिनेमा के प्रति रुझान और साहित्य पर आधारित फिल्मों के प्रति जिज्ञासा के कारण ही इस विषय पर कुछ विचार रखने का मन बन गया।

सिनेमा अभिव्यक्ति का एक ऐसा प्रभावशाली और सशक्त माध्यम रहा है जिसने सदियों से समाज को सर्वाधिक प्रभावित किया है। यह कहने में गुरेज नहीं करना चाहिए कि कहीं-न-कहीं समाज और सिनेमा दोनों ही एक दूसरे के पूरक रहे हैं। हमेशा सिनेमा को मनोरंजन के तौर पर देखा जाता है परंतु यह प्रतिरोध का एक मजबूत जरिया भी है। इसने अपने अंदर सामाजिक, राजनैतिक मुद्दों को समेटा है। लगभग सभी आधुनिक, उत्तर आधुनिक विमर्श फिल्मों का हिस्सा बने हैं। उन्हीं अस्मितामूलक विमर्शों में एक है- 'थर्ड जेंडर विमर्श'। यह साहित्य व समाज विज्ञान के साथ-साथ सिनेमा के लिए भी उतना ही महत्वपूर्ण विषय रहा है। थर्ड जेंडर की अस्मिताई पहचान हो या उनके अस्तित्व से जुड़े अन्य प्रश्न इन सबको रेखांकित करने का कार्य सिनेमा ने जरूर किया है। मुझे सिने-जगत में हिजड़ों की उपस्थिति के नाम पर यदि कोई फिल्म सबसे पहले याद आती है तो वह है महमूद अभिनीत 'कुँवारा बाप'(1974) इसमें महमूद बच्चों को सड़क से उठाकर ले आता है। हिजड़े बच्चे के आने पर बधाई गाने गाते हैं। इसमें महमूद रिक्शा चालक है और वह एक बच्चे को लेकर घर आता है तो हिजड़े आते हैं, उससे पूछते हैं कि वो कुँवारा है तो बच्चा कहाँ से आया। बच्चे को सड़क से घर तक उठाकर लाने का जो दृश्य गाने के साथ चलता है उसमें हिजड़ों की पूरी-पूरी सहभागिता तथा भारतीय समाज परंपरा रहती है परंतु उनकी उपस्थिति से दृश्य बहुत ही जीवंत बन जाता है।

थर्ड जेंडर पर बनी कई फिल्मों में नकारात्मक और सकारात्मक दोनों पहलुओं को दिखाया गया है। उपेक्षितों की आवाज बनने वाली फिल्मों में 1997 में एक फिल्म आई- 'तमन्ना'। यह फिल्म हमारे सामने कुछ बड़े प्रश्न छोड़ जाती है। एक किन्नर पात्र टिकू और उसकी बेटी तमन्ना (पूजा भट्ट) के माध्यम से यह फिल्म अपने विषय से भी कहीं अधिक आगे निकल जाती है और अपने केंद्रीय विषय 'थर्ड जेंडर' के साथ-साथ स्त्री विमर्श के भी कुछ जटिल सवाल हमारे सामने रखती है। यह फिल्म मानवीय संवेदना की अटूट गाथा है।

शोएब मंसूर के निर्देशन में बनी फिल्म 'बोल' के आधार पर सिनेमा में किन्नरों की उपस्थिति और उनके ट्रीटमेंट पर विचार किया गया है हकीम की सात बेटियाँ हैं और आठवाँ बेटा होता है वह न तो लड़की है न लड़का (किन्नर)। वे उससे नफरत करते हैं और उसका नामकरण तक नहीं करते, इज्जत के चलते किन्नरों को भी नहीं देना चाहते, न उसे स्कूल भेजा जाता है इस फिल्म में किन्नर का समाज में कोई नहीं है यह दर्शाया गया है, न वह वंश बढ़ा सकता है न कोई इज्जतदार काम कर सकता है जाहिर है, जब तक

समाज का यह नज़रिया नहीं बदलेगा, स्थितियों का बदलना मुमकिन नहीं है। वस्तुतः किन्नर मुद्दे और स्त्री सम्मान को लेकर बनाई गई 'बोल' जैसी फिल्मों को न केवल बड़े स्तर पर रिलीज करना चाहिए बल्कि ऐसी फिल्मों का प्रचार-प्रसार भी अधिक से अधिक करना चाहिए। यह फिल्म समाज के सामने आत्मालोचन हेतु अनेक गंभीर सवाल खड़े कर देती है।

भारत में बनने वाली थर्ड जेंडर को केंद्रित करती हुई कुछ फिल्में भारतीय सिनेमा में पदार्पण कर चुकी हैं जिसमें मधुर भंडारकर की 'ट्रैफिक सिग्नल', महेश भट्ट की 'तम्मना', कल्पना लाजमी की 'दरमियाँ', योगेश भारद्वाज की 'शबनम मौसी', 'कुँवारा बाप', 'सड़क', 'वेलकम टू सज्जनपुर', 'बोल', 'जोगवा', 'अर्धनारी', 'संघर्ष' हिंदी सिनेमा की ऐसी फिल्में हैं जो थर्ड जेंडर की दुनिया को प्रदर्शित करती हुई उनकी समस्याओं को रेखांकित करती हैं। कहीं-कहीं इन फिल्मों में व्यावसायिकता अवश्य आ गई है। परंतु सारी फिल्में बहुत गंभीरता से अपने विषय को समाज के सामने प्रस्तुत करती हैं और ऐसे सवाल खड़े करती हैं जिससे पता चलता है कि समाज में केवल एक समस्या नहीं है, बल्कि समाज में यह एक कोढ़ के रूप में भी मौजूद है।

देश-विदेश में कई फिल्में हिजड़ों (किन्नर) की समस्याओं और दुस्थितिओं को केंद्र में रखकर बनी हैं। इस दृष्टि से चीनी निर्देशक अनहुई द्वारा बनाई गई फिल्म 'माई ने' रेखांकन योग्य है। इस समुदाय के प्रति तिरस्कार भाव के कारण ही कदाचित इस फिल्म को चीन की मुख्यधारा की फिल्मों में शामिल नहीं किया। (यूट्यूब पर प्रदर्शित की) इस पर चीन में हिजड़ों की समस्या पर सार्थक बहस चली। बंगलादेश में बनी फिल्म 'कॉमन जेंडर' ने बंगलादेश के लोगों को अंदर तक हिला दिया। इस फिल्म में हिंदू लड़के से प्रेम हो जाता है। इसी फिल्म में प्रेम सुष्मिता नामक हिजड़े को न पाने की छटपटाहट के विलक्षण कलात्मकता के साथ निर्देशक नोमेन रॉबिन ने फिल्माया है।

गालिब ने भी यही कहा है

बस कि दश्वार है हर काम का आसां होना
आदम को भी मयस्सर नहीं इसां होना

'बुलेट राजा', 'कूटान द डेस्टिनी ऑफ डांस', 'राजा हिंदुस्तानी', 'नटरंग', 'नर्तकी', 'ट्रैफिक सिग्नल' आदि फिल्मों में भी किन्नर की भूमिका है। 'कूटान द डेस्टिनी ऑफ डांस' - पूरी तरह से किन्नर पर आधारित है। इसमें डांस को फोकस में रखकर बहुसंख्यक समाज से लड़ने वाले अल्पसंख्यकीय किन्नर जीवन के त्रासदीय क्षणों को प्रस्तुत किया गया है।

'शबनम मौसी' फिल्म मध्य प्रदेश के सोहागपुर के पूर्व विधायक किन्नर शबनम बानो के निजी और भौतिक जीवन पर आधारित है। उसके जन्म से लेकर चुनाव तक की समस्याओं का चित्रण इसमें किया गया है। यह फिल्म एक पात्र को केंद्र में रखकर अत्यंत गंभीरता एवं रोचकता के साथ आगे बढ़ती है। फिल्म में किन्नर का चित्रण कम हुआ है। लेकिन समय के साथ बदलाव जरूर है। सशक्त रूप में इनके जीवन पलों को फिल्म में अंकित किया गया है। जो अंकन किन्नर को लेकर हुआ है इसकी वास्तविकता को परखना जरूरी है।

फिल्म अभिनेता के रूप में किन्नर अंजली का नाम रोशन हुआ है जो केरल से है। इस तरह हिंदी फिल्म से किन्नर की छाप दिखने लगी है। मीडिया में चित्रित किन्नर जीवन का दुहरा चेहरा है उसे परखने का दायित्व हर एक सुहृदय का है। किन्नर जो समाज में हाशिये में धकेल दिए गए हैं। उसे समाज की मुख्यधारा में स्थान दिलाने में फिल्में अपनी ओर से कोशिश कर रही हैं। समाज का नजरिया बदल रही हैं। इसका उदाहरण है- किन्नर जीवन पर आधारित बॉलीवुड फिल्म 'हंसा एक सहयोग' में अंबिकापुर के 'किन्नर मुस्कान' को एक किरदार मिला है। समाज के विकास में किन्नर भी अपना योगदान दे सकता है। लेकिन समाज की नीच दृष्टि से ये परेशान है। इनकी जिंदगी को जनता तक पहुँचाने में साहित्य के साथ फिल्म भी अपना योगदान दे रही है। किन्नर का हक और जिंदगी का जीवंत चित्र समाज तक पहुँचाने की कोशिश इस फिल्म में हैं।

महेश भट्ट द्वारा निर्देशित व मुकेश भट्ट द्वारा निर्मित फिल्म 'सड़क' 1991 में आई। संजय दत्त और पूजा भट्ट ने इसमें काम किया है, यह फिल्म 2000 में 'अप्पु' नाम से तमिल में प्रदर्शित हुई। फिल्म की मूल कथा वेश्यावृत्ति, लड़कियों को गुमराह कर देह व्यापार की अग्नि में झोंकने पर आधारित है। इस रंडी

बाजार के मुख्य सरगना के रूप में जिस पात्र को निर्मित किया गया वह एक हिजड़ा है। सदाशिव अमरापुरकर ने बेहतरीन अभिनय किया है। उन्हें इसके लिए पुरस्कृत किया गया। इसमें वह अत्यंत निष्ठुर, क्रूर व निर्दयी हैं। महारानी जानती है सिर्फ सौदा, जिस्म का सौदा, ईमान का सौदा, पैसा और पैसा, ज्यादा पैसे के लालच में वह अपना वादा तोड़ती है तो ग्राहक कहता है तुम वादा तोड़ रही हो, तुम में इंसानियत नाम की चीज़ है कि नहीं! तब महारानी उसे दुत्कारती हुई कहती है कि हम लोगों को कभी किसी ने इंसान समझा ही कहाँ जो हमसे इंसानियत की उम्मीद की जाए। यह सच फिल्म के दर्शक को सोचने पर बाध्य करता है। क्या हमारा समाज हिजड़ों को इंसान का दर्जा देता है अगर हिजड़ों को इंसान का दर्जा दिया जाता तो उन्हें यूँ समाज से अलग-थलग नहीं कर दिया जाता। उन्हें भी विकास के, जीवन के वे सारे अवसर दिए जाते जो एक साधारण मनुष्य को मिलते हैं। पर नहीं उन्हें धकेलकर, घृणा और अवहेलना के साथ एक ऐसी बिरादरी का सदस्य बना दिया जाता है जो मुख्य धारा से कटा हुआ है, बिल्कुल दूर और अवहेलित।

'संघर्ष' फिल्म कि बात करें तो फिल्म जो सामान्यतः किन्नर समाज पर फिल्माई गई फिल्मों से अलग है। यह फिल्म मुख्यतः लज्जाशंकर पांडेय जो एक किन्नर है उसकी विकृत मनोदशा की कहानी है। किस तरह लज्जाशंकर अपनी अमरता के लिए मासूम बच्चों की बलि चढ़ाता है। वह चालिस लोगों की हत्या कर चुका है।

'वेलकम टू सज्जनपुर': श्यामत बेनेगल की एक ऐसी फिल्म है जो समाज के बहुत से अनछुए पहलुओं को उद्घाटित करती है फिल्म की शुरुआत ही नेहरू द्वारा दुर्जनपुर गाँव से बदले गए नाम सज्जनपुर के साथ होती है। इस फिल्म में कई समस्याओं की ओर ध्यान दिया गया है, उनमें से एक है बेरोजगारी। यह फिल्म आज के दौर का एक सामाजिक एवं राजनैतिक अक्स प्रस्तुत करती है। अशिक्षा पर भी फिल्म के अंदर एक जबदरस्त टिप्पणी है। इस फिल्म में मुन्नीबाई जब चुनाव में खड़ी होती है तो एक बात ज़हन में आती है कि इसके साथ कौन होगा, इसे वोट कौन देगा?

"लोग हमसे नफरत करते हैं, लोगों को यह समझना चाहिए कि हमें भी आशियाने की जरूरत है, हमें भी प्यास लगती है, हमें भी भूख लगती है। हमारे पास भी दिमाग है। हम भी अच्छे काम कर सकते हैं"। यह पीड़ा है रतलाम की हिजड़ा गुरुप्रीति की। यह पीड़ा ही नहीं बल्कि कराह है ऐसे समाज की जो न पूर्ण पुरुष है और न पूर्ण स्त्री।

हिंदी में भी हिजड़ों की समस्याओं और मुद्दों पर कुछ फिल्में बनी हैं, जिनमें कुछ बेहतरीन फिल्में हैं लेकिन हिंदुस्तान में ऐसी फिल्में अचर्चित ही रह गईं। यह हमारे तथाकथित सभ्य समाज की असंवेदनशीलता का ही परिचायक है कि इस तरह की फिल्मों को हम नोटिस में ही नहीं लेते। नोटिस लेने की आवश्यकता ही क्या है? हम तो उन्हें गुंडा, बदमाश, निर्लज्ज और वेश्या ही समझते हैं।

'दरमियाँ' : (इन बिटविन) हिजड़ों की संवेदनशीलता पर बनी एक लाजवाब फिल्म है। कल्पना लाजमी ने अपनी अन्य फिल्मों की तरह इसे भी काफी शिद्दत से तराशा है। फिल्म के मुख्य चरित्र ही नहीं छोटे से छोटे चरित्रों की अहम् और सार्थक भूमिका दर्शकों के दिलो-दिमाग पर लंबे समय तक छाई रहती है। यह फिल्म जहाँ एक ओर 1940 के आसपास की फिल्मी दुनिया (बॉलीवुड) के उजले, काले और धूसर दुनिया के सच को उजागर करती है, वहीं हिजड़े की मनोदशा और उसकी संवेदनशीलता को विलक्षण कलात्मकता के साथ रेखांकित करती है। पूरी फिल्म की पृष्ठभूमि में हिजड़ा इम्मी (आरिफ जकारिया) के स्वभाव की तरलता और उसके अंदर की घुटन कविता के टेक की पंक्ति की तरह आवृत्ति में चलती है। आरिफ जकारिया ने हिजड़ा की भूमिका बखूबी निभाई है। फिल्म में आरिफ का एक दृश्य तो हिंदी सिनेमा के इतिहास में कुछ बेहतरीन दृश्यों में से एक है। उस दृश्य में वह अपनी अक्षय नैतिकता से टकराता हे।

सिने-जगत में किन्नरों को जहाँ एक ओर अत्यंत संवेदनशील, उपकारी, ईमानदार दिखाया गया है वहीं 1991 में बनी फिल्म 'सड़क' में हिजड़े का नकारात्मक पक्ष प्रस्तुत किया है। महारानी के किरदार में सदाशिव अमरापुरकर दर्शकों के मन में खौफ पैदा करने में सफल रहा है। महारानी ऐसे किन्नरों का प्रतिनिधित्व करती है जो अपने किन्नर होने का प्रतिशोध आम जनता से लेना चाहते हैं साथ ही बेशुमार धन-दौलत पाना चाहते हैं। सड़क की महारानी अपने हिजड़े होने को

अभिशाप मानती है और इस अभिशाप से उभरने के लिए जिस्म के बाजार का राजा बनती है। इन सभी फिल्मों में जो एक बात अखरती है वह यह है कि हिजड़ों पर बनने वाली फिल्मों में हिजड़े अभिनय नहीं करते अपितु हिजड़ों की भूमिका कोई पुरुष ही निभाता है। यदि किन्नर अपनी पीड़ा स्वयं कहे तो शायद फिल्में और अधिक स्पर्शी, संवेदनशील होंगी। हालांकि 'तमन्ना', 'वेलकम टू सज्जनपुर', 'सड़क' फिल्मों में क्रमशः परेश रावल, रवि झांकल, सदाशिव ने हिजड़े की भूमिका को जीवंत कर दिया परंतु यदि हिजड़ा इस भूमिका को करे तो आर्थिक रूप से सुदृढ़ भी होगा साथ ही अपनी पीड़ा, सुख-दुख संस्कृति दूसरों तक पहुँचा सकता है। जिससे मुख्यधारा से जुड़ने में इन्हें आसानी होगी और ये भी आम इंसान की तरह स्कूलों में पढ़ सकेंगे, और इनका भविष्य उज्ज्वल होगा।

वर्ष 2016 में मूलतः तेलुगु भाषा में बनी 'अर्धनारी' फिल्म किन्नर समाज और उसके जनजीवन को ही दिखाती है। यह फिल्म राष्ट्रप्रेम और किन्नर समाज का जीवन प्रदर्शित करती है। 'अर्धनारी' फिल्म गाँव की पृष्ठभूमि वाली कथा ही, प्रथम भाग फिल्म की जान है, जो उसे आगे ले जाती है। दरअसल यह फिल्म शहर में होती लगातार औरतों के लिए जिम्मेदार एक अर्ध्वनारी बना हिजड़ा है जो साइकोकिलर के नाम से जाना जाने लगा है।

– एफ-133, दूसरी मंजिल, जमुना अरकाडे, नवरंग कॉम्प्लेक्स, हैदराबाद, तेलंगाना-500001

❑❑❑

असमिया सिनेमा का इतिहास : एक अवलोकन

डॉ. रीतामणि वैश्य

असम भारतवर्ष के उत्तर-पूर्व में स्थित एक राज्य है। इस राज्य की उत्तर, पूर्व और दक्षिण दिशाएँ पर्वतमालाओं से घिरी हुई हैं एवं ब्रह्मपुत्र के दोनों तटों पर इसका विस्तार है। असम का इतिहास अति प्राचीन एवं प्रसिद्ध है। साहित्य, संस्कृति, समाज-व्यवस्था, खान-पान, रीति-रिवाज की दृष्टि से एक संपन्न राज्य है असम। इसके साथ ही आधुनिक युग में असमिया सिनेमा के संयोजन से असम की गरिमा और बढ़ी है।

असमिया सिनेमा को अस्तित्व में लाने का श्रेय रूपकुंवर ज्योतिप्रसाद आगरवाला को जाता है। वे असमिया सिनेमा के जनक हैं। आपने जर्मनी में सिनेमा के निर्माण एवं निर्देशन का प्रशिक्षण लिया था। आपने असम में सिनेमा की स्थायी नींव डालने के उद्देश्य से 1934 ई. में तेजपुर के पास भेलागुरी चाय बागान में एक अस्थायी स्टूडियो का निर्माण किया था। बाँस-काठ एवं केले के पेड़ों से निर्मित इस स्टूडियो का नाम 'चित्रवन' रखा गया था। 'चित्रवन' में सिनेमा के दृश्य एवं शब्द ग्रहण तथा प्राथमिक लैबोरेटरी के काम करने की योजना बनाई गई थी। 1935 ई. में ज्योतिप्रसाद ने 'जयमती' का निर्माण कर असमिया सिनेमा की नींव डाली। अभिनेताओं, विशेषकर अभिनेत्री का अभाव, सिनेमा के तकनीकी काम जानने वाले लोगों का अभाव आदि चुनौतियों का सामना करते हुए ज्योतिप्रसाद को 'जयमती' का निर्माण करना पड़ा था। असमिया के प्रसिद्ध साहित्यकार लक्ष्मीनाथ बेजबरुवा के नाटक 'जयमती कुँवरी' को सिनेमा के लिए उपयुक्त बनाकर 'जयमती' का निर्माण किया गया था। ज्योतिप्रसाद ने 'जयमती' में कई नए चरित्र, असमिया भाओना (शंकरदेव एवं माधवदेव के नाटकों का नाट्य रूप), असमिया संस्कृति के उपादान एवं घरेलू असमिया परिवेश का संयोजन किया है, जो बेजबरुवा के मूल 'जयमती कुँवरी' में नहीं मिलते। इससे बेजबरुवा के नाटक 'जयमती' का एक स्वकीय रूप मिलता है। इस तरह असमिया साहित्यकार की कहानी के आधार पर 1935 ई. के 10 मार्च को कोलकाता के राओनाक सिनेमा (जो वर्तमान में ज्योति सिनेमा के रूप में जाना जाता है) तथा 1935 ई. के 20 मार्च को गुवाहाटी के कुमार भास्कर नाट्य मंदिर में चित्रलेखा मुभिटन द्वारा निर्मित एवं ज्योतिप्रसाद आगरवाला द्वारा निर्देशित भारत का चौथा एवं असम के पहले सिनेमा के रूप में 'जयमती' का प्रदर्शन किया जाता है। 'जयमती' का संपादन ढाका में किया गया था। 'जयमती' में पर्याप्त मात्रा में तकनीकी कमियाँ थीं, जिनमें से आवाज से संबंधित त्रुटि प्रमुख थी। फिर भी 'जयमती' ज्योतिप्रसाद का एक सफल प्रयोग था। 'जयमती' में नायिका की भूमिका अदा की थी आइदेउ संदिकै ने। व्यावसायिक दृष्टि से 'जयमती' पूरी तरह से असफल रही ,पर असमिया कला को एक नवीन संयोजन देने का काम 'जयमती' ने किया।

'जयमती' के बाद ज्योतिप्रसाद ने 1939 ई. में अपना दूसरा एवं अंतिम सिनेमा 'इंद्रमालती' का निर्माण किया था। यह असम का भी दूसरा और पहला असमिया सामाजिक सिनेमा के रूप में चिह्नित हुआ। केवल दो दिन में 'इंद्रमालती' का दृश्य ग्रहण संपन्न किया गया

था। बहुत ही कम समय और व्यय से निर्मित 'इंद्रमालती' को खास सफलता नहीं मिली। इसके बाद 1941 ई. में रोहिणी बरुवा ने 'मनोमती' और पार्वतिप्रसाद बरुवा ने 'रूपही' (=सुंदरी) तथा कमल चौधुरी ने 1947 ई. में 'बदन बरफुकन' का निर्माण किया। पर मूलधन, अनुभव एवं बाजार के अभाव में इन्हें सफलता नहीं मिल पाई। इन तीनों सिनेमाओं की विशेषता यह रही कि इनमें असम के अतीत गौरव का गान किया गया। इन निर्माताओं का मूल लक्ष्य था सिनेमा शिल्प को असम में प्रतिष्ठा दिलाना। इस दृष्टि से ये सफल सिद्ध होते हैं।

दूसरे विश्वयुद्ध के बाद असमिया सिनेमा की दुनिया समृद्ध होने लगती है। 1948 ई. में विष्णुप्रसाद राभा तथा फणी शर्मा के संयुक्त निर्देशन में 'छिराज' का निर्माण हुआ, जिसने असमिया सिनेमा में नए प्राण फूंके। लक्षीधर शर्मा की बहुचर्चित कहानी 'छिराज' पर आधारित 'छिराज' सिनेमा का निर्माण हुआ। 'छिराज' की मूल कथा हिंदू-मुसलमान एकता पर केंद्रित है। कहानी, अभिनय एवं निर्देशन की दृष्टि से 'छिराज' एक सफल सिनेमा है। इस सिनेमा में नायक की भूमिका में अभिनय करने वाले फणी शर्मा को स्तरीय अभिनेता के रूप में स्वीकृति मिली। इसी सिनेमा को असमिया सिनेमा के इतिहास में पहली बार व्यावसायिक सफलता मिलती है। तत्पश्चात प्रवीण फुकन की 'पारघाट' (1949), आसीत सेन की 'बिप्लवी' (विप्लवी,1950), सुरेश गोस्वामी का 'रुणुमी' (1953) और सुनील गांगुली का 'सती बेउला' (1954) प्रदर्शित होते हैं। इन सिनेमाओं को व्यावसायिक रूप से कुछ हद तक सफलता तो मिली थी,पर दीर्घकाल तक छाप छोड़ने में ये असफल रहीं। लक्ष्यधर चौधुरी की 'निमिला अंक' (=अनमेल गणित, 1955), फणी शर्मा की 'पियलि फुकन' (1955), निप बरुवा की 'स्मृतिर परश' (स्मृति का स्पर्श, 1956), 'माक आरु मरम (=माँ और प्यार, 1957), 'रङा पुलिच' (=लाल पुलिस, 1958), डॉ. भूपेन हजारिका की 'एरा बाटर सुर' (=छोड़े हुए राह के सुर, 1956) आदि प्रमुख असमिया सिनेमा हैं। इनमें से 'पियलि फुकन' तथा 'माक आरु मरम' को उच्चस्तरीय सिनेमा की स्वीकृति के रूप में क्रमशः 1955 ई. तथा 1957 ई. को 'सर्टिफिकेट ऑफ मेरिट' मिलता है। 'पियलि फुकन' के नायक की भूमिका अदा कर फणी शर्मा अभिनेता के रूप में अमर हो गए। निप बरुवा ने कुल चौदह असमिया सिनेमा का निर्देशन किया। आपने असमिया सिनेमा को सामाजिक एवं रोमांटिक कथा से समृद्ध किया।

असमिया सिनेमा जगत को डॉ. भूपेन हजारिका का महत्वपूर्ण योगदान रहा। 'पियलि फुकन' के द्वारा भूपेन हजारिका ने असमिया सिनेमा में कदम रखा। आपने इस सिनेमा में संगीत निर्देशन किया था, जहाँ आपको अच्छी प्रतिष्ठा मिली। 'एरा बाटर सुर' उनके निर्देशन में प्रदर्शित होने वाली पहली सिनेमा है। रोमांटिक संगीतमधुर इस सिनेमा से अभिनेता विजय शंकर की अद्भुत प्रतिभा को पहचान मिलती है। 'एरा बाटर सुर' से पहली बार अभिनय में कदम रखने वाले विजय शंकर असमिया सिनेमा जगत में लोकप्रियता के शिखर पर पहुँच गए थे। इस सिनेमा में भूपेन हजारिका ने लोकगीत एवं लोकनृत्य के संयोजन से असमिया सिनेमा में इनके प्रयोग का राह खोला था। इसके बाद हजारिका ने कई सिनेमाओं का निर्देशन किया और कई सिनेमाओं के लिए गीतों की रचना कीं। यही नहीं, आपने उन गीतों को गाया भी था। इसी से उन्हें असमिया सिनेमा जगत के अति लोकप्रिय शिल्पी के रूप में ख्याति मिलती है। असमिया के अतिरिक्त आपने हिंदी, बांग्ला आदि भाषाओं में भी अनेक अमर गीत गाए हैं। सिनेमा जगत को उनकी देन के लिए उन्हें 1992 ई. में भारतीय सिनेमा का सर्वश्रेष्ठ सम्मान 'दादा साहेब फाल्के पुरस्कार' से विभूषित किया जाता है। हजारिका द्वारा निर्देशित अन्य असमिया सिनेमा हैं- 'शकुंतला' (1961), 'प्रतिध्वनि' (1965), 'लटिघटि' (=परेशानी) (1966), 'चिकमिक बिजुली' (=चिकमिक बिजली) (1969), 'मन प्रजापति' (1979) और 'छिराज' (1988)। इनमें से 'शकुंतला', 'प्रतिध्वनि' और 'लटिघटि' को राष्ट्रपति का रजत पदक मिलता है; जबकि 'चामेलि मेमचाब' (=चमेली मेम साहब, 1975) के संगीत निर्देशन के लिए उन्हें राष्ट्रीय स्तर पर श्रेष्ठ संगीत निर्देशन का सम्मान मिलता है।

1956 ई. से 1969 ई. तक पच्चीस असमिया सिनेमा का निर्माण होता है। इनमें से नौ सिनेमाओं को विविध स्तर में पुरस्कार मिलता है। इनमें से 'माक आरु मरम' और 'तेजीमला' (1963) को उत्कृष्टता का मानपत्र मिलता है। 'रङा पुलिच', 'पुबेरुण' (=पुवेरुण,

1959), 'शकुंतला', 'मणिराम देवान' (1964), 'प्रतिध्वनि', 'लटिघटि' को राष्ट्रपति के पदक और 'डॉ. बेजबरुवा' (1969) को श्रेष्ठ आंचलिक सिनेमा का पुरस्कार मिलता है। इस कालखंड के कुछ प्रमुख सिनेमा हैं- निप बरुवा द्वारा निर्देशित 'भक्त प्रह्लाद' (1959), प्रबीण फुकन तथा लक्ष्यधर चौधुरी द्वारा निर्देशित 'लाचित बरफुकन' (1961), ब्रजेन बरुवा द्वारा निर्देशित 'इटो सिटो बहुतो' (=यह, वह और अनेक,1963) आदि। इस कालखंड में निर्मित प्रभात मुखर्जी द्वारा निर्देशित सामाजिक सिनेमा 'पुबेरुण' को बर्लिन में आयोजित अंतरराष्ट्रीय सिनेमा समारोह के लिए भेजा गया था। विदेश जाने वाला यही पहला सिनेमा था। इसी समय निर्मित 'रङा पुलिच' को पर्याप्त लोकप्रियता मिली थी। व्यावसायिक दृष्टि से भी यह सिनेमा सफल रहा। इस कालखंड का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिनेमा था 'डॉ. बेजबरुवा', जो रहस्य कहानी पर आधारित था। तकनीकी उत्कर्ष एवं व्यावसायिक सफलता के साथ इस सिनेमा ने असम के सिनेमा जगत के 'बॉक्स ऑफिस' में हलचल मचा दी थी। ब्रजेन बरुवा का 'इटो सिटो बहुतो' पहला हास्य-व्यंग्यात्मक असमिया सिनेमा है। इस समय असमिया सिनेमा चित्रनाट्य, कला-निर्देशन, निर्देशन, कहानी चयन, अभिनय, संवाद आदि सभी क्षेत्रों में खड़ा होने में सक्षम होता है।

सत्तर के दशक में निर्मित असमिया सिनेमाओं के कलात्मक एवं व्यावसायिक दोनों पक्ष महत्वपूर्ण हैं। इस दशक में पहला असमिया रंगीन सिनेमा कमल चौधुरी का 'भाइटि' (=भाई, 1972) का निर्माण होता है। इस समय वास्तव पर आधारित कई कलात्मक सिनेमाओं का निर्माण होता है। इनमें से चतुरंग का 'अपराजेय' (1970), पदुमबरुवा का 'गङा चिलनीर पाखी' (=बाज के पंख, 1976),भवेंद्रनाथ शइकीया का 'संध्याराग' (1977), अतुल बरदलै का 'कल्लोल', समरेंद्र नारायण देव का 'पुतला घर' (=गुड़िया घर, 1976) आदि प्रमुख हैं। सत्तर के दशक में सात असमिया सिनेमाओं को श्रेष्ठ आंचलिक सिनेमा का पुरस्कार मिलता है। ये हैं- समरेंद्र दुवरा का 'ममता' (1973), आब्दुल मजिद का 'चामेलि मेमचाब', समरेंद्र नारायण देव का 'पुतला घर', भवेंद्रनाथ शइकीया का 'संध्याराग' और 'कल्लोल'।

अस्सी के दशक में असमिया में 54 सिनेमाओं का निर्माण होता है। इनमें से नौ सिनेमाओं को श्रेष्ठ आंचलिक सिनेमा का पुरस्कार मिलता है। ये हैं- भवेंद्रनाथ शइकीया का 'अनिर्बान' (=अनिर्वाण, 1981), जाह्नु बरुवा का 'अपरूपा' (1982), चारुकमल हजारिका का 'आलोकर आह्वान' (=आलोक का आह्वान, 1983), शिव ठाकुर का 'सोणमइना' (1984), भवेंद्रनाथ शइकीया का 'अग्निस्नान' (1986), चारुकमल हजारिका का 'बान' (=बाढ़,1986), धीरु भूञाँ का 'प्रथम रागिणी' (1987), भवेंद्रनाथ शइकीया का 'कोलाहल' (1988) और जाह्नु बरुवा का 'बनानि' (=जंगल, 1989)। जाह्नु बरुवा के 'हालधीया चराये बाओधान खाय' (=पीला पक्षी धान खाता है, 1987) को वर्ष के श्रेष्ठ भारतीय सिनेमा की स्वीकृति के रूप में राष्ट्रीय पुरस्कार स्वर्ण कमल मिलता है, जबकि 'अग्निस्नान' को श्रेष्ठ चित्रनाट्य का राष्ट्रीय पुरस्कार मिलता है। इस दशक में व्यावसायिक दृष्टि से सफल सिनेमा रहीं- नीप बरुवा का 'आजली नबौ' (=भोली भाभी,1980), शिवप्रसाद ठाकुर का 'बोवारी' (=बहू, 1982), नीप बरुवा का 'ककादेउता, नाति आरु हाती' (=दादा जी,हाथी और पोता, 1983), शिवप्रसाद ठाकुर का 'घर संसार' (1983), नरेश कुमार का 'जीवन सुरभि' (1984), 'सोनमइना' आदि।

नब्बे के दशक के प्रारंभ से ही असमिया सिनेमा के निर्माण के क्षेत्र में कलात्मक एवं व्यावसायिक दोनों दिशाओं की एक समानांतर गति देखी जाती है। इस दशक में कई आकर्षक एवं उच्च मानदंड के सिनेमा निर्मित होते हैं, जो हैं- हेमेन दास का 'युँज' (=लड़ाई, 1990), जाह्नु बरुवा का 'फिरिङति' (=चिंगारी, 1991), भवेंद्रनाथ शइकीया का 'सारथि' (1992), संजीव हजारिका का 'हलधर' (1992), पुलक गगै का 'रेलर आलिर दूबरि बन' (=रेल पथ का दूब, 1992), संजीव हजारिका का 'मीमांसा' (1994), जाह्नु बरुवा का 'सागरलै बहु दूर' (=सागर बहुत दूर है, 1995), भवेंद्रनाथ शाइकीया का 'इतिहास' (1996), बिद्युत चक्रवर्ती का 'राग-बिराग' (=राग विराग, 1997), डॉ. शांत्वना बरदलै का 'अदाह्य' (1997), जाह्नु बरुवा का स्वतंत्रता संग्रामी कुशल कुंवर के जीवन पर आधारित 'कुशल' (1998), अशोक कुमार बिषया का 'यौवने आमनि करे' (=यौवन तंग करता है, 1998) आदि। 'फिरिङति' को वर्ष का दूसरा श्रेष्ठ सिनेमा का पुरस्कार मिलता है। 'सागरलै बहु दूर' के लिए जाह्नु बरुवा को श्रेष्ठ निर्देशक का पुरस्कार मिलता है। 'इतिहास' को श्रेष्ठ आंचलिक पुरस्कार के

साथ-साथ यह 'इंडियन पेनोरमा' में प्रदर्शित होता है। 1999 ई. में बानी दास के 'महारथी' और मंजु बरा का 'बैभव' (=वैभव) का प्रदर्शन होता है। 'बैभव' को 2000 ई. में ढाका चलचित्र महोत्सव में श्रेष्ठ सिनेमा की मर्यादा मिलती है। साथ ही इसी सिनेमा के लिए मंजु बरा को भारतीय भाषाओं के सिनेमाओं का श्रेष्ठ निर्देशक पुरस्कार 'गोल्लापुड़ि श्रीनिवासन पुरस्कार' दिया जाता है।

2000 ई. में कई असमिया सिनेमा दर्शकों को देखने को मिलते हैं। इनमें से मनोरंजन सुर का 'मृत्युहीन जीवन', विद्युत चक्रवर्ती का 'निसिद्ध नदी', मुनीन बरुवा का 'हिया दिया निया (=दिल का देना और लेना), जुबिन गर्ग का 'तुमि मोर माथो मोर' (=तुम मेरी हो, सिर्फ मेरी), प्रदीप हजारिका का 'अहंकार', जाह्नु बरुवा का 'पाखी' (=पंख), बाहारुल इस्लाम का 'आछेने कोनोबा हियात' (=क्या दिल में कोई है), जयंत दास का 'भूमिपुत्र', संजीव हजारिका का 'मत्स्यगंधा', मुन्ना आहमेद का 'जॉन ज्वले कपालट' (=कपाल में चाँद झलकता है) और जोंस महलिया का 'जुगांतरर तेजाल पुवा' (=युगांतर की ताजी सुबह) प्रमुख हैं।

इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में विविध विषयों के साथ कई असमिया सिनेमाओं का निर्माण हैं। इनमें से 2001 ई. में मुनीन बरुवा का 'दाग', गोपाल बरठाकुर का 'शेष उपहार' (=अंतिम उपहार), मंजु बरा का 'अन्य एक यात्रा', कंदर्प शइकीया का 'बिस्फोरण' (=विस्फोट), सुमन हरिप्रिया का 'कइना मोर धुनिया' (=मेरी दुल्हन सुंदर है) और मुनीन बरुवा का 'नायक' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। 'कइना मोर धुनिया' और नायक को विशेष सफलता मिलती है। 2002 ई. के सिनेमाओं में आलोक नाथ का 'इमान मरम किय लागे' (=इतना प्यार क्यों आता है), मुनीन बरुवा का 'कन्यादान', अंजन कलिता का 'प्रिया ओ प्रिया', इशा खान का 'मरमी हॉबाने लगरी' (=प्यारी साथ निभाओगी क्या), चंद्र मुदै का 'माघत मामणिर बिया' (=माघ में मामणि की शादी है) और सुमन हरिप्रिया का 'ककदेउतार घर जौंवाइ' (=दादा जी के घर जमाई) प्रमुख हैं। 'माघत मामणिर बिया' और 'ककदेउतार घर जोंवाइ' दर्शकों के दिल जीतने में विशेष रूप से सक्षम हुए। व्यावसायिक दृष्टि से भी ये सिनेमा सफल रहे। 2003 ई. में आने वाले सिनेमाओं में गौतम चैटर्जी का 'सरु बोवारी' (=छोटी बहू), महिबुल हक का 'जुमन-सुमन' और 'उजनीर दुजनी गाभरु' (=ऊपरी असम की दो जवान लड़कियाँ) प्रमुख हैं। इनमें से 'उजनीर दुजनी गाभरु' दीर्घकाल तक दर्शकों में मन में छाप छोड़ने में सफल रही। 2004 ई. में बानी दास के 'कादंबरी' और मुनीन बरुवा के 'दीनबंधु' को पर्याप्त सफलता मिली। 2005 में शिबानन बरुवा का 'हियार दापोनत तोमरे छवि' (=हृदय के दर्पण में तुम्हारी ही छवि है) और चंद्र मुदै का 'सुरेन चुरर पुतेक' (=सुरेन चोर का बेटा) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। विनोदधर्मी सिनेमा 'सुरेन चुरर पुतेक' को अत्यधिक समादर मिलता है। 2006 ई. में रमेश मोदी का 'देउता दिया बिदाय' (=पिता जी विदा कीजिए), 2007 ई. में शिब प्रसाद ठाकुर का 'अहीर भैरव' और रजनी बर्मन का 'नीलकंठ', 2008 ई. में एम. मणिराम का 'मन याय' (=दिल चाहता है), 2009 ई. में 'जीबन बाटर लगरी' (=जीवन के पथ के साथी) और 2010 ई. में हिरेन बरा का 'बसुंधरा', महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव के जीवन पर आधारित सिनेमा 'श्रीमंत शंकरदेव' उल्लेखनीय हैं।

इक्कीसवीं सदी के दूसरे दशक में रोमांस, एक्शन, रहस्य, हॉरॉर, राजनीति, फैंटैसी, सामाजिक-राजनैतिक, रोमांटिक कामेडी, रोमांटिक म्यूजिक आदि विविध विषयों पर आधारित सिनेमा आते हैं। 2011 ई. के राजेश भूञाँ का 'जानमणि' सफल रोमांटिक सिनेमा है। इसी वर्ष यदुमणि दत्त के 'जेतुका पाटर दरे' (=मेहंदी पत्ते की तरह) को भी कुछ हद तक सफलता मिलती है। 2012 ई. में चंद्र मुदै के 'बाकर पुतेक' (=भूत का बेटा) अत्यधिक समादृत होता है। बिद्युत काकति का 'एखन नेदेखा नदीर सिपारे' (=एक न दिखने वाली नदी के उस पार) को भी दर्शकों ने अपनाया। 2013 ई. में मानस हजारिका का रोमांटिक सिनेमा 'आकाश चुबलै मन' (=आसमान छूने की इच्छा), सिम्पल गगै का रोमांटिक म्यूजिकल सिनेमा 'तुमि यदिकोवा' (=अगर तुम कह दो), समरेंद्र नारायण देव का चिलाराय के जीवन पर आधारित सिनेमा 'बीर चिलराय' (=वीर चिलराय), ऋतुराज दत्त का रोमांटिक सिनेमा 'भाल पाब नाजानिलो' (=प्यार करना नहीं आया), केनी बसुमतारी का मर्सियल आर्ट कॉमेडी 'लोकेल कुंग फू'

और मौप्राण शर्मा का कॉमेडी सिनेमा 'दुर्जन' उल्लेखनीय हैं। 2014 ई. में जाह्नु बरुवा का 'अजेय', राजीब बरा का रोमांटिक एक्शन सिनेमा 'हिया दिबा काक' (= दिल किसे दोगे, यदुमणि दत्त का 'पानी', बाहारुल इस्लाम का 'रॉदर चिठि' (=धूप की चिट्ठी) प्रमुख हैं। आदिल हुसैन, जुबिन गर्ग,अंगराग महंत जैसे सितारों से भरे 'रॉदर चिठि' को कला एवं व्यावसायिक रूप से पर्याप्त सफलता मिलती है। 2015 में एक्शन रहस्य से भरा बानी दास का 'अहेतुक', अशोक कुमार विषया का 'खेल: द गेम' आते हैं। 2016 ई. में दिराक काश्यप का 'लोकबंधु', भास्कर हजारिका का 'कथानदी', राजेश जसपाल का 'गाने कि आने' (=गाना क्या लाता है) आदि प्रमुख सिनेमा हैं। इनमें से 'कथानदी' को पर्याप्त लोकप्रियता मिलती है। 2017 ई. में आने वाली सिनेमाओं में राजेश भूञाँ का 'कोंवरपुरर कोंवर' हिमांशु प्रसाद दास का 'शाकिरा आहिब बकुलतलर बिहुलै' (=शाकिरा बकुल के नीचे के बिहु में आएगी), हेमेन दास का 'मृगनाभि', मंजुल बरुवा का 'अंतरीन', जुबिन गर्ग का 'मिशन चाइना', शंत्वना बरदलै का 'माज राति केटेकी' (=बीच रात को केतकी) आदि प्रमुख हैं। इनमें से कला की दृष्टि से 'माज राति केटेकी' को विशेष सफलता मिलती है। 2018 ई. में बिद्यत कटकी का 'शैशबते धेमालिते' (=बचपन में हंसी-मजाक में), हिमज्योति तालुकदार का 'केलेंडर' और रीमा दास के 'विलेज रॉकस्टार' को विशेष ख्याति मिलती है। 'केलेंडर' बुढ़ापे की मजबूरी का मार्मिक चित्रण है, तो 'विलेज रॉकस्टार' में दरिद्र असमिया गाँव के बचपन की आकांक्षाओं एवं तृप्ति की छोटी-सी सीमा का वास्तविक चित्रण किया गया है। 'विलेज 'रॉकस्टार' को ऑस्कर का नॉमिनेशन मिलता है। 2019 ई. में कई असमिया सिनेमाओं को सफलता मिलती है। इनमें से विश्व का सबसे बड़ा नदी द्वीप माजुली के जनजीवन का यथार्थ चित्रण करने वाला 'बरनदी भटियाय' (=ब्रह्मपुत्र बहता जाता है), जुबिन गर्ग का 'कांचनजंघा', रीमा दास का 'बुलबुल कैन सींग' (=बुलबुल गा सकती है), यतीन बरा का 'रत्नाकर', भास्कर हजारिका का 'आमिष' प्रमुख हैं। असमिया ग्राम्य जीवन पर आधारित सिनेमा 'बुलबुल कैन सींग' को असमिया भाषा के वर्ष के श्रेष्ठ सिनेमा का पुरस्कार मिलता है। एक्शन सिनेमा 'रत्नाकर' को व्यावसायिक सफलता मिलती है। 'आमिष' वर्तमान युग के युवाओं के प्रेम की विकृत मानसिकता की एक असाधारण घटना पर आधारित है।

असमिया सिनेमा को समय-समय पर अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। विद्रोही संगठन उल्फा के असम के सिनेमाघरों में हिंदी सिनेमा को निषिद्ध करने के परिणामस्वरूप असम के कई सिनेमाघर एक के बाद एक बंद होने लगे थे। इससे असमिया सिनेमा उद्योग का भारी नुकसान होता है। राज्य सरकार ने 2005-2006 के बजट में असमिया सिनेमाओं के निर्माताओं को 80 प्रतिशत मनोरंजन का कर वापस करने की घोषणा से सिनेमा जगत में आशा की किरण जगती है। इसी तरह मिनी सिनेमाघर के टिकटों में 50 प्रतिशत मनोरंजन टैक्स की छूट की बात कही गई थी। असमिया फिल्म उद्योग को बढ़ावा देने के लिए असमिया फिल्म बनाने वालों को आर्थिक मदद देने के लिए असम राज्य फिल्म (वित्त और विकास) निगम लिमिटेड 2012 ई. से विभिन्न तरीकों को अपना रहा है। यह लिमिटेड असमिया सिनेमा के विकास के लिए विभिन्न रचनात्मक योजनाएँ ले रहा है। लिमिटेड एक मजबूत फिल्म नीति के लिए ब्लू प्रिंट तैयार कर चुका है। यह नीति निश्चित रूप से असमिया फिल्म निर्माताओं को मदद कर रही है और आगे भी मदद करेगी। 2018 ई. को असमिया सिनेमा के विकास के लिए असम राज्य फिल्म (वित्त और विकास) निगम लिमिटेड ने दो दिवसीय कार्यक्रम का आयोजन भी किया। इस तरह अनेक चुनौतियों के बीच असमिया कलाप्रेमी निर्माताओं, निर्देशकों, अभिनेताओं, गायकों एवं दर्शकों की प्रेरणा एवं प्रयास से अनेक चुनौतियों के बीच असमिया सिनेमा विकास की ओर निरंतर अग्रसर हो रहा है।

टिप्पणी

असमिया भाषा में 'स' उच्चारण वाले दो वर्ण हैं- 'च' और 'छ'। असमिया भाषा में 'स' के लिए कोमल 'ह' का उच्चारण होता है। असमिया के 'स', 'च' और 'छ' इन तीनों वर्णों के लिए हिंदी लिप्यंतरण में क्रमश: 'स', 'च' और 'छ' रखे गए हैं। हिंदी भाषा के 'य' वर्ण के लिए असमिया भाषा में दो वर्ण चलते हैं- एक का उच्चारण 'य' ही है और दूसरे का उच्चारण 'ज' होता है। असमिया 'य' के लिए हिंदी में भी 'य' रखा गया

है। असमिया 'य' के 'ज' वाले उच्चारण के लिए लिप्यंतरण में 'य' रखा गया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. बरुआ, शांतनु कौशिक-संक्षिप्त असमिया विश्वकोश-प्रथम खंड-ज्योति प्रकाशन-गुवाहाटी, 2009

2. बरुआ, शांतनुकौशिक-संक्षिप्त असमिया विश्वकोश-प्रथम खंड-ज्योति प्रकाशन-गुवाहाटी, 2009

– सहयोगी अध्यापिका, हिंदी विभाग, गुवाहाटी विश्वविद्यालय, असम

❑❑❑

असमिया सिनेमा को भूपेन हजारिका की देन

पूजा बरुवा

सिनेमा बीसवीं सदी की मानव सभ्यता का एक महत्वपूर्ण आविष्कार है। यह मनोरंजन का एक ऐसा माध्यम है जो सभी वर्ग के लोगों को आकर्षित करने में सक्षम है। सिनेमा केवल मनोरंजन की ही वस्तु नहीं है, कभी-कभी सिनेमा अनेक उपयोगी संदेश का वाहक भी माना जा सकता है। सिनेमा का सबसे बड़ा महत्व इस बात से है कि इसने कई कलाकारों, संगीतकारों, अभिनेताओं तथा अन्य लोगों के लिए कर्मक्षेत्र का निर्माण किया है।

भारतीय सिनेमा जगत में हिंदी सिनेमा पथ-प्रदर्शक की तरह है। हिंदी सिनेमा के अनुकरण से ही अन्य भारतीय भाषाओं में सिनेमा का निर्माण किया गया है। असमिया सिनेमा जगत भी इसी का उदाहरण है। सिनेमा में जिस प्रकार से कहानी आवश्यक है, उसी प्रकार गीत भी आवश्यक है। गीत तो सिनेमा का प्राणस्वरूप है। असमिया सिनेमा की बात हो और भूपेन हजारिका की बात न हो, यह संभव नहीं। असमिया सिनेमा जगत को उनकी देन अतुलनीय है। एक सफल गायक तथा गीतकार तो वे पहले से ही थे, परंतु साथ ही वे एक अच्छे फिल्म-निर्माता भी थे। उन्होंने अनेक फिल्मों में गीत गाए तथा संगीत का निर्देशन भी किया। एक गायक-संगीतकार और सांस्कृतिक कार्यकर्ता के रूप में श्रद्धा से उनका नाम स्मरण किया जाता है। असमिया सिनेमा जगत में भूपेन हजारिका के योगदान का आंकलन हम निम्न बिंदुओं के आधार पर कर सकते हैं-

क. गायक के रूप में

भूपेन हजारिका कवि, गीतकार, फिल्म-निर्माता तो थे ही; पर सबसे पहले वे एक सुप्रसिद्ध गायक थे। उनके लिए संगीत हमेशा उनका पहला प्यार रहा है। वे एक ऐसे गायक थे, जिन्होंने असमिया सिनेमा जगत को कई कालजयी गीत दिए हैं उनके गाने फिल्मों में जान ला देते थे। असमिया सिनेमा उनके गानों के बिना अधूरा है। उनके गीतों में मानव-प्रेम, जातीयता-बोध, समन्वयवाद, प्रेम, प्रकृति, जीवन-बोध, असमिया संस्कृति आदि अनेक विषय सम्मिलित हैं।

सन् 1935 ई. में रूपकोंवर ज्योति प्रसाद आगरवाला ने असम की पहली फिल्म 'जयमती' बनाई थी। भूपेन हजारिका ने फिल्मों में अपने करियर की शुरुआत बाल कलाकार के रूप में की थी। उन्होंने आगरवाला की दूसरी फिल्म 'इंद्रमालती' (1939 ई.) में अभिनय किया था। विलक्षण प्रतिभा के अधिकारी हजारिका ने 10 साल की उम्र में अपना पहला गीत लिखा और गाया था, जिसके बाद उन्होंने कभी पीछे मुड़कर नहीं देखा। उन्होंने 1930 ई. के दशक से 1990 ई. के दशक तक कई असमिया, बांग्ला और हिंदी फिल्मों के लिए गीत लिखें और गाएँ हैं। भूपेन हजारिका असमिया फिल्मों में सबसे अधिक गीत गाने वाले कलाकार हैं। उनके गानों की संख्या कई हजार हैं। उन्होंने समाज, राजनीति, धर्म-संस्कृति, जीवन, प्रकृति आदि सभी पक्षों को लेकर गीत लिखे थे। उनके गीत इतने प्रभावी है कि वे किसी भी वर्ग के लोगों को मंत्रमुग्ध करने में सक्षम है। उनकी पहली फिल्म 'एरा बाटर सुर' (छोड़े हुए पाठ का सुर) के 'सागर संगमत' गाने की कुछ पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं-

सागर संगमत
कतना सातुरिलो

तथापितो होवा नाई क्लांत
तथापि मनर मोर प्रशांत
सागरर उर्मिमाला अशांत
मनर प्रशांत
सागर बक्षत
जोवारर नाइ आजि अंत
अजस्र लहरे नाव-नाव गतिरे आनि दिए आशा अफुरंत
सेयेहे मरन मोर प्रशांत सागरर उर्मिमाला अशांत

(दत्त 1997 : 338)

भावार्थ : सागर संगम में कितना तैर लिया, पर कभी क्लांत नहीं हुआ। फिर भी मेरे मन का प्रसांत सागर अशांत ही रहा। मन के प्रसांत सागर के वक्ष में आज लहरों का कोई अंत नहीं। अनगिनत लहरें फिर से मन में आशा ले आती हैं। इसीलिए मेरे मन का प्रसांत सागर अशांत है।

वे गायक के रूप में अत्यंत लोकप्रिय थे। उन्हें 1991 ई. में अपने गायन कैरियर की गोल्डन जुबली के लिए सम्मानित किया गया था। भारतीय ग्रामोफोन कंपनी ने 1978 ई. में भारतीय संगीत के प्रति उनके उत्कृष्ट योगदान के लिए उन्हें 'गोल्ड डिस्क' से सम्मानित किया था। उनमें हमेशा से ही सामाजिक चेतना बनी रही, यही सामाजिक चेतना वे अपने गानों के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाना चाहते थे। ये गीत उनके प्रसिद्ध प्रेम गीतों के विपरीत हैं। उन गीतों में शोषण, अन्याय, अनीति के प्रति विद्रोह तथा सामान्य जनता के प्रति सहृदयता की अभिव्यक्ति हुई है। 'मणिराम देवान' फिल्म में उनके द्वारा निर्देशित एक गाने में उनका सामाजिक स्वर मुखरित हो उठा है-

राइज नेकांदिबा
तंगालि बांधिचा
यात्रार अंत हय हे हय
.....देशरेइ प्रजा
अन्याय जुजा
सत्य आजि हब जय हे जय।

(दत्त 1997 : 357)

भावार्थ : हे मेरे देश की जनता रोना मत। यात्रा का अंत होने ही वाला है। मेरे देश की प्रजा अन्याय के खिलाफ युद्ध करो, सत्य की विजय अवश्य होगी।

ख. फिल्म-निर्माता के रूप में

भूपेन हजारिका देश के अग्रणी फिल्म निर्माताओं में से एक थे। वे एकमात्र ऐसे व्यक्ति थे, जिन्होंने सिनेमा के माध्यम से आदिवासी संस्कृति सहित सभी उत्तर-पूर्वी राज्यों को एकीकृत करने का प्रयास किया। हजारिका ने असमिया, बांग्ला और हिंदी में कई फिल्मों का निर्देशन किया था। उनके द्वारा निर्देशित सिनेमा की संख्या कुल 9 हैं। उनमें से सात असमिया, एक बांग्ला और एक हिंदी भाषा की है।। उनकी सबसे पहली फिल्म थी 'एरा बाटर सुर'। इस फिल्म ने असमिया सिनेमा को एक नई दिशा दी। उन्होंने इस फिल्म के निर्देशन के साथ-साथ इस फिल्म के गानों का भी निर्देशन किया। इस फिल्म में उनकी पत्नी प्रियंबदा ने भी नृत्य-निर्देशक के तौर पर उनकी सहायता की थी। उन्होंने असमिया भाषा की फिल्मों के लिए गीत लिखें, निर्देशन किया और गीत भी गाए। उनके द्वारा निर्देशित असमिया सिनेमा इस प्रकार हैं- 'एरा बाटर सुर', 'शकुंतला' (1960 ई.) 'प्रतिध्वनि' (1964 ई.), 'लेटि घटि' - परेशानी (1967 ई.), 'चिकमिक बिजुली' - चिकमिक बिजली (1971 ई.), 'मन प्रजापति' (1978 ई.), और 'छिरोज' (1988 ई.)। इन फिल्मों के निर्देशन के साथ ही उन्होंने इनमें संगीत-संयोजन और कंठदान भी किया था। बांग्ला भाषा में उनकी एकमात्र हिंदी फिल्म है। 'माहुत बंधु रे' (1958 ई.)। 'मेरा धरम मेरी माँ' (1977 ई.) उनके द्वारा निर्देशित एकमात्र हिंदी फिल्म है। यह अरुणाचल प्रदेश की पहली रंगीन फीचर फिल्म है। उन्होंने अरुणाचल प्रदेश सरकार के लिए जनजातीय लोक-गीत और नृत्य पर आधारित एक रंगीन डॉक्यूमेंट्री का भी निर्देशन किया था, जिसका नाम था 'फॉर होम द सन् शाइनम' (1974 ई.)। उन्हें 'शंकुतला', 'प्रतिध्वनि' और 'लटिघटि' के लिए क्रमशः 1960 ई., 1964 ई. और 1967 ई. में तीन बार सर्वश्रेष्ठ फिल्म निर्माता के रूप में राष्ट्रपति से राष्ट्रीय पुरस्कार मिला था। सन् 1992 में भारत सरकार ने उन्हें भारतीय सिनेमा में योगदान के लिए सिनेमा का सर्वोच्च सम्मान 'दादा साहेब फाल्के' पुरस्कार से सम्मानित किया था।

भूपेन हजारिका ने असम सरकार के लिए गीत के प्रारूप में 'एमुठि चाउलर काहिनी' (मुट्ठी भर चावल

की कहानी) नामक एक डॉक्यूमेंट्री का निर्माण और निर्देशन किया था। उन्होंने 1977 ई. में कोलकाता दूरदर्शन केंद्र के लिए आधे घंटे की डॉक्यूमेंट्री का निर्माण और निर्देशन किया, जो उत्तर पूर्व भारत के लोक गीतों और नृत्यों पर आधारित थी। उन्होंने असम के पर्यटन को बढ़ावा देने हेतु असम सरकार के लिए पाँच रील की रंगीन डॉक्यूमेंट्री के लिए संगीत बनाया। उन्होंने 1977 ई. में असमिया फिल्म के लिए भारत में सर्वश्रेष्ठ संगीतकार के रूप में राष्ट्रीय पुरस्कार जीता। 2000 ई. में उन्होंने हिंदी फीचर फिल्म 'दमन' के लिए संगीत तैयार किया। 2003 में उन्होंने सुश्री कल्पना लाजमी द्वारा निर्देशित हिंदी फीचर फिल्म 'क्यों' के लिए संगीत तैयार किया।

ग. संगीत निर्देशक के रूप में

भूपेन हजारिका गीत लिखते थे, गाते थे और उनका निर्देशन भी करते थे। वे एक अत्यंत ही प्रतिभासंपन्न संगीत निर्देशक थे। उन्होंने कल्पना लाजमी द्वारा निर्देशित अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पुरस्कृत हिंदी फीचर फिल्म 'एक पल' के लिए संगीत संरचना की थी। सिनेमा और संगीत के माध्यम से जनजातीय कल्याण तथा जनजातीय संस्कृति के उत्थान में उनके उत्कष्ट्र योगदान के लिए 1977 ई. में अरुणाचल प्रदेश सरकार ने उन्हें स्वर्ण पदक से नवाजा था।

भूपेन हजारिका 31 असमिया, 15 बांग्ला और 14 हिंदी सिनेमाओं के संगीतकार रह चुके हैं। उन्होंने जिन असमिया सिनेमाओं का संगीत निर्देशन किया था, उनमें 'बिप्लबी' (विप्लवी), 'सिराज', 'परघाट', 'केचासोण' (कच्चा सोणा), 'एरा बाटर सुर', 'पियलि फुकन', 'शंकुतला', 'धुमुहा' (तूफान), मणिराम देवान, 'प्रतिध्वनि', 'लटि घटि', 'भाग्य', 'चिकमिक बिजुली', 'खोज' (कदम), 'ब्रिष्टि', चामेली मेमसाब', 'काँच घर', 'धर्मकाइ', 'पलाशर रंग', 'बनजुइ', 'नियति', 'मन प्रजापति', 'अपरूपा', 'मयूरी', 'पानी', 'कुँवली' आदि उल्लेखनीय हैं। 'चामेलि मेमसाब' फिल्म के लिए उन्हें सन् 1977 में श्रेष्ठ संगीतकार के रूप में राष्ट्रीय पुरस्कार मिला था।

असमिया के साथ-साथ उन्होंने कई बांग्ला फिल्मों में भी संगीत निर्देशन किया था। उनमें से 'जीवन तृष्णा', 'असमाप्त', 'दुइ बेचारा', 'दंपति', माहुत बंधु रे', 'काला सिंदूर', 'नागिनी कनयर काहिनी' आदि प्रमुख हैं। 'आरोप', 'एक पल', 'रुदाली', 'पपीहा', 'प्रतिमूर्ति', 'दर्मियान', 'गजगामिनी', 'दमन', 'क्यों' आदि हिंदी फिल्मों में भी उन्होंने संगीत निर्देशन किया था। संगीत नाटक अकादमी-नई दिल्ली ने उन्हें भारतीय संगीत के प्रति उत्कृष्ट योगदान के लिए सन् 1987 में सम्मानित किया था। 1993 ई. में जापान में आयोजित एशिया पैसिफिक इंटरनेशनल फिल्म फेस्टिवल में उन्हें अंतरराष्ट्रीय स्तर पर 'रुदाली' फिल्म के संगीत के लिए सर्वश्रेष्ठ संगीत निर्देशक के रूप में सम्मानित किया गया। वे भारत के पहले संगीत निर्देशक थे, जिन्हें यह सम्मान प्राप्त हुआ था।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भूपेन हजारिका कई भाषाओं के ज्ञाता थे। इसीलिए उन्होंने अलग-अलग भाषाओं में गीत गाए हैं। लेकिन वे अधिकतर गीत अपनी मातृभाषा असमिया में ही लिखते एवं गाते थे। उन्होंने पूरे पूर्वोत्तर के लोक-संगीत को दुनिया से परिचित कराया। असमिया सिनेमा के गानों को विदेशों तक फैलाया। उन्होंने असमिया सिनेमा जगत को एक नई ऊँचाई दी। सही अर्थ में वे भारत के सांस्कृतिक राजदूत के समान है। असमिया सिनेमा को उनकी देन अतुलनीय एवं अद्वितीय है। उनकी कला-संस्कृति के प्रति अतुलनीय सेवा के कारण ही भारत सरकार ने उन्हें 2019 ई. में देश का सर्वोच्च नागरिक सम्मान 'भारत रत्न' से नवाजा था।

संदर्भ ग्रंथ सूची

दत्त, दिलीप, भूपेन हजारिका गीत आरु जीवन रथ, पंचम, कोलकाताः श्रीभूमि पब्लिशिंग कंपनी, 1997

– अतिथि अध्यापिका, हिंदी विभाग, गुवाहाटी विश्वविद्यालय, असम

❑❑❑

पारसी रंगमंच और हिंदी सिनेमा का आगाज़

डॉ. कंचन वर्मा

एक कला के रूप में हिंदी सिनेमा ने सौ वर्षों से ऊपर का जो जीवन जिया है, वह शानदार रहा है। इसकी एक सुनहरी विरासत रही है और इस विरासत को बरकरार रखने की जिद्द ही इसे जिंदा रखे है। भारत एक ऐसा मुल्क है जहाँ हर जिंदगी की अपनी एक कहानी है, उसके बेशुमार रंग हैं और यदि इन पर फिल्म बनाई जाए तो आगामी सौ साल भी कम पड़ेंगे। तीन अक्षरों का यह जादुई नाम 'सिनेमा' हर भारतीय को बरसों से लुभाता आया है। पिछले सौ सालों से हमारे यहाँ मनोरंजन के कई साधन यथा- नौटंकी, कव्वाली, सर्कस आदि रहे हैं, लेकिन सिनेमा का जादू आज भी बरकरार है। बदलते समय के साथ इसका अंदाज़ बदला है, लेकिन इसकी कशिश आज भी बरकरार है।

हिंदी सिनेमा की यात्रा बड़ी दिलचस्प रही है। आज सिनेमा ने एक नई करवट ली है कथा, गीत, संगीत, अभिनय, निर्देशन सभी क्षेत्रों में कुछ न कुछ नया दिखाई देता है। यह अनायास नहीं हुआ है। दरअसल, सिनेमा का विस्तार लेता यह संसार कई मोड़ों से गुज़रा है। हिंदी सिनेमा की परंपरा को पारसी रंगमंच के उदय के साथ जोड़कर देखा जाता रहा है।

उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें-आठवें दशक से पारसी नाटक का प्रारंभ होता है। पहले पहल मुंबई से पारसियों ने विदेशी नाटकों को देखकर शौकिया तौर पर नाटक खेलना शुरू किया। शीघ्र ही उनकी व्यावसायिक बुद्धि ने यह भाँप लिया कि इससे काफी पैसा बनाया जा सकता है और इसे एक व्यवसाय के रूप में अपना लिया। प्रारंभ में गुजराती, उर्दू और मराठी नाटकों के मंचन से कोई खास सफलता नहीं मिली। मुंबई के बहुभाषी दर्शकों को आकृष्ट करने के उद्देश्य से विक्टोरिया नाटक मंडली ने 'सोने के मूल की खुरशीद' (1871 ई.)नामक हिंदी-उर्दू नाटक खेला और आशातीत सफलता प्राप्त की। अच्छी आमदनी होने के कारण इसी माध्यम से नाटक करना प्रारंभ कर दिया। लगभग आधी शताब्दी तक इस व्यावसायिक रंगमंच ने अपना खूब रंग जमाया और करोड़ों की तादात में दर्शकों को तैयार किया। पारसियों द्वारा प्रारंभ किए जाने के कारण इसका नाम 'पारसी रंगमंच' पड़ा लेकिन साथ ही मराठी, गुजराती, हिंदी, उर्दू, तमिल, तेलुगु, कन्नड भाषी रंगकर्मियों का भी पूरा सहयोग इस रंगमंच को था। पारसी थियेटर का मॉडल इंग्लैंड का विक्टोरिया थियेटर था और इसे ही आधार बनाकर इसकी परिकल्पना बहुत कुछ प्रोसिनियम थियेटर के रूप में की गई थी। भारतीय लोक नाटकों और यूरोपीय नाटकीय तकनीक का मिला-जुला रूप था पारसी रंगमंच। विद्यावती नम्र के अनुसार, "पारसियों ने अपना रंगमंच शेक्सपीरियन रंगमंच के आधार पर भारतीय रंगमंच के उपयुक्त निर्मित किया था। नाटकों में रस के स्थान पर कथा-वैचित्र्य ही मनोरंजन का माध्यम था।"[1]

मनोरंजन कर पैसा कमाना ही मुख्य उद्देश्य होने के कारण मनोरंजन का हर संभव तत्व इन नाटकों में शामिल था। प्रारंभ में जो नाटक उपलब्ध थे उन्हें ही मंचित किया गया लेकिन बाद में कंपनी के निजी

नाटककारों ने नाटक लिखना प्रारंभ किया। लखनऊ के आखिरी नवाब वाजिद अलीशाह के नाटक 'राधा कन्हैया का किस्सा' (1843) और अमानतकृत 'इंदरसभा' (1953) में मनोरंजन के इन सभी तत्वों का प्रयोग होने के कारण ये पारसी थियेटर के आरंभिक प्रेरणा स्रोत बने। कहानी, संवाद, गीत-संगीत, नृत्य से भरपूर मनोरंजन की यही वो परंपरा थी जो पारसी थियेटर को विरासत में मिली थी। पहले पहल पारसी रंगमंच पर अंग्रेजी नाटकों के रूपांतरण मंचित हुए। तत्पश्चात् गुजराती, उर्दू-हिंदी नाटक खेले गए। पारसी रंगमंच से ही पारसी-गुजराती, पारसी-उर्दू, पारसी-मराठी का एक साथ अर्थ बोध होता है। 'पारसी रंगमंच' केवल इसलिए कहा गया क्योंकि इन कंपनियों के मालिक मूलतः पारसी ही हुआ करते थे। थियेटर कंपनियों के नाम ज्यादातर अंग्रेजी में हुआ करते थे। सर्वप्रथम, सेठ पिस्टन जी फ्राम जी ने ओरिजनल थियेट्रीकल कंपनी (1870) की स्थापना की। बालीवाला की विक्टोरिया नाटक कंपनी और कावसजी की अल्फ्रेड थियेट्रीकल कंपनी अपने ज़माने की प्रसिद्ध कंपनियाँ थीं। देखते ही देखते कई कंपनियाँ अस्तित्व में आ गईं।

अपने प्रारंभिक दौर में पारसी थियेटर पर इश्क और हुस्न का बोलबाला रहा। पारसी कंपनियाँ जनता का केवल सस्ता मनोरंजन कर पैसा कमाने के उद्देश्य से ही नाटक खेलती थीं। व्यावसायिक उद्देश्य के कारण ही इन्हें मेले-ठेलों में बुलाया जाता था। चूँकि ये व्यापारी थे इसलिए जनता को वही दिखाते तो उसे पसंद होता था। जब जनता का मन भक्ति में रमा तो इन्होंने रामायण, महाभारत पर आधारित नाटक खेलने शुरू कर दिए। मतलब यह जो बिक सकता है, उसे बेचा और धन कमाया। इन्होंने राष्ट्रीय और पुनरुत्थानवादी नाटक भी मंचित किए जिसे जनता द्वारा खूब सराहा गया। व्यावसायिक दबावों के भीतर 'बॉक्स ऑफिस' की सफलता के फार्मूलों के आधार पर नाटकों की रचना की गई। दर्शकों की माँग के अनुरूप अपने सोच-विचार और भाव को ढालकर धन तथा शोहरत प्राप्त किया। लेकिन आगे चलकर आगा हश्र कश्मीरी, नारायण प्रसाद बेताब तथा राधेश्याम कथावाचक जैसे नाटककारों ने धार्मिक, पौराणिक तथा सामाजिक नाटकों के लेखन/मंचन से पारसी रंगमंच को एक नई दिशा दी। इनके अलावा कृष्णचंद ज़ेबा, तुलसीदत्त शैदा, हरिकृष्ण जौहर, श्रीकृष्ण हसरत आदि लेखक इन्हीं कंपनियों की देन हैं।

पारसी रंगमंच पर खेले जाने वाले नाटकों के चुनाव में मुख्य रूप से उसकी लोकप्रियता, अधिक से अधिक धनोपार्जन तथा चमत्कार आधार होते थे। यह चमत्कार कहानी के प्लॉट, तुकबंदी, संवाद, वेशभूषा, सेट तथा दृश्य-दृश्यांतर की नवीनता से था। झाँकियाँ (टेबलॉ) इसी चमत्कार का परिणाम थीं। नए सीन-सीनरी से युक्त नाटक जो दर्शकों को अभिभूत कर दे यही दिखाना उद्देश्य था। प्रत्येक अंक के अंत में ड्रॉपसीन होता था। इस प्रकार से भीड़ इक्ट्ठी करने के तरीकों को निरंतर खोजा जाता था। चमत्कृत करने वाले कथानक, अतिनाटकीयता, काव्यात्मक शैली, तड़कते-भड़कते संवाद, भव्य सेट, चमकीले परदों पर दर्शकों को भावविभोर करने का गुण इनके नाटकों में विद्यमान थे।

कथावस्तु मुख्यतः धार्मिक, पौराणिक, मध्ययुगीन किस्से, शेक्सपियर के ड्रामों के प्लॉट से लिए जाते थे। अधिकांश नाटकों के विषय सत्य, धर्म, त्याग, वीरता, प्रेम आदि होता था। मनोरंजन प्रधान प्रेमकथाएँ ज्यादा पसंद की जाती थीं। पूरा वातावरण रोमानियत भरा होता था जहाँ नायक-नायिका के मिलन से नाटक का प्रारंभ होता था। प्रेम और विवाह में धर्म, वर्ग, वर्ण की रुकावटें, पारिवारिक-कलह के बाद प्रेम की प्राप्ति, बीच में युद्ध, दैवीय घटनाओं, चमत्कारिक दृश्यों के माध्यम से उद्देश्य पूर्ति- इस प्रकार के दृश्य कथानकों में भरपूर मात्रा में पाए जाते थे जिससे कथानक में आकस्मिकता उत्पन्न की जाती थी। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल के शब्दों में, "हर दृश्य के अंत में 'वंस मोर' की पुकार जब तक दर्शक समाज में न हो जाए, तब तक न नाटक श्रेष्ठ माना जाता, न अभिनेता, न रंगशिल्पी, न गायक, न नर्तक।"[2] समय तथा दर्शकों की माँग के अनुसार नाटक मंचित किए जाते थे अथवा बने-बनाए नाटकों में प्रसंग जोड़ दिए जाते थे। पहले नाटक के साथ एक प्रहसन होता था जिसका मूल कथा से कोई संबंध नहीं होता था। प्रहसन के पात्र प्रायः चापलूस नौकर, बददिमाग बीवी, अय्याश बिगड़ैल बेटा, कंजूस बूढ़ा आदि होते थे। प्रायः वर्जित दृश्य, इन प्रहसनों में स्वाभाविक रूप से दिखाए जाते थे। हँसी-ठिठोली, छेड़छाड़, हास्यास्पद घटनाएँ मुख्य होती थीं। हास्य प्रायः अश्लील, भद्दा और अशिष्ट होता था। इसका उद्देश्य गंभीर प्रसंगों के बीच राहत देने के अलावा दूसरे दृश्य

के प्रारंभ पूर्व मंच सज्जा भी करना होता था। कभी-कभी दूसरे नाटककारों के लिखे प्रहसन भी गंभीर कथानक के साथ जोड़ दिए जाते थे। नाटककार दो स्वतंत्र कथानकों की योजना भी करते थे। पहला, मुख्य और गंभीर कथानक तथा दूसरा, गौण और हास्यपूर्ण। ऐसे कथानक आगा हश्र ने लिखने शुरू किए। साथ ही हास्य और व्यंग्य मूल कथानक के पात्रों के संवाद में ही दिए जाने लगे। आगा हश्र कृत 'सिल्वर किंग' नाटक इसका उदाहरण है। पारसी नाटककारों ने इस बात का ध्यान रखा कि आम-दर्शक किस तरह की भाषा समझते हैं साथ ही नाटक की कथावस्तु के हिसाब से भाषा का कौन सा रूप अधिक उपयुक्त होगा। नाट्य भाषा के बारे में पारसी रंगमंच के नाटककारों की क्या राय थी, बकौल नारायण प्रसाद 'बेताब'

न ठेठ हिंदी, न खालिस उर्दू/ज़बान गोया मिली-जुली हो
अलग रहे दूध से न मिश्री/डली-डली में घुली मिली हो।

बेशक कहा जा सकता है कि हिंदी भाषा के कुशल प्रयोग ने इस रंगमंच को और व्यापक जनाधार दिया। पारसी रंगमंचीय भाषा तान-अनुतान और लय से युक्त है। छोटे-चुटीले सजीव और प्रभावोत्पादक संवाद इन नाटकों की जान हैं। बोधगम्यता इन नाटकों की पहली शर्त है। इसकी यही लोकप्रिय भाषा आगे चलकर हिंदी सिनेमा की भाषा बनी। इसने किसी भी भाषा अथवा बोली के शब्दों को अपनाने से किसी भी प्रकार का परहेज नहीं किया। संवाद के बीच-बीच में शायरी, ग़ज़लें, तुकबंदी खूब चलती थीं। संवाद पद्यात्मक तथा तुकांत होते थे। अति आवेगपूर्ण संवाद भीड़ इकट्ठा करने में सहायक होते थे। कथानक, संवाद, भाषा तथा अभिनेयता नाटक को लोकप्रिय बनाते थे।

नाटककार पारसी रंगमंच का महत्वपूर्ण घटक था। इसका निर्देशक तथा व्यवस्थापक के साथ पूर्ण तालमेल होता था। चूँकि पारसी रंगमंच पूर्णतः व्यावसायिक था इसलिए नाटककार इस बात का पूरा ध्यान रखता था कि दर्शकों को कैसे बांध कर रखा जाए। इसलिए नाटकों में चटपटे गीत, फड़कते संगीत, बेहतरीन नृत्य, रोमांचपूर्ण दृश्य तथा शेरो-शायरी का खूब प्रयोग होता था। चूँकि दर्शक को चमत्कृत करना एकमात्र उद्देश्य होता था अतः उसकी पसंद-नापसंद को ध्यान में रखते हुए कथा, दृश्य संवाद लिखने पड़ते थे। इतना ही नहीं उसे निर्देशक तथा व्यवस्थापक की मर्जी-से भी फेर-बदल करना पड़ता था।

निर्देशक पारसी रंगमंच पर सर्वेसर्वा था लेकिन कई जगह पर उसे प्रबंधक के अनुरूप काम करना पड़ता था। निर्देशक की पसंद से ही नाटक का चुनाव और उसमें संशोधन होता था। नाटककार के साथ ही संगीत-निर्देशक, सीन-सीनरी निर्माता तथा अभिनेता भी निर्देशक की निगरानी में काम करते थे। व्यावसायिक रूप से वह निर्देशक सफल माना जाता था जिसकी ज़्यादातर प्रस्तुतियाँ होती थीं और जनता की वाह-वाही मिलती थी। नाटक से लौटते हुए दर्शक मंत्रमुग्ध हो जाता था और बार-बार नाटक देखने आता था।

अभिनेता का मुख्य कार्य दर्शकों की भावनाओं और कल्पनाओं को मंच पर जीवित रखने की थी। इस बखूबी से अभिनेता चरित्र को प्रस्तुत करता था कि दर्शक मंत्रमुग्ध हो जाएँ। कथा के अनुरूप ही उसकी अभिनय क्षमता दिखाई देती थी। उसे चरित्र के लिए विशिष्ट रूप से प्रशिक्षित किया जाता था। सुंदर चेहरा और अच्छी कदकाठी के अलावा गाना-नाचना तथा तलवारबाज़ी का ज्ञान आवश्यक था। शेरों-शायरी में निपुणता के कारण वह अवसर अनुरूप इसका प्रयोग करता था और इस कदर दर्शकों को आह्लादित कर देता था कि 'वंस मोर' की आवाज़ से पूरी रंगशाला गूंज जाती थी। कुछ अभिनेता अपने अभिनय के कारण इतने प्रसिद्ध थे कि नाटक की प्रसिद्धि में चार चाँद लग जाते थे जैसे-सोहराब जी, आगा महमूद, मास्टर फिदा हुसैन, मास्टर नैनूराम, मिस गौहर, मेरी फेंटन, पेशंस कूपर, जहाँआरा बेगम आदि। नामी कलाकारों को कंपनी को वेतन भी अधिक देना पड़ता था। जैसा कि होता था स्त्री पात्रों का अभिनय प्रारंभ में छोटे लड़के करते थे। भाई राजल के नाम से विख्यात अभिनेत्री एकमात्र अभिनेत्री थी जो पुरुष पात्र के अभिनय के लिए प्रसिद्ध हुई। लेकिन स्त्रियों को पहली बार मंच पर प्रवेश देने का श्रेय पारसी रंगमंच को ही जाता है। कावस जी खटाऊ ने अभिनय में स्वाभाविकता लाने की दृष्टि से सर्वप्रथम मेरी फेंटन को रंगमंच पर प्रस्तुत किया। एक अच्छी कंपनी के पास सौ से डेढ़ सौ तक कलाकार होते थे। बड़ी कंपनियों के पास छत्तीस सखियों की टोली होती थी जो बारह-बारह के ग्रुप में नाचती और

पार्ट करती थी। कोरेंथियन थियेट्रीकल कंपनी के पास सबसे अधिक नाचने-गाने वाली स्त्रियाँ थीं। अलेक्जेंड्रा थियेट्रीकल कंपनी अपने समय की सबसे चमक-दमक वाली कंपनी थी।

पात्र अपनी भूमिका के अनुसार ही वस्त्र तथा साज-सज्जा का चुनाव करते थे। वेशभूषा दर्शकों को आकर्षित करने वाली, उनमें चाहत पैदा करने वाली होती थी। वे चमकीले-भड़कीले वस्त्राभूषण धारण करते थे। चेहरे को दिलकश बनाने के लिए मेकअप का भरपूर उपयोग किया जाता था। गीत-संगीत-नृत्य पारसी रंगमंच का अहम् हिस्सा रहे हैं। गानों की मात्रा इन नाटकों में अधिक है। ये ज़्यादातर तुकबंदियाँ हैं जो किसी न किसी तर्ज पर बैठा दी गई हैं। उर्दू लेखकों ने अधिकतर ग़ज़लों का सहारा लिया। तड़कते-फड़कते गीत-संगीत पर किए गए नृत्य जनता में बेहद लोकप्रिय हुए। गीतों का प्रयोग रंगमंच पर उपस्थित पात्रों को कोई विशेष सूचना देने के लिए होता था या दर्शकों पर विशेष प्रभाव डालने के लिए। कुछ गीत बैक ग्राउंड में गाए जाते थे जिसके सहारे कहानी आगे बढ़ती थी। प्रेमगीत, शोकगीत, उपदेशात्मक गीत, ऋतुगीत, लोकगीत इत्यादि गीतों द्वारा नाटकों को रुचिपूर्ण बनाया जाता था। अभिनेता की मनोदशा का चित्रण गीतों से बखूबी होता है। इसी से हास्य-विनोद का समा बँधता था और प्रेम उद्गार तथा प्रेम प्रसंगों की चर्चा आगे बढ़ती थी। घोर पश्चाताप तथा अश्रु से भरे गीत मन की अतल गहराईयों को छू जाते थे।

भव्य साज-सज्जा से युक्त पारसी रंगमंच में अपने दर्शकों को अभिभूत करने की क्षमता थी। चटख, शोख रंगीन परदों का प्रयोग मंच को आकर्षक बनाने के साथ ही चमत्कारी दृश्यों को प्रस्तुत करने के लिए किया जाता था।

मंच पर आखिरी में एक चटक रंग का पर्दा टंगा होता था जो नाटक की पृष्ठभूमि का कार्य करता था। मुख्य नाटक में जहाँ पर्दों का प्रयोग विस्तृत था वहीं प्रहसन/ कॉमिक को एक ही चित्रित पर्दे के आगे प्रदर्शित किया जाता था। चमत्कारिक दृश्यों जैसे- देवों का आकाश से अवतरित होना, असुरों का गायब होना, परियों का ज़मीन पर उतरना, पुष्पक विमानों का उड़ना, सिंहासन हिलना, देवी-देवता का अंतर्धान या प्रकट होना आदि दृश्यों के मंचन के लिए जटिल यंत्रों का प्रयोग होता था। लंदन के रंगमंचों पर इस प्रकर के उपकरणों का प्रयोग तब काफी होता था।

शहरों और कस्बों में नाटक कंपनी के आने से कई सप्ताह पहले से ही प्रचार कार्य शुरू हो जाता था। बड़े-बड़े रंगीन इश्तिहार लग जाते थे जिन पर नाटक का मुख्य तत्व एक-आध पंक्ति में दर्शकों में जिज्ञासा उत्पन्न करने के लिए लिख दिया जाता था जिसे आज की भाषा में 'टैगलाईन' कहा जाता है। जनता में लालसा पैदा की जाती थी ताकि वे ज़्यादा से ज़्यादा तादात में आकर नाटक देख सकें। जैसे- 'डाकू जो संत बन गया', 'राजकुमारी जिसने लंगड़े भिखारी से ब्याह किया', 'पहली बार अंग्रेज़ मेमों के डाँस', 'कलकत्ते की जादूगरनियाँ', 'फारस की हूरें', 'तूरान की कमसीने' इत्यादि। यह ट्रेलर या प्रोमों का प्रारंभिक रूप था जो कंपनी अपने नाटकों के लिए किया करती थी। पोस्टर पर अभिनेता/अभिनेत्री के अलावा प्रसिद्ध नाटककार का जिक्र भी होता था। गाने-बजाने के साथ निकाला गया जुलूस और जोकरों के करतबों की झलकियाँ भी दिखाई जाती थीं।

इन नाटकों के दर्शक प्रायः निम्न वर्ग या अनपढ़ किस्म के लोग होते थे जिनकी संख्या हज़ारों में थी। एक अलग ढंग से मनोरंजन की माँग करने वाले दर्शक वर्ग को पारसी रंगमंच ने जो दिखाया, जनता ने उसे वैसे ही स्वीकार कर लिया। हालांकि कुछ बौद्धिक वर्ग के दर्शक (भारतेंदु, प्रमथदा, डॉ. थीबो) भी थे जो इनके द्वारा मंचित फूहड़ प्रसंगों का विरोध भी करते थे।

यह अतिश्योक्ति नहीं कि हिंदी सिनेमा की विरासत पारसी रंगमंच है। सिनेमा में अपनी बात/कहानी कहने के लिए फिल्म निर्माण के तकनीकी पहलुओं पर निर्भरता ज़्यादा होती है। अलंकरण पर ध्यान ज़्यादा दिया जाता है। जिसकी चमक-दमक से दर्शक सिनेमाघरों तक खिंचा चला जाता है। लोकप्रिय सेट हिंदी सिनेमा के इन अलंकरणों में गीत, संगीत, नृत्य, दृश्यांकन, भव्य एक्जॉटिक लोकल्स की महत्वपूर्ण भूमिका है और बहुत सी फिल्में इसी लोकप्रियता के बल पर कामयाब होती हैं। गीत-संगीत-नृत्य में पिरोई कथा जनता को लुभाती है।

हिंदी सिनेमा के प्रारंभिक दौर में तकरीबन उन सभी विषयों/कथाओं पर फिल्म अपने खास-अंदाज़ में निर्माताओं द्वारा बनाई गई जो पारसी रंगमंच पर काफी

धूम मचाए थी। पंडित भूषण द्वारा लिखित ज़ालिम सौदागर (1941) राधा फिल्म कंपनी, कलकत्ता द्वारा बनाई गई। इस फिल्म में अभिनय किया, खलील कज्जन, रानी प्रेमलता और हैदर बांदी ने। 'हठीली दुल्हन' (1932) का निर्माण कज्जन, रानी प्रेमलता और हैदर बांदी ने। 'हठीली दुल्हन' (1932) का निर्माण शेक्सपीयर के नाटक 'द टेमिंग ऑफ द श्रू' पर आधारित था। रुस्तम मोदी ने 'पाक दामन या शहीद-ए-नाज' (1940) का निर्माण किया जो आगा हश्र कश्मीरी द्वारा शेक्सपियर के नाटक 'मेजर फॉर मेजर' का रूपांतरण था। 'खून का खून' (1935) फिल्म सोहराब मोदी ने शेक्सपियर के नाटक हैमलेट पर बनाया जो रूपांतरण था। ताज पिक्चर्स ने 'जनमुरीद' अथवा 'काफिर-ए-इश्क' फिल्म बनाई जो पारसी रंगमंच पर 'काली नागिन' या 'जन-मुरीद' के नाम के मंचित हुआ लोकप्रिय नाटक था। आगा हश्र कश्मीरी के हैमलेट के रूपांतरण पर सौहराब मोदी ने 'सैद-ए-हवस' (1936) नामक फिल्म और स्वयं कज्जल बेग की भूमिका निभाई। इसके साथ ही शुरुआती दौर में फिल्मकारों ने धार्मिक-पौराणिक कहानियों को ही फिल्म बनाने के लिए चुना।

देश की पहली मूक फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' (1913) और पहली बोलती फिल्म आर्देशीर इरानी की 'आलम आरा' (1931) इन्हीं विषयों पर आधारित फिल्में थीं। धार्मिक फिल्मों के शुरुआती दौर में सैय्यद फत्तेलाल ने प्रभात कंपनी के लिए 'जगतगुरु शंकराचार्य' व 'संत तुकाराम' फिल्में बनाईं। पारसी होमी वाडिया ने 'संपूर्ण रामायण', 'रामभक्त हनुमान', 'पाताल विजय', 'गणेश महिमा' फिल्में बनाईं तो अब्दुल गफ्फार व अब्दुल करीम ने 'अयोध्यापति' व 'रामायण' आदि फिल्में। 'सती अनुसूया' के लेखक अहसान रिजवी थे। रज्जन मियां फिल्म 'पूरन भगत' के हीरो थे। फिल्म 'द्रौपदी' में द्रौपदी का अभिनय किया जैबुन्निसा ने। इस समय की उल्लेखनीय फिल्में थीं- 'आलम आरा', 'उदयकाल', 'यहूदी की लड़की', 'एक दिन का बादशाह', 'भाई या कसाइ', 'भिखारी', 'खून का खून', 'अल हिलाल', 'हंटरवाली' आदि।

फिल्म 'आलम आरा' में बारह गीत, 'लैला मजनू' में चौबीस तथा 'विश्वमोहिनी' में सोलह गाने थे। सन् 1931 में सत्ताइस फिल्में बनीं जिनमें से बाईस हिंदी भाषी थीं। मूक फिल्मों के दौर में देश में एक-तिहाई सिनेमाघर मदन थियेटर कंपनी के मालिक जगदीश जी फ्रामजी मदन के थे। पारसी नाटकों की तरह ही फिल्म भी एक फायदे का सौदा साबित हुआ जिसने खूब कमाई की। उसी समय सत्तर हज़ार रुपए की लागत से बनी फिल्म 'किस्मत' (1944) ने एक करोड़ रुपए की आमदनी की। इन फिल्मों की लोकप्रियता का अंदाजा इस बात से भी होता है कि कोई फिल्म कितनी चली। प्रभात टॉकीज की 'अमृतमंथन' पहली हिंदी फिल्म थी जिसने सिल्वर जुबली मनाई। बाबूराव पेंटर ने अपनी फिल्म 'वत्सलाहरण' (1920) की पब्लिसिटी के लिए पहली बार सिनेमा पोस्टर जारी किया।

हिंदी सिनेमा ने कथावस्तु के रूप में कच्चा माल पारसी रंगमंच के नाटकों से लिया। उसके आधारभूत ढाँचें तथा कथात्मक संरचना में सिनेमा ने कभी कुछ जोड़ा तो कभी कुछ छोड़ा। इस प्रकार एक ऐसा कथात्मक मिश्रण तैयार किया जो लोगों की पसंद के अनुरूप था। फिल्मकारों ने हमेशा नवीन पृष्ठभूमि तथा आकर्षक स्थान यथा- संपन्न शहर, मनोरम स्थल, वन, टापू, तटीय स्थलों का चयन पृष्ठभूमि के रूप में किया जिससे कथानक में चित्रित सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन के ऐश्वर्य तथा वैभव का चित्रण हो सके। जनता के मनोरंजन तथा पसंद को ध्यान में रखते हुए कल्पना का समायोजन, मानवीय भावनाओं का सघन चित्रण, नारी प्रेम आदि को बखूबी स्थान मिला है। कथानक को आगे बढ़ाने में छद्म वेश, पूर्वदीप्ति शैली, विरोध तथा आश्चर्य, अंत में रहस्योद्घाटन, पात्रों को छिपाकर रखना जैसी युक्तियों का प्रयोग शेक्सपियर से पारसी रंगमंच और वहाँ से हिंदी सिनेमा में आया।

पारसी रंगमंच के समान ही फिल्मों के कथानक में भी परिवर्तन होते रहे हैं जैसे- सांप्रदायिकता, राजनीति, अशिक्षा, प्रेम विवाहेतर संबंध, लेकिन इनका उद्देश्य दर्शकों की नब्ज़ टटोलना नहीं बल्कि मुद्दों को भुनाकर पैसा कमाना रहा। एक लड़का-एक लड़की के बीच धर्म, जाति, वर्ग, वर्ण, ईमान और गुरूर की दीवारें। आठ गाने, चार फाइटिंग सीन, थोड़ा अतीत, थोड़े आँसू-थोड़ी हँसी और सामने ठगा सा दर्शक इन सबको मिलाकर बनती हैं हिंदी फिल्में। सिनेमा की तकनीकी कुशलता,

सेटों की भव्यता, अभिनेत्रियों के रूप और तेवर का झटका, स्टंट और कैमरे की अवाक् कर देने वाली कलाबाज़ियाँ ये सब मिलकर सिनेमा को अप्रतिम बनाते हैं। आज दर्शक मनपसंद कलाकार का बगावत, नाच-गाने और ठुमके, हर एक फाइट सीन और डांस मूव पर तालियों की बौछार है, लव सीन पर सीटियाँ हैं- रोमांच और रोमांच का यह मसाला जो आज की हिंदी सिनेमा में है वह पारसी रंगमंच से भिन्न नहीं। लाखों की लागत में बनने वाली फिल्में अब करोड़ों में बनती हैं और इसी के अनुरूप सितारों का पारिश्रमिक भी तय होता है।

पारसी रंगमंच की ही तरह फिल्म भी ऐसा माध्यम है जो किसी एक व्यक्ति की सर्जनात्मकता और कौशल के बलबूते पर नहीं चल सकती। एक सामूहिक कला होने के नाते अलग-अलग क्षेत्रों में प्रवीण व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। परसी रंगमंच की तरह फिल्म निर्माण में भी बहुत अधिक पूंजी की ज़रूरत रही है और इनकी पहचान आरंभ से ही उन कंपनियों से होती रही है जो इसे बनाती हैं। जैसे-बॉम्बे टाकीज़, महबूब स्टूडियो, प्रभात फिल्म, मिनर्वा मूवीटोन आदि। इनमें से कई कंपनियाँ अभिनेताओं, सिनेमेटोग्राफर, निर्देशकों को मासिक वेतन पर रखती हैं और वे अपने मालिक का हुक्म बजाते हैं। आज का हिंदी सिनेमा जनता में काफी लोकप्रिय है जिसका एकमात्र मकसद पैसा कमाना है।

हिंदी सिनेमा सही मायनों में पारसी रंगमंच का प्रतिनिधित्व करता है। आज हिंदी फिल्मों की भाषा आम आदमी के दिल से सीधे जुड़ती है जिसमें न तो हिंदी की संस्कृतनिष्ठता है और न ही उर्दू का फारसीपन। हिंदुस्तानी ज़बान की इस ताकत ने एक नया बृहत दर्शक वर्ग ही नहीं तैयार किया बल्कि उन कई निर्देशकों को भी मौका दिया जिससे वे आम जनता का मनोरंजन कर सके। हिंदी सिनेमा के साथ गैर हिंदी कलाकारों का एक बड़ा समूह फिल्म निर्माण के एक बड़े क्षेत्र में, पटकथा लेखन, छायांकन, संपादन, संगीत, गीत, निर्देशन, अभिनय में देखा जा सकता है। इस लोकप्रिय माध्यम में कई तरह के फिल्मकार हैं। सिनेमा को कलारूप में मानने वाले भी हैं तो वे भी हैं जिनके लिए यह महज़ पैसा कमाने और रातों-रात अमीर बनने का एकमात्र ज़रिया है। सिनेमा में कहानी को प्रभावशाली ढ़ंग से प्रस्तुत कर बड़ी कमाई करना ही निर्माताओं का मकसद होता है और इसके लिए मौजूद सभी उपकरणों और तकनीकों का वह जमकर उपयोग करता है।

पारसी रंगमंच से जुड़े नाटककार प्रारंभिक सिनेमा से जुड़े और पटकथा लेखन (आगा हश्र, बेताब, राधेश्याम कथावाचक) और निर्देशन (आगा हश्र) का काम भी किया। इन नाटक कंपिनयों को चलाने वाले कई मालिकों ने फिल्म निर्माण भी किया। इस प्रकार 'रुस्तम सोहराब' और 'यहूदी की लड़की' से आगे चलकर पारसी रंगमंच ने हिंदी सिनेमा में भी अपना स्थान बनाया। नाटकों को मनोरंजक और रोचक बनाने के लिए हर नए कदम उठाए जाते, नए प्रयोग किए जाते ताकि दर्शक इन्हें पसंद करें और व्यवस्थापकों की कमाई होती रहे। जाने-अंजाने एक ऐसी रंगशैली विकसित हुई जिसका प्रभाव आने वाले समय में नाटकों पर तो पड़ा ही साथ ही प्रारंभिक सिनेमा भी अछूता नहीं रहा। पारसी रंगमंच सिनेमा के आने के एक दशक बाद तक बना रहा लेकिन सिनेमा की अभूतपूर्व लोकप्रियता ने इसे गुमनामी के अंधेरे में ढकेल दिया। फिल्मों के अस्तित्व में आने से पहले जिन दर्शकों के लिए पारसी नाटक खेले जाते रहें वही जनता आगे जाकर फिल्मों के दर्शक बने। कहना न होगा कि पारसी रंगमंच की यह व्यावसायिक परंपरा हिंदी सिनेमा का आधार बनी और इसी नमूने पर, थोड़े-बहुत फेरबदल के साथ आज भी बनाई जा रही हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. विद्यावती नम्र, हिंदी रंगमंच और पंडित नारायण प्रसाद बेताब, पृष्ठ 43

2. लक्ष्मीनारायण लाल, पारसी हिंदी रंगमंच, राजपाल एंड संस, पृष्ठ 78-80

– सी-1/1103, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070

❑❑❑

मलयालम सिनेमा की विकास यात्रा

डॉ. धन्या. एल

सिनेमा इस समय जनसंचार का सर्वाधिक लोकप्रिय व शक्तिशाली माध्यम है। नई प्रौद्योगिकी ने इस जन संचार-माध्यम में गुणात्मक परिवर्तन किए हैं। पिछले दशक में विश्व धरातल पर 'इलेक्ट्रानिक-मीडिया' ने अपने व्यापक पंख पसारे हैं। एक नई 'कल्चरल इंडस्ट्री' तेजी से उभरकर हमारे सामने वामन से विराट आकार में उपस्थित हो गई है।

क्षेत्रीय भाषा की फिल्मों में मलयालम सिनेमा की श्रेष्ठता निर्विवाद मानी जाती है। राम कारियात, जी. अरविंदन, अटूर गोपालकृष्णन, शाजी एन. करुण, जॉन अब्राहम, एम. टी वासुदेवन नायर जैसी फिल्मी हस्तियों को जन्म देने वाले मलयालम सिनेमा ने लगातार बेहतर फिल्मों का निर्माण कर अपना सर्वश्रेष्ठ स्थान बनाए रखा है। सन् 1906 में तिरुच्चिरापल्ली के एक रेलवे कर्मचारी पॉल विन्स्न्ट ने कोषिकोट में बायोस्कॉप् द्वारा एक चित्र प्रदर्शन किया। फिर वे तृशूर आ गए, वहाँ काट्टूर निवासी वारूण्णी जोसफ़ इस बायोस्कॉप प्रदर्शन में आकृष्ट होकर पॉल विन्स्न्ट से बायोस्कॉप, प्रोजक्टर एवं फिल्मों को खरीदकर 'जोस् बायोस्कॉप' नाम से चित्रों का प्रदर्शन किया था। 'एडीपोलो किड् ऑफ द सरक्स्' आदि अंग्रेजी फिल्मों तथा 'कालिया मर्दन', 'हरिश्चंद्र' आदि भारतीय सिनेमाओं का प्रदर्शन भी इसी काल में वारुण्णी ने किया। दो व्यक्तियों के साथ मिलकर वारुण्णी जोसफ ने 'रॉयल एक्सिबिट्र्से' नामक एक नई सिनेप्रदर्शन कंपनी शुरू की।

सन् 1928 में मलयालम की पहली मूक फिल्म 'विगतकुमारन' का निर्माण कन्याकुमारी (कन्याकुमारी उस समय ट्रावनकूर रियासत का भाग था) जिले के अगस्तीश्वर निवासी जे. सी. डैनियल नामक एक दंत चिकित्सक ने किया था। मलयालम सिनेमा के पितामह 'डॉ. जे. सी. डैनियल' हैं। सात नवंबर 1928 में 'विगतकुमारन्' का पहला प्रदर्शन कैपिटॉल थियेटर में हुआ था। केरल का दूसरा मूक चलचित्र सन् 1931 में नागरकोविल निवासी सुंदरराज द्वारा निर्मित 'मार्ताण्डवर्मा' है। केरल का पहला साहित्य संबंधी सिनेमा है 'मार्ताण्डवर्मा' (सी. वी. रामन पिल्ले का ऐतिहासिक उपन्यास) जिसके निर्देशक है पी. वी. रावु। इस सिनेमा का पहला प्रदर्शन भी तिरुवनंतपुरम के कैपिटॉल थियेटर में हुआ था।

सन् 1937 में मलयालम की पहली बोलती फिल्म 'बालन' के निर्माण से केरल के फिल्म उद्योग की उत्तरोत्तर वृद्धि हुई। इस सिनेमा के निर्माता टी. आर. सुंदरम् और निर्देशक एस. नोट्टाणी हैं। मलयालम सिनेमा के पहले प्लेबैक गीतकार- श्री सरोजिनी एवं गोविंद रावु हैं। 'निर्मला' फिल्म में 'करुणाकरा पीतांबरी. ...' पंक्तियों का आलापन करते हुए इन्होंने फिल्म गीत गायन में पदार्पण किया। केरल का पहला फिल्म स्टूडियो 'द ट्रावनकूर नेशनल पिक्चेर्स' है इसकी स्थापना मलयालम सिनेमा के पितामह श्री जे. सी. डैनियल ने सन् 1926 में नागरकोविल में की थी। इसके बाद उदया (1947, आलपुषा), मेरीलैंट (1951, नेमम्, तिरुवनंतपुरम), श्रीकृष्णा (1952, कुलात्तुर), चित्रालेखा (1965, तिरुवनंतपुरम) उमा (1975 तिरुवनंतपुरम), नवोदया (1978, त्रिक्काकरा), चित्रांजली (1980, तिरुवनंतपुरम),

किंफ्रा फिल्म एंड वीडियो पार्क (2005, तिरुवनंतपुरम), एरियास विसमया माक्स् (2007, तिरुवनंतपुरम) आदि अनेक स्टूडियों का आगमन हुआ। पचास दशक में रामू कारियात की फिल्म 'नीलाक्कुइल' (1954) ने मलयालम सिनेमा की एक नई पहचान बनाई। यह प्रमुख सामाजिक समस्या अस्पृश्यता विषयक सिनेमा था। सन् 1954 में इस फिल्म को राष्ट्रपति से रजत पदक मिला था। रामू कारियात उन पहले फिल्मकारों में थे, जिन्होंने सिनेमा के पारंपरिक कथ्य स्वरूप को बदलकर उसे सामाजिक सरोकारों से जोड़ा। सन् 1952 में मलयालम सिनेमा को दो प्रमुख अभिनेता मिले –नज़ीर एवं सत्यन्। नज़ीर की पहली, फिल्म सन् 1952 जून में आई 'मरुमकल्' है। सत्यन की पहली सिनेमा सन् 1952 अगस्त में आई 'आत्मसखी' है। सन् 1951 में आई 'जीवितनौका' मलयालम का सर्वप्रथम सूपरहिट सिनेमा है सन् 1936 में तिरुवनंतपुरम में न्यू थियेटर नामक एक सिनेहॉल की स्थापना पी. सुब्रह्मणियम (मैरीलोंट स्टूडियो के संस्थापक) ने की थी।

सन् 1955 में केरल की पहली नियोरियलिस्टिक फिल्म 'न्यूस्पेयर बॉय' आई। सन् 1961 में मलयालम की पहली रंगीन फिल्म 'कण्टमबचाकोटू' आई। सन् 1965 में रामू कारियात की 'चेम्मीन' फिल्म ने राष्ट्रपति का स्वर्ण पदक जीता। श्री सलिल चौधरी के संगीत, मन्ना डे के पार्श्व गायन और सत्यन- शीला की कलाकार जोड़ी के हृदय स्पर्शी अभिनय ने इस फिल्म को एक 'मास्टरपीस' की ऊँचाई प्रदान की। 'चेम्मीन' में मछुआरों के यंत्रणापूर्ण जीवन का इतना मार्मिक चित्रण था कि दर्शक अपने आँसू रोक नहीं सके।

रामू कारियात की परंपरा को आगे बढ़ाने के लिए मलयालम सिनेमा के क्षितिज पर जिन फिल्मकारों का उदय हुआ, उन सभी की प्रतिबद्धता सार्थक सिनेमा के साथ थी। सर्वश्री अटूर गोपालकृष्णन, जी. अरविंदन, अब्राहम आदि के रचनाकर्म में उच्चतर मानवीय मूल्यों के प्रतिष्ठापन और साथ ही सामाजिक विसंगतियों के प्रतिक्षोभ की भावना साफ दृष्टिगोचर होती है। प्रयोगवादी फिल्मकारों में अटूर गोपालकृष्णन का स्थान काफी ऊँचा हैं उनकी फिल्में – 'अनंतरम', 'मुखामुखम', 'स्वयंवरम्', 'मेथिलुकल' आदि को सिने माध्यम के कई साहसिक और अभिनव प्रयोगों के लिए याद की जाएँगी। सन् 1973 में अटूर गोपालकृष्णन की 'स्वयंवरम्' फिल्म ने राष्ट्रपति का स्वर्णपदक जीता। उनकी और एक फिल्म 'एलीपत्तायम' (1982) इंग्लैंड के फिल्म संस्थान द्वारा पुरस्कृत की गई थी। इसके अलावा यह गौरव भारत से केवल सत्यजीत रे की 'अपराजितो' को ही मिला है। सन् 1973 में श्री. एम. टी. वासुदेवन नायर की फिल्म 'निर्माल्यम' को राष्ट्रपति का स्वर्णपदक प्राप्त हुआ। इस फिल्म के अभिनय के लिए मलयालम में सर्वप्रथम भरत अवार्ड 'श्री पी. जे. ऑन्टणी' को मिला।

श्री अटूर गोपालकृष्णन जहाँ उनके क्रांतिकारी प्रयोगों के लिए सराहे गए, वहीं श्री जी. अरविंदन अपनी सौंदर्य चेतना और कलाबोध के लिए चर्चित हुए। सन् 1974 में अरविंदन्, के 'उत्तरायनम्' ने राष्ट्रीय प्रशंसा प्राप्त की। 'वास्तुहारा' और 'आरिटत्तु' जैसी फिल्मों में उनका रहस्यवादी दार्शनिक स्वरूप परदे पर काव्य बनकर दर्शकों तक पहुँचता है। सन् 1985 में इनकी 'चिदंबरम्' फिल्म को राष्ट्रपति का 'स्वर्ण कमल' प्राप्त हुआ। यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि सत्यजीत रे की परंपरा में ही श्री. जी. अरविंदन ने भी भारतीय सिनेमा को बदला और समृद्ध किया। श्री. जी. अरविंदन की सिनेमा कृतियाँ शांति, सादगी, सरलता और काव्यमय प्रकृति से संरचित थीं। अटूर गोपालकृष्णन और जी. अरविंदन ने भारतीय सिनेमा को एक नया विस्तार दिया। केरल में बौद्धिक सांस्कृतिक चेतना का स्तर बेहतर रहा है और यहाँ फिल्म सोसाइटी आंदोलन की मज़बूत जड़ों के कारण सार्थक सिनेमा को दर्शकों का समर्थन मिलता रहा है। इन फिल्मकारों ने अक्सर कम बजट में फिल्में बनाईं और अपना शर्तों पर फिल्में बनाईं। स्व. अरविदन जी को मलयालम सिनेमा का कवि – 'पेंटर' कहा जाता है। उनकी महत्वपूर्ण फिल्में हैं- 'थंपू' (1978), 'पोक्कूवेइल' (1981), 'इस्थापन्न' (1979), 'चिदंबरम' (1985), 'ओरडिथ्' (1986), 'वास्तुहारा' (1991) आदि। 'वास्तुहारा' उनकी आखिरी फिल्म है और इसमें एक मास्टरपीस होने के सारे गुण मौजूद हैं। श्री अरविंदन के अलावा जिस अन्य मलयालम फिल्मकार ने गंभीर विषयों पर फिल्में बनाईं, वे थे श्री जॉन अब्राहम। हालांकि अब्राहम की रचना – संसार उनकी असामयिक मृत्यु के कारण अधिक विस्तृत नहीं हो पाया। लेकिन 'अग्रहारत्तिले कजूथाई' और 'अम्मा

अरियान' के रूप में जो विचारोत्तेजक फिल्म कृतियाँ उन्होंने तैयार कीं, वे उन्हें अत्यंत समर्थ फिल्मकारों की श्रेणी में खड़ा करती हैं। अटूर, अरविंदन और अब्राहम के बाद सर्वाधिक ख्याति अर्जित करने वाले मलयालम निर्देशक शाजी. एन. करुण हैं जिनकी फिल्म 'पिरवी' (1988) ने राष्ट्रीय, अंतरराष्ट्रीय पुरस्कार जीतने का कीर्तिमान रच डाला था। शाजी की यह फिल्म भारतीय सिनेमा के इतिहास में बहुत समय तक जीवित रहेगी।

मलयालम सिनेमा के पहले गान रचयिता श्री मुतुकुलम राघवन पिल्लै हैं (बालन् फिल्म के लिए) सन् 1969 में केरल सरकार ने मलयालम सिनेमा के लिए पुरस्कार प्रदान करना आरंभ किया। सन् 1975 में 'केरल सिनिविकास निगम' रूपायित हुआ। पहले यह निगम तिरुवनंतपुरम वषुतक्काटु कोट्टनहिल स्कूल के निकट एक किराए के भवन में कार्यरत था, फिर सन् 1984 जनवरी 27 में निगम का अपना कार्यालय वषुतक्काटु कलाभवन नामक स्थल में कार्यरत हुआ। सन् 1978 में मलयालम की पहली सिनेमास्कॉप फिल्म 'तच्चोली अबू' आई। सन् 1980 में मलयालम फिल्म इंडस्ट्री में दो स्टारों को पुरस्कार मिला - श्री ममूट्टी (पहली फिल्म - विल्क्कानुण्टु स्वप्नड़ल) एवं श्री मोहनलाल (पहली फिल्म - मंञिल विरिञा पुक्कल)। सन् 1982 में मलयालम की पहली 70 एम. एम. सिनेमा 'पटयोट्टस' (निर्देशक - जिजो) आई। मलयालम सिनेमा में डिजिटल टेकनिकवाली पहली फिल्म सन् 3 नवंबर 2005 में आई 'अनंतभद्रम' (निर्देशक- संतोष फिल्म उत्सव हर वर्ष तिरुवनंतपुरम में आयोजित होता है। इसका आरंभ सन् 1996 से हुआ था और हर वर्ष नवंबर - दिसंबर महीने में यह फिल्म उत्सव संपन्न होते हैं।

सन् 1999 में मुरली नायर की 'मरण सिंहासनम्' को 'कॉन' फिल्म समारोह में 'गोलडेन कैमरा' पुरस्कार प्राप्त हुआ। मलयालम सिनि इंडस्ट्री के फिल्मकारों का संगठन है 'अम्मा'। इस संगठन के सभी लोगों के सहयोग से एक सिनेमा '20-20' का निर्माण किया गया, जो सूपरहिट भी हुआ। सन् 2000 से मलयालम सिनेमा में हास्य-व्यंग्य प्रधान फिल्मों का निर्माण आरंभ हुआ। ऐसी प्रमुख फिल्में हैं- 'सि.ऐ.डी. मूज़ा' (2003 निर्देशक - जोनि आन्टणी), 'मीश माधवन' (2002, निर्देशक - लाल जोस), कुंजिकूनन् (2002, निर्देशक - शशी शकर) आदि। सन् 2010 से मलयालम फिल्म इंडस्ट्री में अनेक एक्स्पेरिमेंटल फिल्में आ गईं। इसे 'न्यू जनरेशन फिल्म' कहते हैं। सन् 2000 के बाद की ऐसी प्रमुख फिल्में हैं- 'अद्भुत दीप' (2005, निर्देशक - वी. के. प्रकाश), 'पषशिराजा' (2009, निर्देशक - हरिहरन्), 'आदामिंटे मकन अबु' (2011, अकादमी पुरस्कार के लिए चुने गए थे, निर्देशक - सलिम अहमद्), 'दृश्यम्' (2013, निर्देशक - जित्तू जोसफ) आदि। 'पुलिमरुकन' (2016, निर्देशक फिल्म का कलक्षन रिकार्ड हैं)। मलयालम फिल्म इंडस्ट्री में नए अभिनेताओं में (सन् 2000 के बाद), दिलीप, पृथ्वीराज, निविन पॉली, जयसूर्या (सन् 2015 में सु - सु - सुदी वाङ्मीगम के लिए देशीय पुरस्कार जीता), काव्या माधवन, मंजु वारियर, रीमा कलिंगल, मीरा जास्मिन आदि का नाम प्रमुख हैं। सन् 1990 के बाद के अन्य प्रमुख फिल्मकारों एवं उनके प्रमुख फिल्मों के नाम हैं - अटूर गोपालकृष्णन के 'मथिलुकल्' (1990), 'नालु पेण्णुड़ल' (2007), 'पिन्नयुम्' (2016), 'भरतन - अमरम' (1991), 'कमल - उल्लटकम्' (1992), प्रियदर्शन - किलुक्कम (1991), 'भद्रन ऐ. वी. शशि. देवासुरम' (1993) 'फॉजिल-मणिचित्रताषु' (1993) 'टी. वी. चंद्रन-पोदंदन्न माज' (1993) - 'स्पटिकम्' (1995), जयराज - देशाटनम् (1997), 'राजीव अंचल' - गुरु (1997 - अकादमी अवार्ड के लिए चुनी गई थी) आदि।

मलयालम फिल्म इंडस्ट्री के प्रमुख गीतकारों में के. जे. येशुदास (केरल के गानगर्धवंन), एम. जी. श्रीकुमार, पी. जयचंद्रन, जी. वेणुगोपाल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। महिला गतिकारों में - के. एस. चित्रा. सुजाता मोहन, राजलक्ष्मी, श्वेता मोहन आदि के नाम प्रमुख हैं। श्री कुमारनतंपी मलयालम फिल्म गीतकार, फिल्म निर्देशक तथा फिल्म निर्माता हैं। 'काटुमल्लिका' सिनेमा में सन् 1996 में फिल्म गीतकार में रूप में वे प्रतिष्ठित हुए। फिर उनके कई भाव गीत विविध मलयालम फिल्मों में सुनने का सौभाग्य मलयालम फिल्म प्रेमियों को प्राप्त हुआ। सन् 2016 में करेल में 'श्री कुमारन तंपी' के फिल्म गीतों का 50वीं वार्षिकी मनाया जा रही है। वर्तमान में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर मलयालम फिल्मों का विकास हो रहा है और विदेशियों की जुबान पर मलयालम गीतों, फिल्मों तथा अभिनेताओं के नाम प्रिय

हैं। बीसवीं सदी की सर्वश्रेठ कला के रूप मे स्थापित एवं प्रचारित सिनेमा बड़े परदे से उतरकर छोटे परदे पर भी अपना प्रभुत्व कायम करने में कामयाब हुई है। सिनेमा की इस अहम् तथा महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकारते हुए उसके बारे में शोध/अध्ययन गंभीर मनन-चिंतन की आवश्यकता से इंकार नहीं किया जा सकता। हमारा रहन-सहन, खान-पान, बोलचाल, रीति-रिवाज़ और यहाँ तक कि विश्वासों को भी बदल डालने में फिल्मों का बड़ा हाथ रहा है। मलयालम के फिल्म- निर्माताओं-निर्देशकों और उनके कैंप से जुड़े लोगों के लिए ये उत्तेजना भरे क्षण हैं। संक्षेप में कहें तो 'मॉलीवुड' (मलयालम सिनेमा इंडस्ट्री का नाम) सिनेमा के इर्द-गिर्द आज विश्वभर की पहुँच है और विश्व मंच पर यह एक शक्ति के रूप में उभर रहा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. भारतीय फिल्म वार्षिकी 1993 - श्रीराम ताम्रकर (मध्य प्रदेश फिल्म विकास निगम)।

2. सिनेमा एक समझ - विनोद भारद्वाज (मध्य प्रदेश फिल्म निगम का प्रकाशन)।

3. सिनेमा के सौ बरस - मृत्युंजय।

4. पटकथा - श्रीराम तिवारी (मध्य प्रदेश फिल्म निगम का प्रकाशन)।

5. मलयालम सिनेमा पठनडल - सी. एस. वेंगीडेश्वरन।

6. मलयालम सिनेमा चरित्रम विचित्रम् (चेङलङाटु गोपालकृष्णन)।

7. चलचित्र जालकम् - ए. एल. अजिकुमार।

– प्राध्यापिका, के. एस. एम. डी. कॉलेज, शास्तांकोट्टा, कोल्लम।

❑❑❑

भोजपुरी सिनेमा का समाजशास्त्र

प्रो. आलोक पांडेय

भोजपुरी बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश की एक महत्वपूर्ण बोली है। देश-विदेश के लगभग 20 करोड़ भोजपुरिया लोगों की भाषा। भोजपुरी सिनेमा इसी बोली और भाषा का सिनेमा है। कुछ लोग 1948 की दिलीप कुमार, कामिनी कौशल अभिनीत, मोती बी. ए. के लोकप्रिय गीतों से सजी, मछुवारों के जीवन पर बनी बेहद सफल फिल्म 'नदिया के पार' को पहली भोजपुरी फिल्म मानते हैं। इसमें गंगा, यमुना और तीसरी कसम की तरह भोजपुरी का प्रभाव तो है, पर यह शुद्ध भोजपुरी फिल्म नहीं है।

पहली शुद्ध भोजपुरी फिल्म 'गंगा मैय्या तोहे पियरी चढ़इबे' है। जिसे 1963 में मूलतः भोजपुरी मातृभाषी गाजीपुर के प्रसिद्ध फिल्मकार और अभिनेता नासिर हुसैन ने प्रथम राष्ट्रपति और भोजपुरी मातृभाषी राजेंद्र प्रसाद जी के 1950 में प्रेमिल अनुरोध पर बनाई थी। इसकी सफलता और प्रशंसा से प्रेरित होकर उस वक्त कई भोजपुरी फिल्में बनीं- 'लागी नहीं छूटे रामा', 'विदेशिया', 'हमारा संसार', 'बलम परदेशिया' आदि। 1977 में सुजित कुमार - पद्मा खन्ना अभिनीत पहली रंगीन भोजपुरी फिल्म 'दंगल' थी, जो बहुत सफल रही। 1982 में सचिन और साधना सिंह की 'नदिया के पार' हिंदी-भोजपुरी मिश्रित बेहद सफल फिल्म थी, जिस पर कालांतर में 'हम आप के हैं कौन' का निर्माण हुआ। इसके बाद एक लंबा अंतराल रहा।

फिर 2003 में रवि किशन की 'सैयां हमार' और 2004 में मनोज तिवारी की 'ससुरा बड़ा पैसा वाला' रिलीज हुई। दोनों बेहद सफल रहीं और इनसे रवि किशन और मनोज तिवारी का सुपर स्टारडम भी शुरू हुआ। इनकी लोकप्रियता का अंदाजा इस बात से लगा सकते हैं कि आज रवि किशन गोरखपुर से सांसद हैं तो निरहुआ ने अखिलेश यादव को आजम गढ़ से कड़ी टक्कर दी और मनोज तिवारी दिल्ली में आज बी जे पी के मुख्य कर्ताधर्ता हैं। ये है भोजपुरी सिनेमा की नई आसमान छूती लोकप्रियता गोरखपुर से लेकर दिल्ली तक फैली हुई। गोरखपुर जो भोजपुरी का केंद्र है, दिल्ली, बिहार और पूर्वांचल के श्रमिक समाज से भरा हुआ है। यही लोग हैं जो भोजपुरी फिल्में बिहार और यू पी में देखते हैं। इसी दिल्ली में 20 साल पहले बिहारी मजदूर को हिकारत से बीमारी कहा जाता था उस बिहारी ने पहले अपने सिनेमा में अपना नायक पाया, फिर उसे सुपर स्टार बनाया और इस कदर बनाया की हिंदी के बिग बॉस में क्रमशः रवि किशन, मनोज तिवारी और निरहुआ सभी गए। आज वही उपेक्षित अपमानित बिहारी दिल्ली में मनोज तिवारी के रूप में अपने सम्मान की स्थापना देखता है। 2003-2004 से भोजपुरी सिनेमा में आए इस बड़े उछाल को किस तरह समझा जाए? कुछ लोग मानते हैं कि बहुजन समाज पार्टी, समाजवादी पार्टी और राष्ट्रीय जनता दल, जनता दल यूनाइटेड आदि के नेतृत्व में दलित और पिछड़ी जातियों में आई राजनैतिक शक्ति और सत्ता भी इसका एक कारण है। जिसे लोग भदेस और छोटा समझते रहे थे, उसने इस राजनैतिक शक्ति से एक नया आत्मविश्वास प्राप्त किया और अपनी पहचान को भोजपुरी सिनेमा में सेलेब्रेट करने लगा। भदेस शिष्ट को किनारे कर अपनी

जगह बना रहा था। सेलेब्रेट करने की यह आर्थिक शक्ति उसे भूमंडलीकरण के कारण अर्थ व्यवस्था में आई गतिशीलता और संपन्नता से मिली। एक तरफ मनरेगा था तो दूसरी तरफ शहरों में रोजगार के छोटे ही सही पर अनेक अवसर। अपना गाँव छोड़कर हैदराबाद से मुंबई तक में काम कर रहे इन अस्थाई विस्थापित श्रमिकों ने भोजपुरी सिनेमा को आक्सीजन की तरह इस्तेमाल किया। वह जैसा भी था उनका अपना था। वो दुनिया जिसे वे पीछे छोड़ आए थे और जो उन्हें रोज याद आती थी, अब भोजपुरी सिनेमा के माध्यम से, उससे एक हल्की ही सही मुलाकात हो जाती थी और इनकी जेब में अब इतने पैसे तो हो ही गए थे कि रविवार को सिंगल स्क्रीन थिएटर में, जहाँ टिकट अब भी सस्ता था, भोजपुरी फिल्म देख लेते।

रवि किशन, मनोज तिवारी, निरहुआ आदि के नेतृत्व में भोजपुरी फिल्मों का 2003 के बाद जो बेहद सफल दौर शुरू हुआ, वह जारी है। आज हर साल लगभग 100 फिल्में भोजपुरी में बनती हैं, जिनपर 100 करोड़ रुपए खर्च होते हैं और 125 करोड़ रुपए की कमाई होती है। जिस पर सिर्फ बिहार सरकार को 10 करोड़ रुपए टैक्स के रूप में मिलते हैं पर सफलता के इस चमकते सफर में नासिर हुसैन की बनाई भोजपुरी फिल्मों की धरती से इनका नाता टूटता चला गया और 70 की सस्ती मसाला हिंदी फिल्मों का भद्दा अनुकरण शुरू हुआ। नतीजन 'पेप्सी पी के लागेलू सेक्सी', 'लैला माल बा छैला धमाल बा', 'लहंगा में बाढ़ आइल बा', 'मेहरारू चाहीं मिल्की वाइट' जैसी स्त्री की गरिमा को धूमिल करने वाली, उसे मात्र देह के रूप में प्रस्तुत करने वाली बाजारू फिल्मों का दौर सा चल पड़ा।

सफलता के इस आसमानी दौर में बालीवुड के बड़े सितारे भी झिलमिलाते रहे। अमिताभ बच्चन से लेकर मिथुन चक्रवर्ती तक और वे खूब सफल भी हुए। इसी दौर में ऐसे अनेक फिल्म निर्माता और निर्देशक भी आते गए, जिनको न तो भोजपुरी संस्कृति की कोई समझ थी न भोजपुरी समाज की। इन्होंने मुंबई को केंद्र बनाकर, वहीं के तक्नीशियस की मदद से थोड़ी सी शूटिंग बिहार में और ज्यादा मुंबई और गुजरात में करते हुए अनेक सफल फिल्में बनाईं इन्होंने विदेशों में भी शूटिंग की। भोजपुरी फिल्मों के सांस्कृतिक पतन के पीछे ये लोग भी हैं। अपना मूलधन निकालने और अधिकतम लाभ कमाने के एकमात्र उद्देश्य से भोजपुरी फिल्में बनाने वाले बाहरी और भीतरी दोनों ही लोगों ने फिल्म के प्रेम दृश्यों, मांसलता और संघर्षों में जबरदस्त हिंसा को बढ़ाया, कामुक आइटम गानों और द्विअर्थी अश्लील संवादों की भरमार की। इन सबकी नज़र भोजपुरी समाज के निम्न/श्रमिक वर्ग पर थी, जिन्हें हिंदी सिनेमा उपेक्षा से फ्रंट बेंचर्स कहता रहा है। इन्होंने उन्ही फ्रंट बेंचर्स को मुख्य दर्शक बना दिया, नतीजतन मध्य वर्ग, स्त्रियाँ और बच्चे भोजपुरी फिल्मों को खराब मानते हुए दूर ही रहे। इसका नुकसान भोजपुरी सिनेमा को दो रूपों में हुआ– एक ऑर्थिक रूप में क्योंकि दर्शक कम हुए, दूसरा सांस्कृतिक रूप में, क्योंकि अगर भोजपुरी भाषी शिक्षित मध्य वर्ग और परिवार इनको देखते तो इन पर एक नैतिक और सांस्कृतिक दबाव पड़ता और ये उस पतन के शिकार नहीं होते, जिसके होते गए।

इनके पतन का एक और भी पहलू है। ये सच है कि ये फिल्में सफल तो हो रही हैं पर इनका कोई कलात्मक विकास नहीं हो रहा है न तो इनके पास ढंग की कहानियाँ हैं और न ही सिनेमाई क्राफ्ट की कुशलता। सच्ची ग्रामीण सभ्यता और संस्कृति भी लुप्त ही है।

ऐसा नहीं है कि इस परिदृश्य को बदलने के प्रयास नहीं हुए हैं। इसी दौर में नितिन चंद्र ने 2011 में बेरोजगारी पर केंद्रित 'देशवा' जैसी फिल्म भी बनाई, जिसे 16वें अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह में और 50 वर्षों में पहली बार किसी भोजपुरी फिल्म के रूप में गोवा के अंतरराष्ट्रीय फिल्म महोत्सव के इंडियन पैनोरमा खंड में भी प्रदर्शित किया गया, पर इसे बिहार में दिखाने को कोई तैयार नहीं हुआ, क्योंकि ये वितरकों को हाई क्लास लगी जो फ्लाप हो जाती तो और भी चिंताएँ और प्रयास देखने में आते। भोजपुरी सिनेमा के एलसाइक्लोपीडिया माने जाने वाले मनोज भावुक ने अपनी भोजपुरी सिनेमा का इतिहास पुस्तक में, 'चंपारण टाकीज' के बैनर तले नितिन चंदा ने अपनी डाक्यूमेंट्रीज 'ब्रिंग बैक बिहार' और 'बोया पेड़ बबूल का', में इस हालत पर अपनी चिंताएँ जाहिर की हैं।

आज भोजपुरी सिनेमा के पास अपना अवार्ड शो है। अपनी ट्रेड मैगजीन 'भोजपुरी सिटी' है। देश के अधिकांश हिस्सों और दुनिया के कई भागों में रहता

'इंडियन डायस्पोरा' का भोजपुरी समझने वाला विशाल दर्शक समूह है। कुल मिलाकर लगभग 200 करोड़ की भोजपुरी फिल्म इंडस्ट्री के पास फिल्म निर्माण का एक ऐसा गणित भी है जो उसे आर्थिक असफलता से बचा भी लेता है पर यदि नहीं है तो वह प्रतिष्ठा जो अनेक क्षेत्रीय फिल्मों के पास है। ऐसा मानने वालों में भोजपुरी सिनेमा की ट्रेड मैगजीन के संपादक किशन खादरिया भी हैं। भोजपुरी सिनेमा के इस हाल के पीछे कुछ अन्य कारण भी हैं। जैसे महंगा स्टार सिस्टम दर्शकों को अपनी और खींचने की प्रतिद्वंद्विंदता में भोजपुरी फिल्मों का बजट कई बार बहुत अधिक हो जाता है। ऐसे में कई निर्माता-निर्देशक वितरकों से आर्थिक मदद लेते हैं। इसलिए वितरकों का प्रभाव फिल्म निर्माण में बढ़ जाता है और फिल्म अधिक मसालेदार होने के चक्कर में एक पायदान और नीचे उतर जाती है। कुछ लोग ये भी कहते हैं कि यदि भोजपुरी फिल्में बिहार में बनतीं तो लागत काफी कम होती और शायद वे बेहतर भी होती, मिथुन चक्रवर्ती की 'भोले शंकर' की अपार सफलता और कुछ विवादों के बाद, भोजपुरी फिल्मों से जुड़े अनेक लोगों ने बिहार सरकार को साथ लेते हुए बिहार में भोजपुरी फिल्म उद्योग की स्थापना के बारे में बड़ी-बड़ी बातें कीं, पर वे बातें बातों तक ही रह गईं। मिडिल क्लास दर्शक को आकर्षित करके और सरकार सहयोग करे तो अभी और 5 गुना विकास की संभावना देखने वाले मनोज तिवारी की बात का विस्तार करते हुए, 'बिहार झारखंड मोशन पिक्चर एसोसिएसन' के रंजन सिन्हा मानते हैं कि पर यह तब तक संभव नहीं है जब तक भोजपुरी सिनेमा अपने सस्तेपन से बाहर निकलकर ग्राम्य जीवन की मौलिक कहानियों को प्रस्तुत नहीं करता। आलोचना के इन अनेक स्वरों के बीच प्रशंसा और प्रोत्साहन के भी कुछ स्वर मिलते हैं। जैसे रवि किशन यह नहीं मानते कि भोजपुरी फिल्में अश्लील हैं उनके अनुसार दक्षिण की अनेक फिल्में अधिक अश्लील हैं। वे यह भी कहते हैं "कि भोजपुरी संस्कृति इतनी समृद्ध है कि उसे इस अश्लीलता से कोई खतरा नहीं है"।

वरिष्ठ सिनेमा पत्रकार अजय ब्रह्मात्मज इस परिदृश्य को एक और नज़र से देखते हैं। वे कहते हैं कि हम उन दर्शकों की बात क्यों नहीं करते जो ये फिल्में देख रहे हैं। जिन्होंने भोजपुरी फिल्मों को यह रवानगी दी है। उसको जिंदा रखा है। भोजपुरी सिनेमा की इस हरियाली से जाहिर है कि यह भूमि काफी ऊर्वर है। तो जो जमीन ऊर्वर होगी, वहाँ मौसम और प्रकृति के अनुसार दूसरे पेड़-पौधे भी उग सकते हैं। हिंदी सिनेमा की विकास यात्रा को देखें तो उनकी यह बात सही लगती है।

भोजपुरी सिनेमा का एक और भी पक्ष है। वह है मीडिया, मीडिया के लिए भी भोजपुरी सिनेमा एक बड़ा बाज़ार है। दोनों ने एक-दूसरे का फायदा उठाया है पर यह फायदा धन का है, विचार और संस्कार का नहीं। भोजपुरी फिल्मों के अश्लील पोस्टरों से भरे हिंदी अखबार इस बात की गवाही देते हैं।

अब वक्त आ गया है कि भोजपुरी सिनेमा सफलता से सार्थकता की तरफ बढ़े और उसमें भी कोई कोर्ट, श्वास, अज्जी और नट सम्राट बने। अब जब भोजपुरी के सुपरस्टार राजनीति के भी सुपर स्टार हो गए हैं तो यह उम्मीद कई मायनों में बढ़ जाती है।

– हिंदी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद-46

❑❑❑

कॉकबरक सिनेमा का उद्‌भव और विकास

डॉ. बीना देबबर्मा

त्रिपुरा में तिपरा समाज के बीच सिनेमा का उद्‌भव होने से पहले जातरा, नौटंकी नुक्कड़ नाटक आदि का प्रचलन था। जातरा का तिपरा समाज में अन्य समाज या मुसलमान समाज से आगमन हुआ ऐसा माना गया है। धीरे-धीरे जातरा से ही कॉकबरक सिनेमा का उद्‌भव हुआ है ऐसा लोगों की मान्यता है। कॉकबरक सिनेमा का उद्‌भव होने से पहले के इतिहास का थोड़ा सा उल्लेख मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहती हूँ कि कॉकबरक जातरा या नाटक के इतिहास को यदि हम देखेंगे तो पाएँगे कि त्रिपुरा में तिपरा समाज के बीच एक ऐसा समय था जब लोग जातरा या नाटक को देखना और खेलना दोनों को ही अत्यंत पसंद करते थे। त्रिपुरा के महाराजा रतन माणिक्य जी के समय से ही हमें रंगमंच पर जातरा या नाटक खेलने व देखने की जानकारी मिलती है। उस समय नाटक को ही लोग जातरा कहते थे। रतन माणिक्य का समय 1682 AD माना गया है। उसी दौरान 'असम बुरूनची' नाम से एक किताब निकली थी। 'असम बुरूनची' नामक किताब के भीतर ही 'त्रिपुरा बुरूचनी' नाम से एक विषय भी था। इस किताब में ही इस बात की जानकारी मिलती है कि त्रिपुरा में भी नाटक खेला और देखा जाता था। त्रिपुरा के महाराजा रतन माणिक्य और असम के महाराजा रसजी देव रूद्रा सिंह दोनों मित्र रह चुके हैं।

असम के महाराजा और त्रिपुरा के महाराजा उस समय अपने-अपने राज्य के अच्छे-बुरे, सुखद और दु:खद आदि विषयों को लेकर आपस में चर्चा किया करते थे। उस समय दोनों ही अपने-अपने दूत को एक-दूसरे के पास भेजते थे। उन दोनों दूतों के नाम हैं- अर्जुन दास बोईरागि और रतन कुंडलि शर्मा। इन दोनों के त्रिपुरा में आ जाने से इस बात की जानकारी मिलती है कि कि त्रिपुरा महाराजा 'कालिया दामान' नाटक देख रहे हैं। यह नाटक एक साँप को मारने की कथा थी। यह नाटक या जातरा बांग्ला भाषा में लिखा गया था। महाराजा रतन माणिक्य के शासन काल के पश्चात् भी त्रिपुरा में नाटक, जातरा आदि खेला और देखा गया। बांग्लादेश पहले त्रिपुरा के महाराजाओं के अधीन था, इसलिए उस समय वहाँ के मुसलमान और बंगाली लोग त्रिपुरा में आकर गाँव-गाँव जाकर जातरा या नाटक दिखाते थे। उन लोगों की कलाओं को देखकर कॉकबरक भाषा बोलने वाले तिपरा दोफा के लोगों ने भी इसे पहले बांग्ला भाषा से लिया तथा रूपपान, सुनाई मनोहर, काजलकोईना, अनारकली आइि को कॉकबरक भाषा में बोलकर नाटक आदि के रूप में दिखाने लगे। तब यह देखा गया कि गाँव के लोगों में जातरा या नाटक लोकप्रिय होने लगा। उसके पश्चात् तिपरा दोफा में जमातिया दोफा के द्‌वारा सर्वप्रथम सेलेरसा, तुईनि फोता आदि जातरा रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया था। वह जातरा अत्यंत लोकप्रिय रहा किंतु लिपिबद्‌ध न होने के कारण अब इसका कोई प्रमाण नहीं है।

कई वर्षों तक जातरा को गाँव-गाँव जाकर रगंमंच पर ऐसे ही खुले आसमान के नीचे दिखाया गया। यह जातरा अधिकांशत: मनोरंजन के लिए होता था। सर्वप्रथम सन् 1948 में सुधन्या देबबर्मा के द्‌वारा 'एगिए चलो' लिखा गया। यह कॉकबरक भाषा एवं बांग्ला भाषा दोनों में ही लिखा गया था। नाटक को जब रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया था तब भी नाटक के पात्रों ने दोनों ही

भाषाओं में संवाद बोले। परंतु नाटक खेलने वालों के रहन-सहन को पसंद न करने के कारण एक और विद्रोह से भरा हुआ किताब लिखा गया, जिसका नाम 'परिखित विद्रोह' था। यह नाटक महाराजा के द्वारा किए गए कार्यों को पसंद न होने के कारण जमातिया दोफा के द्वारा किया गया विद्रोह था। किंतु इन सभी घटनाओं का कोई भी लिखित रूप न होने के कारण आज इसकी सत्यता को उजागर नहीं किया सकता है। यह शुद्ध कॉकबरक भाषा में लिखा गया नाटक था। इसके साथ ही 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ। 1960 में भारत और चीन में युद्ध छिड़ा और 1964-65 में भारत और पाकिस्तान में युद्ध हुआ जिस कारण चारों और अस्थिरता का माहौल था।

भारत स्वतंत्र हुआ तो इसका प्रभाव त्रिपुरा में भी पड़ा क्योंकि 1950 से पहले त्रिपुरा में राजतंत्र का बोलबाला था। 1950 के बाद त्रिपुरा को भी भारत के साथ मिला लिया गया था। अब त्रिपुरा में भी राजतंत्र समाप्त कर लोकतंत्र अपनाया गया था। कुछ लेखक खामोश हो गए उन्हें लिखने में एक प्रकार का भय महसूस हो रहा था तो कुछ लोग अपने घरों में चुपचाप बैठकर लिख रहे थे। 1970-71 में यह देखा गया कि युवा पीढ़ी ने लेखन कार्य में रुचि दिखाई। उदाहरण के तौर पर सन् 1973 में अलिंद्रलाल त्रिपुरा के द्वारा लिखा गया नाटक 'लामानि होमचाङ' है। इस नाटक को रविंद्र सतोबासिकि भवन में रंगमंच पर प्रस्तुत किया गया था। उसके पश्चात् सन् 1974 में जगतबासी जमातिया के द्वारा 'कालिजुक' तथा सन् 1975 में सुबुधलाल जमातिया के द्वारा लिखा गया 'तुईफोता' है। उसके पश्चात् सन् 1974 में श्यामलाल देबबर्मा के द्वारा 'बेङसुनाल' नामक नाटक लिखा गया था। सन् 1980 त्रिपुरा के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है क्योंकि यह वह समय था, जब त्रिपुरा में जातिगत दंगे हुए थे। साधारण जनता के मन में भय था। संपूर्ण कार्य मानो थम गया हो। इस घटना के तीन साल बाद अर्थात् 1983 में त्रिपुरा की राजधानी अगरतला में फिर से नरेंद्र देबबर्मा के द्वारा लिखा गया नाटक 'नोकबार दोमसानि कोथोमा' था। इसके पश्चात् 1984 में नंदा कुमार देबबर्मा के द्वारा 'मारि', 'कोककिसा कोकताङहाई' नामक नाटक लिखे गए। आज के समय में कॉकबरक के क्षेत्र में नए-नए विषयों को लेकर नाटक लिखे जा रहे हैं।

इस तरह से कॉकबरक नाटकों के द्वारा ही कॉकबरक सिनेमा का उद्भव हुआ है। 'लोङतराई' को कॉकबरक भाषा का प्रथम टेलिफिल्म के रूप में स्वीकार किया गया है। इस फिल्म के बाद रोही देबबर्मा (निदेशक) के द्वारा 'लाङमानि हादुक' (12.10.1993) का निर्माण किया गया। इस फिल्म की कहानी और डॉयलाग दोनों ही रोही देबबर्मा के द्वारा लिखे गए हैं। इस फिल्म को त्रिपुरा कॉकबरक साहित्य सभा के द्वारा प्रस्तुत किया गया था। 'लाङमानि हादुक' को दो भागों में विभाजित कर दिखाया गया है। जनजातियों के देहाती जीवन परिवेश को लेकर लिखी गई, यह फिल्म लोगों के बीच अत्यंत लोकप्रिय रही है। क्योंकि इस फिल्म में 'चामिरि ओमपा' (घर जमाई) जैसे विशेष रीति-रिवाजों को उठाया गया है। गाँव में बिजली की कोई व्यवस्था नहीं है, लोग रात को होमचाग अर्थात् मशाल लेकर आवागमन करते हैं। गाँव में चौधरी के कहे अनुसार हर कार्य संपन्न किया जाता है इसलिए गाँव में खुशहाली है। गाँव की समृद्धि के लिए चौधरी के द्वारा प्राचीन समय से ही तुईबुक (नदी) की पूजा की जाती है। गाँव में हुक्का का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है उसे भी बताया गया है। फिल्म के नायक फाल्गुना के द्वारा अपने समाज और गाँव को सुधारने का प्रयास किया गया है, जहाँ नायिका यालुकति ने उसका साथ दिया। अब गाँव के लोगों ने अपने बच्चों को झूम खेत में काम करवाने के बजाय पढ़ाना-लिखाना शुरू कर दिया था। तीसरी फिल्म 'माथिया' (कंगन) है, जिसे 2004 को रिलीज किया गया था। इस फिल्म के निर्माता फादर जोसेफ किजेककिचेनाडु है। कहानी, स्क्रीनिंग और निर्देशन फादर के. जे जोसेफ पुलिनधानाथ एस डी वी के द्वारा की गई थी। इस फिल्म में जनजातियो के बीच फैल रहे अंधविश्वास को दिखाया गया है। झूम की खेती, युवक-युवतियों के समूह में रहकर कार्य करना, जादू कोलिजा, लोकगीत, प्रेम आदि विषयों को यथार्थ रूप में दिखाया गया है कुचुगति और बानथु इस फिल्म के नायक-नायिका हैं। गाँव में किसी की भी किसी बिमारी से मृत्यु हो जाती है तो कुचुगति को डायन कहकर लोग उसे सताते हैं, घर से निकलना

मुश्किल कर देते हैं। बाद में कुचुगति को डायन कहकर जमीन में जिंदा गाड़ दिया जाता है बानथु उसे बचाने के लिए नहीं जाता, तभी गाँव की एक महिला आकर उसकी मर्दानगी पर ताने मारती है, कहती है कि तुम सब पुरुष एक जैसे हो। बानथु के भीतर की अंतरात्मा उसे बार-बार कुचुगति को बचाने के लिए उलाहना देती है और वह कुचुगति को बचाने के लिए दौड़ पड़ता है। अंत में उसे बचा लेता है कहने का तात्पर्य यह कि 21वीं सदी में आकर भी यदि जनजातीय समाज अंधविश्वास में जकड़ा रहेगा तो समाज में कैसे उन्नति करेगा। समाज में नई चेतना लाना ही इस फिल्म का उद्देश्य है।

चौथी फिल्म 'यारूङ' (जड़) है, जिसे 2008 को रिलीज किया गया था। निर्माता फादर के. जे. जोसेफ हैं और निर्देशक फादर जोसेफ पुलिनधानाथ एस डी वी हैं। यह कहानी राईमा और साईमा तुईमा (नदी) को लेकर लिखी गई है। यह नदी (दुम्बोर) दलाई जिले में पड़ती है। दुम्बोर नदी से सटी हुई राईमा और साईमा नदी है जहाँ विद्युत उत्पादन कि लिए बाँध बाँधा गया और बाँध के बाँधने से हजारों जनजातियाँ घर से बेघर हो गईं। उनका जीवन मानो थम सा गया। रोजगार का कोई रास्ता नहीं था। आज भी लोग वहाँ मुश्किलों से जूझ रहे हैं। यहीं एक तिपरासा बुजुर्ग पुलिस के अत्याचारों से लड़ते हुए अपनी मातृभूति के लिए प्राण त्याग देता है। निर्माता और निर्देशक ने इस फिल्म में दुम्बोर नदी के आसपास रहने वाले लोगों की समस्याओं, पीड़ाओं, रोजगार की समस्याओं को यथार्थ रूप में दिखाया है।

पाँचवी फिल्म है 'रूङ' (नाव) है, जिसे 2002 में रिलीज किया गया था। नंदाकुमार देबबर्मा जी इस फिल्म के निर्माता और निर्देशक दोनों हैं। संगीत भी स्वयं उन्होंने ही दिया है। इस फिल्म की कहानी भी 'यारूङ' के साथ थोड़ी बहुत मिलती-जुलती है। इस फिल्म में राईमा और साईमा नदी में बाँध बाँधने के बाद एक तिपरा सा जिसका नाम बुबन राजा है, वह रोता बिखलाता है और बाँध को दांव से काटना शुरू कर देता है क्योंकि आज उसका सब कुछ खो गया था, जहाँ वह झूम की खेती करता था, जहाँ उसका बसेरा था वह सब पानी में डूब गया है। उसकी इन हरकतों को देखकर लोग उसे पागल समझते हैं। लेकिन उसे पागल समझने वाले लोग यह नहीं समझते हैं कि उन्होने आज क्या खोया है। जो अब कभी नहीं मिलेगा। राईमा और साईमा नदी के आसपास रहने वाले लोगों की समस्याओं, दुख, दर्द, पीड़ा को समाज के सामने लाना ही इस फिल्म का मुख्य उद्देश्य है।

छठी फिल्म 'मारि' (निशान) है। जिसको 2008 में रिलीज किया गया था। कहानीकार पदमालोचन जमातिया हैं। निर्माता सरत रियाग हैं। टीटीएएडीसी के सहयोग से यह फिल्म बनाई गई है। इस फिल्म में संपूर्ण तिपरासा समाज के रीति-रिवाजों, परंपराओं, देवी-देवताओं की पूजा अर्चना करने की विधि-विधान, झूम खेती को करने की विधि-विधान आदि को बताया गया है। इन सभी के साथ अंधविश्वासों को भी दिखाया गया है। शादी विवाह, जन्म, मृत्यु जैसी परिस्थितियों का भी चित्रण किया गया है। कोई छोटा-बड़ा किसी भी कारण से बीमार पड़ जाता है तो डॉक्टर के पास ले जाने की बजाय घर में ही जादू-टोना आदि पर विश्वास कर पूजा करते हैं। इस फिल्म में आइचुकति, खुमबार, कुचाङ, बयार, चिमलाङ आदि पात्र हैं। गाँव का चौधरी हाकोर केपेलेवो नामक मुताई को पूजा में देने के लिए भैंस खरीदता है और वाचेङ जैसे लोग भैंस चोरी कर लेते हैं। यह पूजा गाँव के स्वास्थ्य, सुख-समृद्धि, फसल आदि के लिए होती है। आज की युवा पीढ़ी पूजा से ज्यादा डॉक्टर को दिखाना जरूरी मानती है।

'जोरा' (समय) फिल्म 2017 में रिलीज की गई है। फिल्म के निर्देशक विमल देबबर्मा और निर्माता जुगल देबबर्मा, संगीत विश्वनाथ देबबर्मा है। यह फिल्म आधुनिक समय और समाज को लेकर बनाई गई है। यह प्रेम, शक, खून-खराबा, धोखा, अकेलेपन की कहानी है। 'सुराङ' (तिपरा समाज में बालों में लगाया जाने वाला पारंपरिक आभूषण) फिल्म का प्रकाशन 2007 में हुआ। निर्देशक विमल देबबर्मा हैं यह फिल्म प्रेमकथा पर आधारित है सुराङ जो नायिका है, वह अनाथ है। अपने मामा-मामी के साथ रहती है। मामी के द्वारा सताई जाती है। सुराङ का भाई को खाना खिलाना और भाई को रोते हुए कहता है कि तुम्हारे हाथ का एक निवाला खाकर ही मेरा पेट भर जाता है। सारी संपत्ति मामा-मामी के पास है। बयार बचपन का मित्र है जो सुराङ के सुख-दुख को समझता है। उससे प्रेम करता

है किंतु बयार बीमार होने के कारण कई महीने तक उससे मिलने नहीं आता। सुराङ समझती है कि बया ने उसे भुला दिया है और गुंडा के साथ उसकी शादी हो जाती है लेकिन अंत में बया लौटकर आता है किंतु अपाहिज बनकर। सुराङ का भाई मर जाता है तो बया ही उसे जलाने के लिए ले जाता है। कहानी का विषय बहुत ही यथार्थ है। इसे दो भागों में फिल्माया गया था। फिल्म की पृष्ठभूमि त्रिपुरा ही है। लामानो लाङमा, लाङमानों लामा (सड़क ही साँस, साँस ही सड़क) है, इस फिल्म को अगरतला दूरदर्शन केंद्र के द्वारा प्रकाशित किया गया है यह फिल्म त्रिपुरा के जनजातियों के जीवन व्यवस्था को लेकर बनाई गई है। समाई, सामपिलि, थोमपरा, कुलानचि, केराम, हेमता, डॉक्टर आदि पात्रों के माध्यम से यह दिखाया गया है कि गाँव के लोग किस प्रकार से सड़क और अस्पताल के आसपास न होने से कठिनाइयों का सामना करते हैं। उनके पास अस्पताल जाने के लिए कोई साधन नहीं है और किसी तरह से यदि घर से निकल भी जाते हैं तो बीच रास्ते में ही दम तोड़ देते हैं। यह कहानी साधारण मनुष्य के जीवन को दर्शाती है।

'कुथाङ कोथमा' फिल्म लोककथा पर आधारित है, इसमें तीन लोककथाओं को शामिल किया गया है। 2018 में 'त्रिपुरा रिसर्च एंड कल्चरल इंस्टीट्यूट गवर्नमेंट ऑफ त्रिपुरा' के द्वारा इसे प्रकाशित किया गया है। इस फिल्म का डायरेक्टर सुनील कलई है। कॉकबरक के इतिहास में इन लोककथाओं को हम युगों-युगों से दादा-दादी के मुँह से सुनते आए हैं और ऐसा लगता है जैसे यह आज भी हमारे बीच सांस लेते हैं। हर एक के मुँह से इन लोककथाओं को अलग-अलग तरीके से सुनते आए हैं। साथ ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्रदान करने के लिए यह सशक्त माध्यम है।

इन फिल्मों के अलावा भी और कई आधुनिक फिल्में हैं जो 2018, 2019 में बनाई गई हैं, जैसे- 'बुखा', 'हामजाकमा', 'आङसाबनि', 'कुचुक हासिकाम', 'ता केबेङदि', 'ईमाङ' आदि। इन फिल्मों की विषय वस्तु कॉकबरक भाषा-भाषियों के जीवन शैलियों पर ही आधारित है। कॉकबरक सिनेमा ने अभी बहुत लंबी यात्रा तय नहीं की है परंतु वह अपने प्रयास से नए विषयों को लेकर यथार्थ को और अपनी बात को दुनिया के सामने रखने का सफल प्रयास कर रही है। ऐसे बहुत से विषय हैं जिसके बारे में लोग नहीं जानते हैं और इन फिल्मों के द्वारा लोगों में नई चेतना व जागृति लाना ही फिल्म और निर्देशक-निर्माता का उद्देश्य है। आज इस समाज में जो विकास और उन्नति हो रही है इसका बहुत बड़ा योगदान फिल्म और मिडिया का है। यह समाज अपने विकास और उन्नति की राह में धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा है।

– मलांचा निवास, गवर्नमेंट क्वार्टर कॉम्प्लेक्स, ए. जी. ऑफिस के पास, टाइप-IV, ब्लॉक 14/34, अभय नगर, अगरतला, पश्चिमी त्रिपुरा-799005

❑❑❑

वैश्विक पटल पर पहचान बनाता असमिया सिनेमा

डॉ. अनुशब्द

सिनेमा एक सामुदायिक संचार माध्यम है। यह लोकसंचार की सबसे लोकप्रिय एवं सशक्त विधाओं में से एक है लोकमंगल एवं लोकरंजन के उद्देश्य से निर्मित इस विधा में साहित्य, संगीत एवं कला की त्रिवेणी समाई हुई है। भारत में सिनेमा का इतिहास वर्षों पुराना है। हिंदी सिनेमा के तो अभी हाल ही में सौ वर्ष पूरे हुए हैं। गौरतलब है कि भारत में क्षेत्रीय भाषाओं में निर्मित फिल्मों की भी अपनी एक समृद्ध एवं सुदीर्घ परंपरा रही है। यह दीगर बात है कि इन फिल्मों का दर्शक-वर्ग काफी सीमित है, बाजार छोटा है लेकिन विषय-वस्तु, प्रस्तुति एवं प्रभाव की दृष्टि से ये फिल्में किसी भी मायने में मुख्य धारा की फिल्मों से कमतर नहीं हैं। यह बात पूर्वोतर भारत की एकमात्र आधुनिक भारतीय आर्यभाषा असमिया में बनने वाली फिल्मों के संदर्भ में भी सोलह आने सही है। 1935 में आरंभ हुआ असमिया सिनेमा तब से अब तक कई सारे अहम् मुकामों को प्राप्त कर चुका है। कई सारी असमिया फिल्में सफलता के शिखर को छू चुकी हैं तथा भारतीय सिनेमा ही नहीं बल्कि विश्व सिनेमा के समक्ष नए कीर्तिमान और प्रतिमान स्थापित कर चुकी हैं हालांकि हिंदी फिल्मों के मुकाबले क्षेत्रीय भाषाओं की फिल्मों को लोग कम ही नोटिस करते हैं।

ध्यातव्य है कि वर्ष 2018 में जब एक असमिया फिल्म 'विलेज रॉकस्टार' ने सर्वश्रेष्ठ फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार अर्जित किया और फिर ऑस्कर के लिए नामांकित हुई तब अचानक से असमिया सिनेमा सुर्खियों में आ गया। इसके पहले तक तमिल, तेलुगु, कन्नड आदि फिल्मों की हिंदी में डबिंग होती रही है और देश के सभी हिस्सों में उनकी खासी लोकप्रियता भी रही है लेकिन राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय फलक पर असमिया सिनेमा द्वारा ऐसी उपलब्धि हासिल करना कई लोगों के लिए आश्चर्य की बात थी। इसकी एक प्रमुख वजह यह है कि देश का अधिकांश हिस्सा पूर्वोत्तर में बनने वाली फिल्मों से अनजान रहा है।

असमिया सिनेमा जिसे 'जॉलीवुड' के नाम से भी जाना जाता है, एक समृद्ध विरासत को स्वयं में समेटे हुए है। इसका इतिहास तो गौरवपूर्ण रहा ही है, वर्तमान उज्ज्वल और भविष्य संभावनाओं से भरा हुआ है। असम में सिनेमा की शुरुआत का एक बेहद दिलचस्प किस्सा प्रसिद्ध फिल्म निर्देशक और आलोचक 'अब्दुल मज़ीद' सुनाते हैं-

"असम में सिनेमा का इतिहास बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक से आरंभ हुआ जब गुवाहाटी के निवासियों को एक दक्षिण भारतीय व्यक्ति मेनन द्वारा लाई गई मूक फिल्म को देखने का सुअवसर मिला। गाँव से शहर में व्यापार के सिलसिले में या फिर कचहरी के काम से आने वाले लोग, मेनन की फिल्मों के दर्शक थे सिनेमा के इतिहास में इस पन्ने को जोड़ने वाले सिनेमा हॉल का नाम 'कामरूप सिनेमा' था। इस हॉल में मुख्यत: 'एम सी सेनेट' और 'चैपलीन' की फिल्में दिखाई जाती थीं। समय के साथ बोलती फिल्मों का चलन बढ़ा और कामरूप सिनेमा की चमक फीकी

पड़ने लगी और मेनन ने भी हमेशा के लिए असम छोड़ दिया।"

पहली असमिया फिल्म बनाने का श्रेय प्रसिद्ध असमिया कवि, संगीतकार और कलाकार रूपकुंवर ज्योति प्रसाद अगरवाला (1901-1951) को है। उनके नाम पर ही असमिया सिनेमा को 'जॉलीवुड' नाम दिया गया है। ज्योति प्रसाद अगरवाला ने फिल्म बनाने की शिक्षा जर्मनी से प्राप्त की और 1935 में पहली असमिया फिल्म 'जोयमति' बनाई। इस फिल्म की दो बड़ी खासियत यह है कि यह असमिया की पहली फिल्म होते हुए भी हिंदी की पहली फिल्म की तरह मूक नहीं है। 'जोयमति' की दूसरी बड़ी विशेषता यह है कि यह फिल्म औपनिवेशिक भारत में निर्मित होने के बावजूद ब्रिटिश औपनिवेशिकता के खिलाफ राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्र-प्रेम और बलिदान की भावना से ओत-प्रोत थी। इस फिल्म में अहोम राजकुमारी जोयमति की कहानी है जो अपने देश और पति की रक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दे देती है। उस दौर में जब फिल्मों में अदाकारी के लिए महिला कलाकार नहीं मिलती थी तब एक महिला केंद्रित फिल्म बनाना बहुत बड़ा कदम था, अपने आप में एक बहुत बड़ी चुनौती थी। खैर, ज्योति प्रसाद अगरवाला ने यह जोखिम उठाया। दुर्भाग्यवश 'जोयमति' फिल्म उतने दर्शक नहीं जुटा पाई और बुरी तरह असफल रही, लेकिन इसने असमिया सिनेमा की नींव तो तैयार कर ही दी।

1935 के बाद के वर्षों में असमिया सिनेमा में कई उतार चढ़ाव आए। इस बीच जो उल्लेखनीय फिल्में निर्मित-प्रदर्शित हुईं वे थीं- ज्योति प्रसाद अगरवाला की 'इंद्रमालती', रोहिणी कुमार बरुआ की 'मोनुमती', पार्वती प्रसाद बरुआ की 'रुपाही', कमल नारायण चौधरी की 'बदन बोरफूकन', सुरेश चंद्र गोस्वामी की 'रुनुमी' और फणि शर्मा की 'सिराज'। इन फिल्मों में 'सिराज' को काफी ख्याति मिली क्योंकि यह फिल्म धार्मिक सौहार्द पर बनी थी।

वर्ष 1950 असमिया सिनेमा के लिए काफी उल्लेखनीय रहा क्योंकि इसी वर्ष फणि शर्मा द्वारा निर्देशित फिल्म 'पियोली फूकन' ने क्षेत्रीय भाषा में बनी सर्वश्रेष्ठ फिल्म का राष्ट्रीय खिताब अपने नाम किया। यह फिल्म असम के प्रसिद्ध स्वतंत्रता सेनानी 'पियोली फूकन' के जीवन पर आधारित थी जिन्हें ब्रिटिश सत्ता का विरोध करने के कारण अंग्रेजों द्वारा मृत्यदंड दिया गया था। असमिया सिनेमा को समर्पित भारत सरकार के ब्लॉग पर इस बात का जिक्र मिलता है।

बीसवीं शताब्दी के पाँचवें दशक में ही असमिया सिनेमा के नभ में एक नए नक्षत्र का उदय हुआ जिसका नाम था निप बरुआ। फिल्म निर्माण के क्षेत्र में आने से पूर्व निप बरुआ एक प्रसिद्ध संगीतकार, बांसुरी वादक, फुटबॉलर और असम ट्रिब्यून में एक कार्टूनिस्ट भी थे। इन्होंने जो पहली फिल्म बनाई वह थी- 'स्मृति परश' (1957)। इनकी अन्य फिल्में थीं- 'माक आरु मोरोम' (1958) 'रंगा पुलिस', 'भक्त प्रह्लाद' (1959) 'अमार घर' (1961), नरकासुर' (1970), 'बरुर संसार' (1973) 'सोनेतारा' (1977), 'सोन्माई' (1978), 'मनिमा' (1980), 'अंजली नाबोऊ' (1983), 'कोका देउता नाती अरु हाती' (1984), 'शंकुतलना आरु शंकर जोसेफ अली' (1985), 'दादू नाती-ओ-हाती' (1986), 'अंटोनी मोर नाम' (1988), इंडी विकी सिने पर इन फिल्मों के निर्माण-वर्ष के बारे में संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

1950 के ही दशक में महान संगीतकार और गायन भूपेन हजारिका फिल्म निर्देशन के क्षेत्र में आए। उनके द्वारा निर्देशित फिल्म 'एरा बाटोर सुर' ने असमिया सिनेमा को एक नई ताजगी और दिशा दी। अपनी पहली फिल्म 'एरा बाटोर सुर' निर्देशित करने से पहले भूपेन हजारिका 'इप्टा' के सक्रिय सदस्य थे। 'इप्टा' हमेशा से आम आदमी और उसकी संवेदनाओं को केंद्र में रख कर काम करने वाली संस्था है। शायद यही वजह थी कि 'एरा बाटोर सुर' के केंद्र में चाय बगान में काम करने वाले लोगों की व्यथा-कथा का चित्रण हुआ था। संगीत से विशेष लगाव होने के कारण उनकी सभी फिल्में म्यूजिकल हिट होती थीं। भूपेन दा की फिल्मों का जिक्र किए बिना असमिया सिनेमा पर बात करना बेमानी होगा।

अपनी एक पुस्तक में प्रसिद्ध असमिया फिल्म समीक्षक मनोज बरपुजारी लिखते हैं कि- "दादा साहेब फाल्के पुरस्कार से सम्मानित गायक, संगीतकार, गीतकार भूपेन हजारिका जिन्हें बचपन से ही ज्योति प्रसाद अगरवाला का सानिध्य मिला; उनका असमिया सिनेमा

में बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान रहा। उनकी प्रमुख फिल्में हैं- 'एरा बटोरा सुर' (द ट्यून ऑफ द डेजर्टेड पाथ), 'प्रतिध्वनि' (द इको), 'लोतिघोतिआंद चिकमिक बिजुली' आदि।

क्षेत्रीय सिनेमा के रूप में असमिया सिनेमा लगातार नई उपलब्धियों की ओर अग्रसर रहा लेकिन उसे पहली बार अंतरराष्ट्रीय ख्याति मिली 1959 में, जब प्रभात मुखर्जी द्वारा निर्देशित फिल्म 'पुबेरून' को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर प्रसिद्धी मिली। बर्लिन फिल्म फेस्टिवल में इसकी स्क्रीनिंग ने अंतरराष्ट्रीय फलक पर असमिया सिनेमा को पहचान दिलाई। इस फिल्म की कहानी माँ-बेटे के रिश्ते पर आधारित थी और माँ की भूमिका निभाने वाली, ज्ञानोदा काकोति की जबरदस्त अदाकारी ने फिल्म में नई जान फूँक दी थी।

60 और 70 के दशक में असमिया सिनेमा में एक नया बदलाव नजर आया। इस दौर में बिल्कुल अलग-अलग जॉनरे की फिल्में रिलीज हुईं जिसमें बायोपिक, हास्य और थ्रिलर फिल्में शामिल थीं। सर्वेश्वर चक्रवर्ती की 'मनीराम दीवान' निप बरुआ की 'नरकासुर', डॉ. भूपेन हजारिका की 'शंकुतला', 'लोतिघोतिआंद चिकमिक बिजुली' जैसी बायोपिक फिल्में इसी दौर में बड़े परदे पर आईं। ब्रजेन बरुआ की पहली असमिया हास्य फिल्म 'एटू सीटू आरु बोहुटू' भी इसी दौर में रिलीज हुई। ब्रजेन बरुआ की ही 'डॉ. बेजबरुआ' पहली असमिया थ्रिलर फिल्म थी। इस फिल्म को अपार सफलता मिली। फिल्म की एक खास विशेषता यह भी थी कि इस फिल्म की पूरी शूटिंग असम में ही हुई थी।

70 और 80 के दशक में बनी असमिया फिल्मों को कई राष्ट्रीय पुरस्कार मिले। समरेंद्र नारायण देव की 'अरण्य', ब्रजेन बरुआ की 'ओपोजा सोनार माटी', अब्दुल मज़ीद की 'चमेली मेमसाब', अतुल बोरदोलई की 'कल्लोल' और डॉ. भबेंद्र नाथ सैकिया की 'संध्या राग' उन कुछ प्रमुख फिल्मों में शामिल थीं जिन्हें सर्वश्रेष्ठ क्षेत्रीय सिनेमा का राष्ट्रीय पुरस्कार दिया गया। 1976 में पदुम बरुआ की फिल्म रिलीज़ हुई 'गंगा सिलेनिर पारखी'। इस फिल्म ने असमिया सिनेमा मे कला फिल्मों को एक अलग ही मुकाम पर पहुँचा दिया। डॉ. लक्ष्मी नंदन बोरा के इसी नाम के उपन्यास पर आधारित यह फिल्म एक युवा महिला लक्ष्मी की कहानी कहती है जो अपने पति की मृत्यु के बाद अपने पूर्व प्रेमी धनंजय के साथ नए सिरे से जीवन शुरू करने के बारे में सोचती है लेकिन ऐसा हो नहीं पाता।

'गंगा सिलोनिर पाखी' के रिलीज़ होने के अगले वर्ष ही भबेंद्र नाथ सैकिया के अपने उपन्यास पर आधारित फिल्म 'संध्या राग' रिलीज हुई। लंदन विश्वविद्यालय से फिजिक्स में पी.एच.डी. करने वाले भबेंद्र नाथ सैकिया साहित्य अकादमी से पुरस्कृत लेखक, कहानीकार और निर्देशक थे। जब असमिया सिनेमा व्यावसायीकरण की तरफ मुड़ रहा था उस समय भबेंद्र नाथ सैकिया ने गंभीर कला फिल्में बनाईं। अपनी पहली फिल्म 'संध्या राग' के बाद उन्होंने सात अन्य फिल्में भी निर्देशित की। यथा- 'अनिर्बान', 'अग्निस्नान', 'कोलाहल', 'सारथी', 'अबर्तान', 'इतिहास' और 'कलासंध्या'। उनकी सभी फिल्में न सिर्फ असमिया सिनेमा बल्कि भारतीय सिनेमा में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

1982 में असमिया सिनेमा के क्षेत्र में एक ऐसी शख्सियत का आगमन हुआ जिसने असमिया फिल्मों की पूर्वस्थापित पहचान को एक नई दिशा दी। वह शख्सियत थी- जाह्नु बरुआ। आठ राष्ट्रीय पुरस्करों से सम्मानित जाह्नु बरुआ को हिंदी पट्टी वाले उनकी फिल्म- 'मैंने गांधी को नहीं मारा' के निर्देशन के लिए जानते हैं। जाह्नु बरुआ की प्रमुख फिल्में हैं- 'अपरूपा', 'हालोधिया सोराए बाओधान खाए' (इट्स लाँग वे टू सी), 'फिरींगति' (स्पार्क), 'कोनिकर रामधेनु' (राइड ऑन द रेनबो), 'बांधोन' (वेवस् ऑफ साइलेंस) आदि। 'हालोधिया सोराए बाओधान खाए' पहली असमिया फिल्म है जिसे सर्वश्रेष्ठ फिल्म के राष्ट्रीय पुरस्कार से नवाजा गया। इस फिल्म की कहानी एक किसान की है जिसकी जमीन पर लालची जमींदार कब्जा कर लेता है। अंग्रेजी सब टाइटल के साथ यह फिल्म 'द कैटस्ट्रोफे' नाम से प्रदर्शित हुई।

इस दौर की अन्य उल्लेखनीय फिल्में हैं- डॉ. भबेंद्र नाथ सैकिया की 'अग्निस्नान', 'कोलाहाल', 'सारथी', 'अबर्तान' आदि। इन फिल्मों को भी फिल्म-समीक्षकों और दर्शकों दोनों का प्यार मिला। इसके साथ ही शिव प्रसाद ठुकर, गौतम बोरा, संजीव हजारिका, मुनीत

बरुआ, शांतना बोरदोलई, मंजू बोरा आदि फिल्म निर्देशकों ने भी असमिया सिनेमा को अपने योगदान से समृद्ध किया।

2017 में असमिया सिनेमा ने एक नई करवट ली। जब रीमा दास निर्देशित फिल्म 'विलेज रॉकस्टार' को सर्वश्रेष्ठ फिल्म का राष्ट्रीय पुरस्कार मिला। जाह्नु बरुआ की 'हलोधिया सोराए बाओधान खाए' के बाद यह दूसरी असमिया फिल्म है जिसे सर्वश्रेष्ठ भारतीय फिल्म का स्वर्ण कमल प्राप्त हुआ। लंदन इंडियन फिल्म फेस्टिवल की ऑफिसियल वेबसाइट पर लिखा है कि रीमा दास स्व प्रशिक्षित फिल्म लेखिका, निर्देशिका और निर्मात्री हैं। असम के एक छोटे से गाँव से पली-बढ़ी रीमा दास अभी मुंबई और असम में रहती हैं। उनकी पहली फिल्म 'अंतर्दृष्टि' तालिन ब्लैक नाईट फिल्म फेस्टिवल 2016 में और मिआमी फिल्म फेस्टिवल मुंबई में प्रदर्शित हुई। उनकी दूसरी फिल्म 'विलेज रॉकस्टार' का वर्ल्ड प्रीमियर टोरंटो फिल्म फेस्टिवल में हुआ और यह फिल्म सेन सेबेस्टियन में हुए न्यू डायरेक्टर कंपटीशन में भी शामिल हुई।

'विलेज रॉकस्टार' एक दस वर्षीय लड़की धुनु की कहानी है जो अपनी माँ के साथ एक पिछड़े गाँव में रहती है। धुनु अपना एक बैंड बनाना चाहती है जिसमें वह एक गिटारिस्ट बनना चाहती है। क्या अभावों में पल रही धुनु का ये ख्वाब पूरा हो पाता है? फिल्म इसी सवाल का जवाब तलाशती है। रीमा दास की तीसरी फिल्म 'बुलबुल कैन सिंग' भी अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बहु-प्रशंसित रही। यह फिल्म तीन किशोरों की दोस्ती, ख्वाब और उनकी समस्याओं पर आधारित है। मानव मनोविज्ञान को बेहद बारीकी से व्यक्त कर पाने में रीमा दास का कोई सानी नहीं है।

असमिया सिनेमा पर कोई भी चर्चा 'आमिष' फिल्म की चर्चा के बिना मुकम्मल नहीं है। 2019 में आई भाष्कर हजारिका की फिल्म 'आमिष' से पहले भाष्कर हजारिका की एक और फिल्म आ चुकी है- 'कोथानदी'। असम की लोक-कथाओं पर आधारित इस फिल्म को भी समीक्षकों का बेहद प्यार मिला लेकिन 'आमिष' ने तो जैसे असमिया सिनेमा को एक नई ऊँचाई पर पहुँचा दिया। रिलीज होने के पहले से ही सुर्खियों में रही इस फिल्म ने देश-विदेश के फिल्म समीक्षकों और आलोचकों से प्रशंसा तो पाई ही, आम दर्शकों को भी यह फिल्म बेहद पसंद आई। इंडियन एक्सप्रेस में प्रकाशित एक आलेख में 'आमिष' के बारे में लिखा गया कि- "आमिष, अपने समय के रोमांस पर बनी अब तक की सबसे बोल्ड फिल्मों में से एक है। जिसे देखकर अनुराग कश्यप जैसे फिल्म निर्देशक भी यह कहने को मजबूर हो गए कि उन्होंने भारत में अब तक ऐसा कुछ नहीं देखा है 108 मिनट लंबी यह फिल्म एक विवाहित प्रौढ़ महिला निर्माली और एक युवा पीएचडी स्टूडेंट सुमन के रिश्तों पर आधारित है। सुमन का ऐसा मानना है कि ऐसा कोई भी खाना नहीं है जिसे असामान्य माना जाए और निर्माली इस विचार से सहमत है। बार-बार की मुलाकातों से दोनों को शीघ्र पता चलता है कि उन दोनों का भोजन से एक खास लगाव है खास कर मीट से। यह लगाव धीरे-धीरे एक नया रूप ले लेता है और फिर शुरू होती है नैतिकता और सामाजिक नियमों को परे धकेलती हुई एक प्रेम कहानी।"

'आमिष' फिल्म का वर्ल्ड प्रीमियर 'ट्रिबेका फिल्म फेस्टिवल में हुआ और इसे वहाँ आठ श्रेणियों में नामांकित किया गया। इस फिल्म ने देश के भीतर और बाहर के दर्शकों को अपने अलग कथ्य और ट्रीटमेंट से चकित कर दिया। क्षेत्रीय भाषा में निर्मित इस फिल्म ने इस श्रेणी के अंतर्गत बनने वाली फिल्मों के लिए एक नई आशा और अपार संभावनाओं के मार्ग को प्रशस्त किया।

बहरहाल, 1935 में शुरू हुआ असमिया सिनेमा लगातार प्रगति के पथ पर अग्रसर है तथा नूतन प्रयोगों को अपनाकर अपनी संस्कृति की रक्षा करते हुए नए विषय, नए कथ्य और नई दिशाओं को फिल्मी चित्रपटल पर उतारने और उकेरने के लिए प्रतिबद्ध है। रूपकुंवर ज्योति प्रसाद अगरवाला ने इस जनतांत्रिक विधा के माध्यम से जनचेतना का जो बीड़ा उठाया था वह एक परंपरा की तरह असमिया सिनेमा में लगातार कायम है। किसी क्षेत्रीय सिनेमा का राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय पटल पर लगातार अपनी पहचान बनाए रखना किसी चुनौती से कम नहीं है। प्रतिस्पर्धा के इस युग में श्रेष्ठता की

साख को बचाए और बनाए रखना वाकई कोई आसान काम नहीं। असमिया सिनेमा नि:संदेह इसमें सफल रहा है। असमिया सिनेमा का यही उत्साह और निर्माता-निर्देशकों की लगातार कुछ बेहतर तथा नया करने की जिद असमिया सिनेमा के उज्ज्वल भविष्य एवं आयुष्य के प्रति, वैश्विक स्तर पर श्रेष्ठ सिनेमा के रूप में उसकी पहचान के प्रति हमें आश्वस्त करती है।

– हिंदी विभाग, तेजपुर विश्वविद्यालय, तेजपुर, असम

❑❑❑

गुजराती सिनेमा - एक मूल्यांकन

डॉ. वर्षा सोलंकी

बुनियादी रूप में सारी दुनिया में आज सिनेमा समाज के मनोरंजन का एक व्यापक माध्यम है। एक भी ऐसा सामाजिक क्षेत्र नहीं है जहाँ सिनेमा का प्रभाव नहीं है। सामाजिक ही नहीं बल्कि राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक, साहित्यिक और कलात्मक क्षेत्र तक उससे छूटा हुआ नहीं है।

विश्व सिनेमा के इतिहास पर नज़र डालें तो 28 दिसंबर 1895 के दिन दुनिया की पहली प्रोफेशनल फिल्म पेरिस के ग्रैंड कैफे में दिखाई गई थी। यह फिल्म फ्रांस के दो भाई लूईस और अगस्टे ब्रदर्स ने बनाई थी।

पेरिस में विश्व का प्रथम फिल्म शो हुआ उसके ठीक छह महीनों में ही भारत में उसका आगमन हुआ। 7 जुलाई 1896 को मुंबई के वॉटसन होटल में प्रथम फिल्म शो का आयोजन हुआ। लुम्येर ब्रदर्स की फिल्म के प्रदर्शन से बहुत अधिक प्रभावित होकर दादा साहेब फाल्के ने भारत की पहली मूक लंबी फिल्म 'राजा हरिश्चंद्र' बनाई जो सन् 1913 में प्रदर्शित हुई। 1920 के दशक की शुरुआत में कई नई फिल्म निर्माण करने वाली कंपनियाँ उभरकर सामने आईं। इसके बाद 1931 में 'आलम आरा' से टॉकी मूवी का आरंभ हुआ। उसके बाद क्षेत्रीय फिल्मों का विकास होने लगा। जिसमें पहली बांग्ला फिल्म 1917 में 'नल दमयंती' बनी। बाद में दक्षिण भारतीय भाषा के अलावा असमिया, ओड़िया, पंजाबी, मराठी, गुजराती और अन्य भाषाओं में क्षेत्रीय फिल्मों का निर्माण हुआ।

समय के साथ हिंदी सिनेमा की तस्वीर भी बदल रही है। आज फिल्मों को लेकर नए-नए प्रयोग हो रहे हैं। जिनमें क्षेत्रीय भाषाओं का चयन भरपूर मात्रा में हो रहा है। हालांकि ये प्रयोग बॉलीवुड में पहले से ही होते आ रहे हैं। लेकिन आज कल ये प्रयोग बढ़ गए हैं। 1934 में जब हिंदी फिल्मों का सफर शुरू हुआ तो हिंदी भाषा अपने असली रूप में थी, पर आज 'पानसिंह तोमर', 'उडता पंजाब', 'तनु वेड्स मनु', 'गैंग्स ऑफ वासेपुर' जैसी फिल्मों ने हिंदी सिनेमा में भाषा के ट्रेंड को बदला और फिल्मों में हिंदी के साथ ही क्षेत्रीय भाषा का उपयोग होने लगा।

समय की मांग को देखते हुए क्षेत्रीय फिल्मों का निर्माण होना जरूरी समझकर क्षेत्रीय भाषा की फिल्मों का उद्‌भव हुआ।

गुजरात में गुजराती फिल्म उद्‌योग की शुरुआत 1932 में हुई। गुजराती सिनेमा भारत के सिनेमा के प्रमुख क्षेत्रीय और स्थानीय फिल्म उद्‌योगों में से एक है। उस समय पहली गुजराती टॉकी 'नरसिंह मेहता' बनी थी। 1947 में भारत की स्वतंत्रता से पहले तक बारह फिल्मों का निर्माण हुआ था। 1940 के दशक में संत सती या डकैतों पर आधारित कहानियों के साथ-साथ पौराणिक कथाओं और लोक कथाओं पर केंद्रित फिल्म निर्माण में तेजी आई। 1950-60 के दशक में गुजरात सरकार ने कर छूट और सब्सिडी की घोषणा की जिसके फलस्वरूप फिल्मों की संख्या में वृद्‌धि हुई। वर्तमान समय में गुजराती सिनेमा की कहानियाँ पुराणों, इतिहास, समाज और राजनीति पर आधारित होती हैं। अपने उद्‌भव से ही गुजराती फिल्मकारों ने भारतीय समाज के मुद्‌दों और कहानियों के साथ नए-नए प्रयोग किए हैं। गुजराती फिल्मों की स्क्रिप्ट और कहानियाँ

आंतरिक रूप से मानवीय होती हैं। ये रिश्तों और पारिवारिक विषयों के साथ मानवीय आकांक्षाओं को भारतीय परिवारों के संदर्भ में देखती हैं।

पहली गुजराती फिल्म नानुभाई वकील द्वारा निर्देशित 'नरसिंर मेहता' (1932) में बनी थी। 1948, 1950, 1968 और 1971 में गुजराती सिनेमा के कुछ नए आयाम स्थापित हुए। वर्तमान में गुजराती फिल्में आधुनिकता की समस्याओं के प्रसंग पर चर्चा करती हैं।

जून 2018 में आई 'रेवा' फिल्म गुजराती कथाकार ध्रुव भट्ट की नवलकथा 'तत्वमसि' पर आधारित थी। 'रेवा' एक नदी का नाम है जो मध्यप्रदेश में अमरकंटक से निकलकर खंडवा से गुजरते हुए महाराष्ट्र से होती हुई गुजरात के भरूच शहर की पश्चिमी दिशा में खभात की खाड़ी में गिरकर अरब सागर में विलीन हो जाती है। 'रेवा' का दूसरा नाम 'नर्मदा' है। यह 'रेवा' फिल्म माँ नर्मदा नदी के इर्द-गिर्द घूमने वाले सांस्कृतिक मूल्यों का प्रतिनिधित्व करती है। भारत में चार नदियों को चार वेदों के रूप में माना गया है। गंगा को ऋग्वेद, यमुना को यजुर्वेद, सरस्वती को अथर्ववेद और नर्मदा को सामवेद। सामवेद कलाओं का प्रतीक है।

राहुल भोले और विनीत कनौजिया द्वारा बनाई गई यह गुजराती एडवेंचर ड्रामा फिल्म में चेतन धानानी और मोनल गज्जर ने किरदार निभाया है। फिल्म की कहानी पारिवारिक और साफ सुथरी है। जिसमें कहानी का मुख्य किरदार करन 25 वर्षीय युवक जो कि विदेश में ही जन्मा और वहीं पला बढ़ा है। उसके दादा जी का आश्रम नर्मदा नदी के तट पर बना हुआ है। जिसका पूरा कारोबार करन के दादा जी संभालते थे। अब जब दादा जी नहीं रहे तो करन आश्रम को बेचकर उसकी संपत्ति लेना चाहता है क्योंकि दादा जी ने मरने से पहले बड़ी रकम आश्रम को दान में दे दी थी। पर जब करन आश्रम में आता है तो आश्रम के रीतिरिवाज तथा माँ नर्मदा के प्रति लोगों की श्रद्धा भक्ति देखकर नर्मदा नदी के तट पर बने आश्रम में ही रुक जाता है तथा नर्मदा नदी की परिक्रमा करने निकल पड़ता है। जिस बच्चे ने कभी माँ का प्यार नहीं देखा ऐसा करन फिल्म का नायक भी नर्मदा की गोद में अपने जीवन को समर्पित करता है।

नदी के महत्व को दर्शाते हुए इस फिल्म ने बॉक्स ऑफिस पर अधिकतम मुनाफा कमाकर गुजराती सिने रसिकों को एक नए परिदृश्य से मनोरंजन कराया। यह फिल्म 66वें नेशनल फिल्म एवार्ड में शामिल गुजरात की बेस्ट फिल्म की कैटेगरी में शामिल हुई।

इस फिल्म के गाने फिल्म के नायक चेतन धानानी ने लिखे हैं। यह निकट भविष्य में हिंदी में तैयार होकर दर्शकों के सामने आएँगे। इस फिल्म के गानों ने गुजरात में धूम मचाई थी। नए आधुनिक गानों के साथ एक गुजराती लोकगीत भी है जो गुजरातियों के लोकमुख से विभिन्न अवसरों पर गाया जाता है। हिंदी में इस लोकगीत को गुजराती में ही रखा गया है। केवल हिंदी सिनेमा देखने वाले दर्शकों ने भी इस फिल्म को बड़े ही चाव से देखा तथा पसंद भी किया। केवल नदी की महत्ता को दर्शाने वाली इस फिल्म की खासियत यही है कि फिल्म पहले सीन से लेकर आखिरी सीन तक दर्शकों का ध्यान हटने नहीं देती। हिंदी सिनेमा रसिकों ने भी इस फिल्म को सराहा एवं आनंद लिया। इसी के चलते आज के नए फिल्मकारों को भी बिल्कुल अलग विषय पर फिल्म बनाने का नया विचार इस 'रेवा' फिल्म से मिला। फिल्म में गाँव का परिदृश्य बिल्कुल देहाती भाषा के संवाद तथा आधुनिकता से कोसों दूर रही इस फिल्म को आज के युवाओं ने भी पसंद किया।

इस फिल्म से लग रहा है कि आने वाले समय में क्षेत्रीय भाषा में गुजराती फिल्में ऊँचे फलक पर अपना नाम दर्ज कराएँगी एवं नई पीढ़ी के लिए फिल्मांकन के लिए नए विषय वस्तु को अपनाकर गुजराती फिल्म इंडस्ट्री में अपना एक खास मुकाम हासिल करेगी।

– डी-7, इनकम टैक्स कॉलोनी, न्यू सिविल हॉस्पिटल के सामने, मजूरा गेट, सूरत

❑❑❑

हिंदी सिनेमा और शेक्सपीयर का साहित्य

डॉ. अनुराधा पांडेय

शेक्सपीयर (26 अप्रैल 1564-23 अप्रैल 1616) पाश्चात्य साहित्य में अंग्रेजी भाषा साहित्य के विश्व प्रसिद्ध नाटककार थे। शेक्सपीयर 16वीं शताब्दी के ऐसे नाटककार और कवि थे जिन्होंने अंग्रेजी भाषा साहित्य के क्षेत्र में अपने मानक स्थापित किए। यह समय रेनेसांस का था। इस दौरान बड़ा बदलाव दो समयावधियों के बीच हो रहा था। समाज, साहित्य, संस्कृति और राजनैतिक परिस्थितियों में बदलाव हो रहे थे। इस समय सामंती वर्ग का ह्रास हुआ तो एक नया वर्ग भी उदित हुआ। इसी दौरान सामंतवाद का भी उन्मूलन हुआ और चर्च का प्रभुत्व टूटा। इन सभी परिस्थितियों के बीच शेक्सपीयर का जन्म हुआ था। शेक्सपीयर को रेनेसांस की उपज माना जाता है। इनके साहित्य में भी तत्कालीन समाज का चित्रण किया गया है। इनके नाटकों में विशेष रूप से राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितयों का चित्रण मिलता है शेक्सपीयर के साहित्य से तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को जाना-समझा जा सकता है। हिंदी साहित्य में शेक्सपीयर का अनुवाद हिंदी साहित्य लेखन की शुरुआत से ही प्रारंभ हो जाता है। हिंदी साहित्य में विशेषकर नाटक विधा के प्रारंभ में शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद बड़े पैमाने पर किया गया। यह अनुवाद अंतरभाषाई अनुवाद था। हिंदी भाषा के प्रणेता भारतेंदु ने शेक्सपीयर के नाटकों का अनुवाद किया। हिंदी सिनेमा में शेक्सपीयर का अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद लगभग हिंदी सिनेमा के विकास के साथ ही शुरू हो जाता है। पारसी थियेटर में शेक्सपीयर के नाटकों का बड़े पैमाने पर अनुवाद और मंचन किया गया। लेकिन यह अनुवाद सही था या रूपांतरण मात्र भाषिक अंतरण था इसे निर्धारित करना बहुत आवश्यक है। शेक्सपीयर के नाटकों का जब हिंदी सिनेमा में रूपांतरण होने लगता है तो इस प्रक्रिया को यदि अनुवाद सिद्धांत की दृष्टि से संबोधित किया जाए तो यह अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद की श्रेणी में आएगा।

हिंदी सिनेमा के विकास में शेक्सपीयर के नाटकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यह शुरुआत पारसी थियेटर के रूपांतरण से हुआ। प्रारंभ में पारसी थियेटर द्वारा जो भी अनुवाद हुए उनमें बहुत से दोष रहे हैं। इसलिए इन्हें अनुवाद की श्रेणी में रखना मुश्किल है। लेकिन पारसी थियेटर के इन रूपांतरणों के माध्यम से हिंदी सिनेमा जगत में बहुत फिल्में बनीं। हिंदी सिनेमा में शेक्सपीयर के साहित्य को आधार बनाकर जो फिल्में निर्मित हुई हैं उनकी शृंखला बहुत लंबी है। लेकिन ये सभी फिल्में शेक्सपीयर के साहित्य का पूर्ण और सफल अनुवाद नहीं हैं। हिंदी सिनेमा के विकास के समय से लेकर वर्तमान समय में भी शेक्सपीयर के नाटकों पर फिल्में बनाई जा रहीं हैं, लेकिन इन फिल्मों को अनुवाद की श्रेणी में रखने से पूर्व इनकी कोटि का निर्धारण किया जाना बहुत ही आवश्यक है। शेक्सपीयर के नाट्य साहित्य को आधार मानकर जिन फिल्मों को अनुवाद कहा जाता है उनकी सूची क्रमशः है- 'खून का खून' यह फिल्म सन् 1935 में बनी। इस फिल्म को हैमलेट नाटक का रूपांतरण माना जाता है। यह फिल्म सोहराब मोदी के निर्देशन में बनी थी। इस फिल्म को नाटक का रूपांतरण नहीं माना जा सकता। 'काफिर-ए-इश्क' फिल्म

सन् 1936 में बनी। इस फिल्म को एंटोनी एंड क्लियोपेट्रा नाटक का रूपांतरण माना जाता है। इस फिल्म का निर्देशन अनवरुद्दीन मखलिस ने 'काली नागन' या 'जान मुरीद' के नाम से किया था इसका हिंदी अनुवाद 'नास्तिक प्रेम' के नाम से भी उद्धृत किया गया है। 'पाक दामन या शहीद-ए- नाज़' फिल्म सन् 1940 में बनी। इस फिल्म को मेजर फॉर मेजर नाटक का रूपांतरण माना जाता है। इसका रूपांतरण पारसी थियेटर के लिए किया गया था। यह फिल्म रुस्तम मोदी के निर्देशन में बनी थी। ये दोनों ही फिल्में अनुपलब्ध हैं। लेकिन फिल्मों पर मिले कथानक या सारांश की दृष्टि से इन्हें समतुल्य रूपांतरण माना जा सकता है।

'जालिम सौदागर' फिल्म सन् 1941 में बनी। इस फिल्म को 'मर्चेंट ऑफ वेनिस' नाटक का रूपांतरण माना जाता है। इसकी प्रस्तुति कोलकाता की राधा फिल्म कंपनी द्वारा की गई थी। यह फिल्म जे. जे. मदन के निर्देशन में बनी थी इसके संवाद और कहानी पंडित भूषण ने लिखी थी। यह फिल्म नाटक के कथानक का समतूल्य रूपांतरण है। 'आन' फिल्म सन् 1952 में बनी। इस फिल्म को रोमियो एंड जूलियट नाटक का रूपांतरण माना जाता है और यह फिल्म महबूब खान के निर्देशन में बनी थी। इस फिल्म को नाटक का रूपांतरण नहीं माना जा सकता। 'हैमलेट' फिल्म सन् 1954 में बनी। इस फिल्म को हैमलेट नाटक का रूपांतरण माना जाता है। यह फिल्म किशोर साहू के निर्देशन में बनी थी। नाटक और फिल्म को तुलनात्मक रूप में देखा जाए तो यह नाटक के समतुल्य है। इसमें पात्रों के नाम भी समान ही रखे गए हैं। 'आशा' फिल्म सन् 1957 में बनी थी। यह रंगीन फिल्म थी। इस फिल्म को हैमलेट नाटक का रूपांतरण माना जाता है। यह फिल्म एम. वी. रमन के निर्देशन में बनी थी। इस फिल्म को नाटक का रूपांतरण नहीं माना जा सकता।

'द टेमिंग ऑफ द श्रू' नाटक के आधार पर हिंदी सिनेमा में बहुत सी फिल्में बनीं जैसे 'चोरी-चोरी' सन् 1956 में अनंत ठाकुर के निर्देशन में बनी। 'जंगली' फिल्म 1961 में सुबोध मुखर्जी के निर्देशन में बनी। राजा नवाथे के निर्देशन में सन् 1973 में 'मनचली' फिल्म बनी। प्रयाग राज ने 'पोंगा पंडित' नाम से सन् 1975 में फिल्म बनाई। राजकुमार ने 'नौकर बीवी का' फिल्म स्न 1989 में बनाई। इसी तर्ज पर सन् 1983 में राहुल रावली के निर्देशन में 'बेताब' फिल्म बनी। मनमोहन देसाई के निर्देशन में सन् 1983 में 'मर्द' फिल्म बनी। ये सभी फिल्में शेक्सपीयर के नाटक के थीम पर आधारित मानी जाती हैं। इन फिल्मों में मूल नाटक के समान स्त्री पात्र को दिखाया गया है जो बहुत ही लड़ाकू, वाचाल, मनमौजी और जिद्दी स्वभाव की होती है लेकिन नाटक के अंत में नायक उसे अपने बल से नियंत्रण में कर लेता है। हिंदी फिल्मों में बल के स्थान पर प्रेम को साधन बनाया गया है। उपरोक्त फिल्मों की नायिकाएँ भी अपनी इच्छानुसार जीवन जीना पसंद करती हैं। वे अपने जीवन में किसी भी पुरुष का हस्तपेक्ष स्वीकार नहीं करना चाहती लेकिन प्रेम द्वारा उन्हें अंततः अपने आप को बदलना पड़ता है। इन फिल्मों में नाटक के इसी मूल सार को अंतरित करने का प्रयास किया गया है। लेकिन इनमें से कोई भी फिल्म नाटक का समतुल्य रूपांतरण नहीं है।

'दो दूनी चार' फिल्म सन् 1968 में बनी। इसे 'द कॉमेडी ऑफ एरर्स' नाटक का रूपांतरण माना जाता है। यह फिल्म देबू सेन के निर्देशन में बनी थी। यह फिल्म दो जुड़वा होने से प्रकट होने वाली विसंगतियों और समस्याओं को दिखाने का प्रयत्न करती है। फिर भी यह फिल्म नाटक का समतूल्य रूपांतरण नहीं है। 'अंगूर' फिल्म सन् 1981 में बनी। इस फिल्म को भी 'द कॉमेडी ऑफ एरर्स' का रूपांतरण माना जाता है। यह फिल्म गुलजार के निर्देशन में बनी थी। यह फिल्म नाटक के कथानक से पूर्णतः साम्य बनाए हुए है। इसमें स्थान एवं पात्रों के नामों का भारतीयकरण कर दिया गया है लेकिन रूपांतरण की दृष्टि से यह फिल्म सफल रही है।

'एक दूजे के लिए' फिल्म सन् 1981 में बनी। इस फिल्म को 'रोमियो एंड जूलियट' नाटक का रूपांतरण माना जाता है। यह फिल्म के. बालचंदर के निर्देशन में बनी थी। 'कयामत से कयामत तक' फिल्म सन् 1988 में बनी। इस फिल्म को भी 'रोमियो एंड जूलियट' नाटक का रूपांतरण माना जाता है। यह फिल्म मंसूर खान के निर्देशन में बनी थी। ये दोनों ही फिल्में प्रेम के दुखांत अंत के रूप में मानी जा सकती हैं। हालांकि मूल नाटक के कई प्रसंगों को इन फिल्मों में

रूपांतरित नहीं किया गया है। इसलिए इन्हें रोमियों एंड जूलियट नाटक का फिल्मी रूपांतरण समतुल्य रूप में नहीं माना जा सकता। 'मकबूल' फिल्म सन् 2003 में बनी। इस फिल्म को 'मैकबेथ' नाटक का रूपांतरण माना जाता है और यह फिल्म विशाल भारद्वाज के निर्देशन में बनी थी। इस फिल्म में कई बिंदुओं का भारतीयकरण करते हुए रूपांतरण किया गया है। हालांकि मूल नाटक के विषय को प्रकारांतर से अथवा लक्षणा रूप में रूपांतरित किया गया है। राजनीति, पाप-पुण्य, प्रेम आदि जैसे प्रसंगों को सफल रूप देने का प्रयास माना जा सकता है लेकिन नाटक के कथानक से समतुल्य नहीं। 'ओंकारा' फिल्म सन् 2006 में बनी। इस फिल्म को 'ओथेलो' नाटक का रूपांतरण माना जाता है और यह फिल्म भी विशाल भारद्वाज के ही निर्देशन में बनी थी। मूल नाटक स्त्री पात्र की वेदनाओं और पितृसत्तात्मक समाज की विद्रूपताओं का कच्चा चिट्ठा है। फिल्म में कथानक का भारतीयकरण करते हुए मूल संदेश को हर दृष्टि से रूपांतरित करने का सफल प्रयास दृष्टिगोचर होता है। मूल नाटक का अंतरप्रतीकात्मक रूपांतरण की दृष्टि से सिनेमा में इससे बेहतर रूपांतरण बहुत कम देखने को मिल सकता है। इस रूप में इस फिल्म को नाटक का सफल और समतुल्य रूपांतरण माना जा सकता है।

'10 एमएल लव' फिल्म सन् 2010 में बनी। इस फिल्म को 'अ मिडसमर नाइट्स ड्रीम' नाटक का रूपांतरण माना जाता है और यह फिल्म शरत कटारिया के निर्देशन में बनी थी। यह नाटक स्वयं में ही भ्रमित रूप में दिखता है। इसमें कई प्रसंग आपस में उलझे हुए हैं। स्वप्न, परियाँ, बौने जादुई पेड़, जादुई फूल, जादुई चरित्रों की भरमार है इस नाटक में। इस नाटक पर आधारित इस फिल्म में भी कुछ प्रसंगों को रूपांतरित करने की कोशिश की गई है लेकिन नाटक की तुलना में फिल्म में वास्तविकता ज़्यादा देखने को मिलती है। इस फिल्म को नाटक के कुछ हिस्सों का समतुल्य रूपांतरण माना जा सकता है।

'इश्कजादे' फिल्म सन् 2012 में बनी। इस फिल्म को 'रोमियो एंड जूलियट' का रूपांतरण माना जाता है और यह फिल्म हबीब फैसल के निर्देशन में बनी थी। 'इश्क' फिल्म सन् 2013 में बनी। इस फिल्म को 'रोमियो एंड जूलियट' नाटक का रूपांतरण माना जाता है और यह फिल्म मनीष तिवारी के निर्देशन में बनी थी। इस फिल्म को मूल नाटक के कथानक का सफल रूपांतरण माना जा सकता है। हालांकि अभिनय के स्तर पर फिल्म बहुत सफल नहीं रही है लेकिन 'रोमियो एंड जूलियट' पर हिंदी सिनेमा में अभी तक जितनी भी फिल्में बनी हैं उनकी तुलना में यह फिल्म ही कथानक के सर्वाधिक समतुल्य रही है। 'गोलियों की रासलीला रामलीला' फिल्म सन् 2013 में बनी थी। इस फिल्म को भी 'रोमियो एंड जूलियट' नाटक का रूपांतरण माना जाता है। यह फिल्म संजय लीला भंसाली के निर्देशन में बनी थी। इस फिल्म में कई बिंदुओं को आधुनिकता से जोड़ते हुए दिखाया गया है जबकि मूल नाटक का प्रसंग लगभग कई सौ वर्षों पुराना है। इसके बावजूद भी प्रेम के प्रसंग को, परिवार के विवाद को आधुनिक दृष्टि से सही माना जा सकता है लेकिन रूपांतरण की दृष्टि से यह फिल्म असफल रही है।

'हैदर' फिल्म सन् 2014 में बनी थी। इस फिल्म को 'हैमलेट' नाटक का रूपांतरण माना जाता है। यह फिल्म विशाल भारद्वाज के निर्देशन में बनी थी। उस फिल्म को सफल रूप में दिखाया गया है। हालांकि स्थान, परिवेश आदि का भारतीय परिस्थितियों के हिसाब से भारतीयकरण करते हुए अच्छा इमप्रोवाइजेशन किया गया है। फिल्म के कुछ प्रसंग नाटक से बिल्कुल ही भिन्न हैं।

'जिगरिया' फिल्म सन् 2014 में बनी थी। इस फिल्म को 'रोमियो एंड जूलियट' नाटक का रूपांतरण माना जाता है। यह फिल्म राज पुरोहित के निर्देशन में बनी थी। इस फिल्म में प्रेम के साथ वर्तमान दौर में किए जाने वाले जाति, वर्ग के विभेद से जोड़ते हुए दिखाया गया है। इस फिल्म का अंत दुखांत है। लेकिन नाटक के कथानक की दृष्टि से फिल्म का प्रसंग बहुत ही भिन्न है।

हिंदी सिनेमा के विकास में अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। शेक्सपीयर का साहित्य हिंदी थियेटर के विकास के साथ-साथ हिंदी सिनेमा के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। साहित्य के विभिन्न दृष्टिकोणों से शेक्सपीयर के साहित्य का अध्ययन हिंदी सिनेमा के साथ जोड़कर किया गया है, लेकिन

अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद की दृष्टि से यह विषय अछूता है। हिंदी सिनेमा में शेक्सपीयर के नाटकों का रूपांतरण या फिर उन पर आधारित जो भी फिल्में बनी हैं उस दृष्टि से नाटक एक अलग विधा है और सिनेमा अलग। इन दोनों के बीच में अपनी-अपनी संभावनाएँ और समस्याएँ हैं। नाटक के माध्यम से कुछ चीजें अच्छे तरीके से प्रस्तुत की जा सकती हैं लेकिन कुछ नहीं। तकनीकी विकास के कारण सिनेमा के माध्यम से किसी नाटक को प्रस्तुत किया जाता है तो उसमें कुछ संभावनाएँ बढ़ जाती हैं तो कुछ समस्याएँ भी हो सकती हैं। सिनेमा के माध्यम से नाटकों की अपेक्षा बहुत अधिक दर्शकों को एक ही बार में जोड़ा जा सकता है। नाटक में दर्शक सीधे तौर पर अपने सामने चरित्रों को अभिनय करते हुए देखता है। उसका पात्रों से आमने-सामने संपर्क स्थापित होता है जबकि सिनेमा में एक दूरी बनी रहती है। नाटक कम खर्च में तैयार किया जा सकता है जबकि फिल्मों के निर्माण में बहुत पैसा लगता है। शेक्सपीयर ने अपने नाटकों के लिए एक खास प्रकार के स्टेज का निर्माण किया था जिसे 'ग्लोब थियेटर' के नाम से जाना जाता है। यह थियेटर बहुत प्रसिद्ध रहा। इस प्रकार जब फिल्में हिंदी सिनेमा जगत में बनाई जा रहीं हैं, तो उनकी पूरी तकनीकी व्यवस्था को निर्देशकों ने अपने देश व भाषा के हिसाब से बदल दिया है शेक्सपीयर का साहित्य पाश्चात्य साहित्य है जो समाज, संस्कृति, मान्यता, रीति-रिवाज, पोशाक, खान-पान इस तरह के कई सारे मुख्य बिंदुओं पर भिन्न है लेकिन हिंदी भाषा में जो भी फिल्में बनीं हैं उनमें से अधिकतर का भारतीयकरण कर दिया है।

अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद सिद्धांत की दृष्टि से हिंदी सिनेमा के क्षेत्र में शेक्सपीयर के साहित्य पर आधारित जितनी भी फिल्में बनीं हैं वे सभी इस सिद्धांत के अंतर्गत आती तो हैं लेकिन वे सफल और समतुल्य रूपांतरण नहीं हैं। साथ ही हिंदी सिनेमा के विकास में अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद का स्थान महत्वपूर्ण रहा है। अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद अथवा रूपांतरण हेतु सिद्धांत और नियम हैं और इन्हीं सिद्धांतों व नियमों के आधार पर शेक्सपीयर के नाटकों का रूपांतरण मूल-तत्व को रूपांतरित किए जाने की दृष्टि से किया जाना चाहिए। शेक्सपीयर पर अंग्रेजी साहित्य में अनगिनत पुस्तकें लिखी गई हैं और शेक्सपीयर के नाटकों की राजनीति, स्त्री चित्रण और थियेटर एवं शेक्सपीयर का रंग-मंच आदि की दृष्टि से कई शोध भी हुए हैं लेकिन अनुवाद की दृष्टि से विशेषकर अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद के आलोक में कोई प्रमाणित पुस्तक नहीं मिलती और न ही शोध कार्य। रंगमंचीय और सिनेमा की दृष्टि से शेक्सपीयर के नाटकों और हिंदी फिल्मों के बीच अंतर पर कुछ आलेख जरूर मिलते हैं। जैसे 'मकबूल' और 'ओमकारा' पर। लेकिन इन आलेखों के अंतर्गत केवल नाटकीय और फिल्मी दृष्टिकोण से बात की गई है न कि राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अनुवाद की दृष्टि से और न अंत:भाषी, अंतरभाषी और अंतरप्रतीकात्मक पारिभाषिक शब्दों का ही प्रयोग किया गया है। जबकि शेक्सपीयर के नाटकों और फिल्मों के कई ऐसे पहलू हैं जो अनछुए हैं। अंतरप्रतीकात्मक अनुवाद साहित्य और सिनेमा दोनों ही विधाओं के मध्य एक सेतु रूप में करता है। इसलिए इस विषय के महत्व को समझते हुए साहित्य एवं सिनेमा पर बात करने की जरूरत है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अग्रवाल, प्रहलाद, सिनेमा, साहित्य और समाज, अनामिका प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2011

2. अग्रवाल, उज्ज्वल, कथाकार कमलेश्वर और हिंदी सिनेमा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2012

3. आजमी, प्रभुनाथ सिंह, फ्लैशबैक, शिल्पायन, संस्करण-2006

4. आनंद महेश, अंकुर, देवेंद्र राज (सं.) रंगमंच के सिद्धांत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2008

5. चेनी, शेल्डान, रंगमंच, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, द्वितीय संस्करण-2009

6. मोना, बेकर (एडिटेड), ट्रांसलेशन स्टडीज: क्रिटिकल कोन्सेप्ट्स इन लिंगविस्टिक्स, रुतलज प्रेस, प्रथम संस्करण-2009

7. मोना, बेकर एंड सालदाह, ग्राब्रिएल (एडिटेड), रुतलज इंसायक्लोपीडिया ऑफ ट्रांसलेशन स्टडीज : रुतलज प्रकाशन, द्वितीय संस्करण-2009

8. बार्थ्स, रोलां, मायथोलोजीज : द कंप्लीट एडिशन इन ए न्यू ट्रांसलेशन, प्रथम संस्करण-2012

9. बैसनेट, सुसैन, ट्रांसलेशन स्टडीज, रुतलज प्रेस, तृतीय संस्करण–2002

10. भारद्वाज, विशाल, ए शेक्सपिसर ट्रियोलोजी, मकबूल, ओंमकारा, हैदर, हार्पर कॉलिन्स प्रकाशन, भारत, प्रथन संस्करण–2014

11. बूडिक, सैनफोर्ड, एंड ईसर वुल्फ़गोंग (एडिटेड), द ट्रांस्लेटेबिलिटी ऑफ द स्पेस बिट्वीन, स्ट्रांफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, प्रथम संस्करण–1996

12. कैटफोर्ड, जॉन सी., ए लिग्विस्टिक थियरी ऑफ ट्रांसलेशन, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस–1965

13. सैंडलर्स, डैनियल, सेमियोटिक्स : द बेसिक्स, रुतलज प्रेस, प्रथम संस्करण–2002

– अनुवाद एंव निर्वचन विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा, महाराष्ट्र–442001

❑❑❑

एक महान कलाकार ही नहीं, एक महान इंसान भी थे- इरफान....

अजय मलिक

मुंबई छूटने का इतना दु:ख जून 1997 में भी नहीं हुआ था, जितना कल अचानक इरफान खान के आकस्मिक निधन की खबर से हुआ। वो मेरा मुहब्बत का ऐसा दौर था, जब लपलपाती दहकती शमा पर परवाना ये सोचकर कुर्बान होने से रुक गया कि कहीं शमा बुझकर धुँआ-धुँआ न हो जाए!! फिर भी जब अचानक शमा बुझ गई, तो परवाना धुएँ की दहक में ऐसा झुलसा कि कहीं का न रहा। वो शमा फिर कभी उसके लिए न जली ...और बस धुँआ बनकर रह गई।

कल 'दु:ख' शब्द बहुत ही खोखला सा लगा। इरफान के निधन का समाचार आसमानी बिजली के गिरने से भी कहीं ज्यादा कष्टकारी था। मैंने तत्काल डॉ.चंद्रप्रकाश को लघु संदेश/एसएमएस भेजा... सिराज को फोन मिलाया... वह सुनकर सन्न रह गया। दोनों को ही एकबारगी विश्वास नहीं हुआ। फिर असीम चक्रवर्ती को फोन लगाया...असीम को खबर मिल चुकी थी और वे सदमे के कारण खुद को बात करने की स्थिति में नहीं पा रहे थे...

चेन्नई में सब कुछ मिला... कोलकाता...ग़ाज़ियाबाद. ..दिल्ली .. पूरा देश देखने का अवसर भी पिछले 23 सालों में मिला, मगर इरफान खान जैसा यार कहीं नहीं मिला और अब मिलेगा भी नहीं... सिर्फ 53 साल की उम्र भी कोई उम्र होती है यार... हे राम ...

मेरा एक अजीज मित्र चुपके से कभी न मिलने की कसम खाकर दुनिया से जा चुका था... मैं पूरे दिन सिर्फ सोचता रहा... कुछ लिखना चाहता था... कहना चाहता था... रोना चाहता था ...

इरफान से मेरी अंतिम मुलाकात शायद नवंबर, 2013 में गोवा में फिल्म समारोह के दौरान हुई। वह अंतरराष्ट्रीय फनकार बन चुका था, नाम, शान-ओर-शौकत पा चुका था। 'लाइफ ऑफ पाई' फिल्म समारोह की शायद उद्घाटन फिल्म थी। मुंबई छोड़े मुझे 20 साल हो चुके थे, मुंबई में लोग मुझे खादी के कुर्ते-पाजामें में समाए दाढ़ी वाले गंजे के रूप में जानते थे। अब मैं सदाबहार गंजा बन चुका था। इरफान मुझे एकबारगी पहचान नहीं पाया था...

मैं उसकी फिल्में देखता रहता था। 2004 में मकबूल से उसे और उसके वास्तविक फन को असली पहचान मिली। इरफान अभिनीत 'पान सिंह तौमर', 'बिल्लू बारबर', 'लंच बॉक्स', 'ब्लैकमेल', 'हिंदी मीडियम', 'पिकू' और सबसे ज्यादा 'करीब-करीब सिंगल' फिल्में मुझे बहुत पसंद आई। 'अग्रेंजी मीडियम' भी देखी, जो लॉक डाउन के कारण सही से प्रदर्शित ही नहीं हो पाई...

शायद 2007-08 तक उसका मोबाइल नंबर जो मेरे पास था, उसपर एसएमएस की अदायगी होती रही मगर उसके बाद उससे मेरा संपर्क टूट सा गया। 2018 में जब वह लंदन इलाज के लिए गया, तब मैंने बहुत कोशिश की उसका मोबाइल नंबर पता करने की मगर संभव नहीं हो सका। लंदन में मेरा छोटा भाई रहता है। मैं इरफान की कुछ मदद करना चाहता था। अजय ब्रह्मात्मज के पास उसका नंबर था, जिसे देने से उसने इंकार कर दिया। एक जमाने में जब मैं नौशाद के इंटरव्यू के लिए गया था, अजय ब्रहमात्मज फोटोग्राफर के किरदार में मेरे साथ थे...

दस दिन पहले ही डॉ. चंद्रप्रकाश से बस यूँ ही मुंबई आने-जाने को लेकर कुछ चर्चा हो रही थी। लॉकडाउन न हुआ होता तो शायद मैं एक बार फिर मुंबई का चक्कर लगा चुका होता और इरफान से ये शिकायत भी कर चुका होता कि देख भाई, मैं तो नहीं बदला, मगर बहुत सारे लोग कब के बदल गए... तुमने भी नाम में रफ्तार वाला एक र और जोड़ लिया... मगर वो मुहब्बत का ऐसा दौर था जब हर कोई मुहब्बत करता था। सु से लेकर स तक। सं से लेकर संज तक। अ से लेकर बड़की तक। पड़वा से लेकर पंचमी तक। अमावस्या से लेकर पूर्णिमा तक। म से लेकर अ तक। पुरवा से पछुवा तक...और हम सब भी, आवाज से लेकर आँखों तक, मुहब्बत के मक्खन से लबालब हुआ करते थे । किसी ने कहा था- इतनी मुहब्बत मत बाँटो कि कभी जब भविष्य में जरूरत पड़े, तो पिटारा खाली मिले!! सबको सब कुछ दिखता था, पर सब चाहते थे कि किसी तरह सिर्फ एक बार कहे तो सही...परवाना जले तो सही...मगर शमाएँ जलती रहीं, परवाना जला तो, पर जलती लौ तक न जा सका।

उस वक्त फिल्म पत्रकारिता कलमतोड़ अंदाज में पूरी रवानगी पर थी। नाम से लोगों को परेशानी होने लगी तो मित्रों की सलाह पर कई और नाम जोड़ दिए- इकबाल, संजीत, पंकज, अनुजेय ...और न जाने क्या-क्या. ..यहाँ तक कि पहले फिल्म समारोह की कवरेज पर जो नाम गया वह विवादों का कारण बन गया। गुमनाम नाम वाले ने बहुत एतराज किया कि कैसे उसके नाम का इस्तेमाल किया गया ... हालांकि तब तक व्यक्तियों के नाम का इस तरह का सर्वाधिकार सुरक्षित नहीं हुआ करता था...

राहुल देव, सिराज सईद, धीरेंद्र आस्थाना, संजय निरूपम, रेखा देशपांडे, असीम चक्रवर्ती, संजय मासूम, लालमणि पांडेय ... ये सब अखबारों के प्रतिष्ठित नाम थे। ये लिखने के लिए कहते, प्रेरित करते और मैं लिख मारता। उस दौर में जनसत्ता और नवभारत टाइम्स बंबई/ मुंबई के प्रसिद्ध हिंदी दैनिक हुआ करते थे। मैंने नवभारत टाइम्स में कभी नहीं लिखा।

दिन में दफ्तर का काम और दफ्तर बंद होने के बाद फिल्मों के प्रेस शो, पार्टियाँ आदि... सामान्यत: रात के 12 बजे से पहले अंधेरी पूर्व स्थित अपने सरकारी आवास पहुँचना नहीं हो पाता था... और फिर सुबह के दो बजे तक लेखन चलता। जनसत्ता की तूती बोलती थी ... चार संस्करण दिल्ली, मुंबई, कोलकाता, चंडीगढ़. .. फिर सांध्य जनसत्ता भी शुरू हुआ...

मैं सबरंग के लिए चाणक्य धारावाहिक पर आमुख कथा/कवर स्टोरी कर रहा था और अक्सर रात होते-होते फिल्म सिटी में चाणक्य यानी डॉ. चंद्रप्रकाश द्विवेदी के पास उनके सैट पर पहुँच जाया करता था। एक दिन वहीं सिराज भी एक दृश्य में फिल्मांकन के लिए आए हुए थे। उनके साथ एक नया चेहरा, लंबा छरहरे बदन का लड़का सेनापति भद्रसाल का मेकअप किए शॉट के लिए तैयार बैठा था।

बहुत बड़ी-बड़ी आँखें ... अपनी उम्र से कई गुना ज्यादा बड़ी आँखों वाला वह लड़का राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय से हाल ही में मुंबई आया था। बातचीत शुरू हुई... तो तनिक संकोच से परिचय देते हुए बोला- इरफान खान।

मैं उस समय एनएसडी, दिल्ली और एफटीआईआई, पुणे से आने वालों से बहुत ज्यादा प्रभावित था ... वस्तुत: उनसे मुझे सीखने को मिलता था... कहाँ मैं एक गाँव देहात का ठेठ घसियारा और कहाँ ये जगमगाती रुपहले परदे की दुनिया की ओर दौड़ते बेहद उत्साही और मंजे हुए प्रशिक्षित कलाकार ...आज भी खुद को घसियारे से अधिक नहीं समझ पाता हूँ... गाँव में बिटौड़े-बोंगे, ओसारे की छान बांधने तक का काम किया था... सचमुच में कई बार खुरपे या खुर्पी से घास भी छीली थी...

इरफान से बात होती रही, चाणक्य में उसकी भूमिका पर संक्षिप्त चर्चा के बाद किस्सा एनएसडी पर ही ज्यादा केंद्रित रहा। पता नहीं क्या बात थी उस शख्स की वाणी में कि वह मन में सदा के लिए बस गई। जनसत्ता में शायद इरफान का बहुत छोटा सा साक्षात्कार प्रकाशित हो पाया।

मैं संतुष्ट नहीं था, मगर इरफान को कोई शिकायत नहीं थी। इससे पूर्व मैं शशि कपूर और नसीरुद्दीन शाह के बहुत लंबे साक्षात्कार कर चुका था। भूलिएगा नहीं ये 1991-92 की बात है। उस समय समाचार पत्र यानी अखबार ही हुआ करते थे... समाचारों के चैबीस घंटों के चैनल नहीं थे। सिर्फ प्रिंटमीडिया और अधिकांश काली स्याही से छपने वाली खबरें... खबरों को लगातार घिसते रहने का चलन नहीं था। उसके बाद राष्ट्रीय

सहारा में इरफान का साक्षात्कार और एनएसडी से जुड़ी एक परिचर्चा प्रकाशित हुई।

इरफान से जब भी मुलाकात या चर्चा होती एक नया उत्साह, नई ऊर्जा उसमें देखने को मिलती... शायद कांदिवली में एक छोटे से फ्लैट में उसका सपरिवार बसेरा था। वह अकसर कहता था- मलिक, तुम कभी बदल तो नहीं जाओगे ...पता नहीं उन दिनों मुझ फटीचर घसियारे को वह इतना महत्वपूर्ण क्यों समझता था !

मुझे 1993 में संयोग से भारत के अंतरराष्ट्रीय फिल्म महोत्सव में बतौर फिल्म समीक्षक जाने का अवसर मिला। मैं 19 दिसंबर, 1992 को ही एनसीईआरटी के एक पाठ्यक्रम निर्माण के लिए मुंबई से दिल्ली पहुँच चुका था। इस बीच 01 जनवरी, 1993 तक कुछ ऐसा हो चुका था, जिसे नहीं होना चाहिए था !!

20 जनवरी, 1993 को सिरी फोर्ट से विदा ली और शायद 22 जनवरी को मुंबई पहुँचा। वीआईपी का 32 इंची सूटकेस अपनी सबसे बड़ी तिजोरी हुआ करता था। उसमें सब लिखा-पढ़ा भरा होता था। मुंबई से दिल्ली आते समय सब अच्छे से सूटकेस में बंद किया था, मगर वापसी में मूषक महाराज की ऐसी कृपा प्राप्त हुई कि विज्ञापनों में हाथी चढ़ने से भी न टूटने वाले वीआईपी सूटकेस को चूहे जी ने एक कोने से काटकर अंदर प्रवेश की सुविधा सृजित की और अंदर जो भी हस्तलिखित आदि था सब कुतर डाला... इतना ही नहीं उसी सूटकेस में प्राण भी त्याग दिए। गाँव में सुनी नल-दमयंती की कथा याद आई, जिसमें एक खूंटी नौ लखा हार निगल जाती है।

बुरा वक्त था याकि प्रभु 'प्रेम मग छाके पग' का अनुभव रूपी प्रसाद देना चाहते थे। शायद मार्च-अप्रैल 1993 की घटना थी, मन बेहद उदास था। सिराज शायद सिंगापुर जा चुके थे या जाने की तैयारी में थे। छुट्टी का दिन था... फोन करने के लिए मुझे मुख्य द्वार/मेन गेट तक आना पड़ता था। मैंने इरफान को फोन मिलाया- भाई इरफान, मन बड़ा उदास है यार... वह दिल की बात समझ लेता था। आधे पौने घंटे में वह अपनी मोटर साइकिल के साथ हाजिर था। बहुत लंबी चर्चा चली, उम्र में वह छोटा जरूर था, मगर अनुभव में बहुत बड़ा था ... बेहद गंभीरता से बोला- मलिक, जो भी हो, तुम कभी बदलना मत...

मेरे आवास में एक डेढ़ फुट चौड़ा पुराना खुरदरा दीवान, एक पुरानी कबाड़ से खरीदी कुर्सी, अंटोप हिल से खरीदी गई एक फोल्डिंग मेज और फर्श पर बिछा तीन-चार फुट चौड़ा गद्दा भर हुआ करता था। रसोई में खाना पकाने का पूरा इंतजाम था। मैं खिचड़ी बनाने में खुद को पारंगत समझता था। कुकर भरकर खिचड़ी बनाई और दोनों ने उसी फर्श पर बैठकर खाई। उसकी सादगी का मैं दीवाना था।

फिर मुंबई छूटा... मगर उससे पहले वीरेंद्र सक्सेना के एक साक्षात्कार के जनसत्ता के चारों संस्करणों में छपने के बाद कुछ ऐसी बात हुई कि फिल्मी लोगों के प्रति मेरा मोह भंग हो गया... विशेषकर एनएसडी वालों को लेकर जो एक सकारात्मक पागलपन सवार था, वह खत्म हो गया... मैंने फिल्म पत्रकारिता या लेखन से ही स्वयं को अलग कर दिया... कार्यान्वयन और हिंदी का पागलपन लगातार बढ़ता गया... मुझे प्रवाह में धकेला जा चुका था और मैं अधिगम यानी सीखते चले जाने की अनवरत प्रक्रिया का अटूट हिस्सा बन गया ।

कल इरफान के असामयिक निधन के बाद अचानक कहानी की धुरी ही टूट गई ... मैं उसे यह कहानी सुनाना चाहता था और बताना चाहता था कि इस अधूरी कहानी के बावजूद मैं जरूर उनसठिया तो गया हूँ, लेकिन बदला कतई नहीं हूँ...

तुम एक महान कलाकार और उससे भी महान इंसान थे इरफान... लोग जब भी तुम्हारी फिल्में देखेंगे, तुम्हें हमेशा मोतीलाल और बलराज साहनी के साथ याद करेंगे...

– आई-5, आई ब्लॉक, गोविंदपुरम्, ग़ाज़ियाबाद, उत्तर प्रदेश

❑❑❑

हिंदी सिनेमा में प्रेमग्रंथ का रचयिता-ऋषि कपूर

विनोद अनुपम

हिंदी सिनेमा के सबसे बड़े शो मैन माने जाने वाले 'राजकपूर' 1970 में 5 घंटे से अधिक की दो इंटरवल वाली अपने जीवन की सबसे महत्वाकांक्षी फिल्म लेकर आते हैं, 'मेरा नाम जोकर'। कहा जाता है कि राजकपूर ने अपने इस विलक्षण स्वप्न को पूरा करने में अपनी पूरी पूंजी ही नहीं, अपनी निजी संपत्ति तक दांव पर लगा दी थी। लेकिन राजकपूर की सफल टीम के सर्वोत्तम प्रदर्शन के बावजूद जीवन दर्शन को सूक्ष्मता से व्याख्यायित करती इस गूढ़ फिल्म को दर्शकों ने सिरे से नकार दिया। इस फिल्म की असफलता के साथ ही 'आग', 'आवारा', 'जागते रहो', 'बरसात' से राजकपूर जिन जीवन मूल्यों के साथ चले थे, वह कहीं न कहीं दरक सा गया। लेकिन राजकपूर के फिल्मकार ने दर्शकों की इस नापसंद को चुनौती की तरह स्वीकार किया और तीन वर्ष बाद 'बॉबी' लेकर दर्शकों के बीच आए। इस फिल्म में राजकपूर की पुरानी टीम से सिर्फ एक व्यक्ति थे 'ख्वाजा अहमद अब्बास', जाहिर है उन्होंने 'बॉबी' के लिए वर्ग चेतना से लैस पटकथा ही सौंपी होगी। जिसकी झलक फिल्म में दिखती भी है। लेकिन राजकपूर के हाथों वह पटकथा जिस रूप में साकार हुई, उसने हिंदी सिनेमा का इतिहास बदलकर रख दिया। ऐसा लग रहा था बॉबी के साथ उनींदा सा हिंदी सिनेमा अंगड़ाई लेकर उठ खड़ा हुआ। बहुत कुछ के साथ 'बॉबी' ने हिंदी सिनेमा को जो दिया, उसमें एक ऋषि कपूर भी थे।

तीन साल पहले 17 साल की उम्र में 'मेरा नाम जोकर' में सर्वश्रेष्ठ बाल अभिनेता का राष्ट्रीय पुरस्कार पाने वाले ऋषि कपूर ने 20 वर्ष की आयु में 'बॉबी' के साथ हिंदी सिनेमा में नायकों की पहचान बदल दी। यह वह दौर था, जब देव आनंद, मनोज कुमार, धर्मेंद्र, राजेश खन्ना, अमिताभ बच्चन, जीतेंद्र, संजीव कुमार, विनोद खन्ना और शशि कपूर जैसे प्रौढ़ अभिनेता से नायक को पहचान मिलती थी, दर्शक राजेंद्र कुमार के आदी हो चुके थे, राजेश खन्ना कालेज पढ़ने जाते चाहे जैसे दिखते हों, हिंदी दर्शकों को स्वीकार्य थे। ऐसे में एक ऐसे नायक को देखना वाकई जिसकी मूछें उगने को दिख रही थी, जिसके चेहरे पर बचपन की कोमलता अभी भी कायम थी, जिसके बोल और चाल में किशोर अनगढ़पन उछालें मार रहा था, हिंदी दर्शकों के लिए एक अद्भुत अहसास था। पर्दे पर दिखता ऋषि कपूर का कैशोर्य उस समय के प्रौढ़ दर्शकों को नास्टेलजिया में ले गया तो युवाओं को पहली बार अपने युवतम से पर्दे पर रूबरू होने का मौका मिला, जो उनकी तरह थोड़ा उच्छृंखल भी था, थोड़ा इमोशनल भी, थोडा जुझारू भी, जिसके लिए प्यार का मतलब, फूल तुम्हें भेजा है खत में...भर नहीं था, हम तुम एक कमरे में बंद हो... भी था। 70 के दशक में जब हिंदी सिनेमा के सबसे प्रतिबद्ध दर्शक महिलाएँ थी उनके लिए तो ऋषि कपूर किसी उपहार की तरह था, जो सिर्फ और सिर्फ प्यार करना जानता था। आश्चर्य नहीं कि 1973 में अमिताभ बच्चन की 'जंजीर', धर्मेंद्र की यादों की बारात, देव आनंद की शरीफ बदमाश, राजेश खन्ना की दाग, शशि कपूर की 'आ गले लग जा' जैसी फिल्मों के सामने 'बॉबी' सबसे अधिक कमाई करने वाली फिल्म रही।

वास्तव में ऋषि कपूर की खासियत उसकी मौलिकता थी, जब हिंदी सिनेमा में अभिनय एक दूसरे की नकल से पहचाने जा रहे थे, ऋषि कपूर ने अपने को अपने स्वाभाविक रूप में स्थापित करने की कोशिश की। 'मेरा नाम जोकर' में अपनी युवा शिक्षिका पर आशक्त किशोर को अभिनीत करते 'ऋषि' शायद ही कभी दिखे, ऋषि की आँखों में राजू की चमक दिखती थी। अभिनय के प्रति यह सहजता उनके साथ हमेशा बनी रही। अपने अभिनय की दूसरी पारी के अंत में जब दर्शकों के सामने 'मुल्क' जैसी विचारोत्तेजक फिल्म के साथ आए तब भी उनके हरेक मूव में वह स्वाभाविकता दिखती थी। ऋषि कपूर के साथ जो सबसे बड़ी बात थी,वे अपने अभिनय की सीमा और अपने पात्र को बखूबी पहचानते थे। उन्हें पता होता था कि कौन से पात्र को वे जी सकते हैं, और किसे छोड़ देना बेहतर, यह सीख शायद उनके शुरुआती दौर की 'जहरीला इंसान' जैसी फिल्म ने दी होगी, जिसे 'बॉबी' के तुरंत बाद दर्शक गले के नीचे नहीं उतार सके। लेकिन बाद में 'खेल खेल में', 'रफू चक्कर', 'कभी कभी', 'हम किसी से कम नहीं' जैसी फिल्म में अपनी जिस ऊर्जा के साथ वे दिखे-दर्शकों को बहा ले गए। इन फिल्मों के साथ युवाओं के लिए स्टाइल आइकन बने। रंग नायकों के साथ पहले भी दिखते थे, ऋषि कपूर ने अपने स्वेटर, पुलोवर, स्कार्फ, टोपी से उसे और भी चटख बनाया।

अपने अभिनय के प्रति ऋषि कपूर का यही विश्वास था कि उन्होंने कभी भी किसी भी सितारे के साथ आने में कोई संकोच नहीं किया। जितनी उन्होंने एकल नायक वाली फिल्म की, उससे कहीं अधिक मल्टीस्टारर। 'अमर अकबर एंथनी', 'नसीब', 'कुली', 'कभी कभी' जैसी फिल्म की चर्चा उनके अभिनय के बगैर पूरी नहीं हो सकती। 'सागर' जैसी फिल्म में कमल हासन जैसे अभिनेता के सामने दिखे तो 'दिवाना' में अपनी ढलती उम्र के साथ शाहरुख खान के सामने आने में संकोच नहीं किया। 'दामिनी' और 'चांदनी' जैसी नायिका प्रधान फिल्म में भी ऋषि कपूर अपने पात्र को ईमानदारी से खड़ा कर यादगार बनाने में सफल होते हैं। 'दूसरा आदमी' में वे अपने चाचा शशि कपूर की प्रति छवि के रूप में दिखते हैं, जिसमें उनसे बड़ी उम्र की नायिका राखी अपने दिवंगत पति शशि कपूर की छवि उनमें देखकर प्यार कर बैठती है, जबकि वे खुद शादीशुदा हैं। इस काम्पलेक्स भूमिका को वे जिस सहजता से निभा ले जाते हैं, साबित करता था कि ऋषि कपूर को खेल-खेल में नहीं लिया जा सकता।

ऋषि कपूर का बचपन सिनेमा की दुनिया में बीता, जाहिर है सिनेमा के बीच कहीं न कहीं वे कंफर्टेबल थे। उन्हें पता था कि हिंदी सिनेमा में नायक के लिए डांस और गीत की अनिवार्यता है, उनकी फिल्मों को देखकर दावे के साथ कहा जा सकता है कि अपने गीतों के साथ उतना सहज शायद ही किसी नायक को देखा जाता हो। 'सरगम' के डफली बजा में डफली बजाती उनकी उंगलियों की थिरकन देख भला किसके ध्यान में आ सकता कि इस डफली के पीछे किसकी उंगलियाँ है। गिटार को उन्होंने प्रेमी युवा की पहचान के साथ जोड़ दिया। 'हम किसी से कम नहीं' से लेकर 'सागर' तक गिटार उनके लवर ब्वाय इमेज का साथी बना रहा। वास्तव में वाद्ययंत्रों के साथ वे सहज दिखते थे। गानों के प्रति ऋषि कपूर की यह सहजता 'मेरा नाम जोकर' के तीतर के दो आगे तीतर ...से ही शुरू होती है, जो 'बोल राधा बोल' तक देखी जा सकती है। ऋषि कपूर डांसिंग स्टार नहीं थे, लेकिन 'कर्ज' जब आई तो हिंदी सिनेमा के श्रेष्ठ डांसिंग स्टार में वे गिने जाने लगे। वास्तव में लगता है ऋषि जब तक अपने पात्र को पूरी तरह आत्मसात् नहीं कर लेते, वे कैमरे के सामने नहीं आते थे। 'प्रेमरोग' के निम्न मध्यवर्गीय युवा प्रेमी की भूमिका में दबे-दबे दिखते ऋषि कपूर और 'लैला मजनूं' के नाटकीय ऋषि कपूर को देख सहज ही उनके अभिनय के रेंज का अहसास किया जा सकता है। निश्चय ही जो समय के साथ और भी परिपक्व होता दिखा।

अमिताभ बच्चन के बाद ऋषि कपूर शायद ऐसे एकमात्र अभिनेता होंगे जिनकी प्रौढ़ भूमिका के, लिए फिल्म लिखे जाने की शुरुआत हुई। कमाल कि ऋषि कपूर ने जितनी फिल्में अपने कैरियर के शुरुआती दौर में सोलो नायक के रूप में की, उससे कहीं अधिक बीते 15 वर्षों में प्रौढ़ नायक के रूप में कर ली। 'दो दूनी चार', 'अग्निपथ', '102 नाट आउट', 'राजमा चावल' और 'मुल्क' जैसी फिल्म में ऋषि कपूर के अभिनय की परिपक्वता विस्मित करती है।

'अग्निपथ' में जहाँ वे माफिया रउफ लाला की खतरनाक नकारात्मक भूमिका में दिखाई दिए, वहीं '102 नॉट आउट' में उन्होंने एक अस्सी पार की उम्र वाले बेटे की भूमिका निभाई, जिसे अपने ही 102 साल के पिता से जूझना पड़ता है। अमिताभ बच्चन के साथ अपने युवा दौर की स्वाभाविकता के साथ वे यहाँ भी दिखे। 'मुल्क' में वे एक ऐसे मुसलमान का चेहरा बने जिसे अपने ही देश में दोयम दर्जे का नागरिक समझा जाता है, और उसे अपनी देशभक्ति प्रमाणित करनी पड़ती है। 'स्टूडेंट ऑफ द ईयर' में इन सबसे अलग एक समलैंगिक प्रिंसिपल के रूप में वे दिखे। 'कपूर एंड संस', 'राजमा चावल' जैसी फिल्मों के जरिए उन्होंने अपने अभिनय की विविधता को एक बड़ी पहचान दी। इन फिल्मों में उनकी परिपक्वता बार-बार यह याद दिलाती थी कि एक लवर ब्वाय की चाहत में हमने कितनी बड़ी प्रतिभा को गुम हो जाने दिया था।

यह सही है कि ऋषि कपूर के अभिनय यात्रा की शुरुआत ही सफलता और अवार्ड से हुई। 'मेरा नाम जोकर' के साथ हासिल राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार की परंपरा इन्होंने 'बॉबी' के साथ भी जारी रखी, जब सर्वश्रेष्ठ नवोदित अभिनेता का अवार्ड मिला। लेकिन यह भी संयोग नहीं कि युवतम अभिनेता के रूप में दर्जनों सफल फिल्में देने के बावजूद अभिनेता के रूप में अवार्ड के लिए इनकी पहचान दूसरे दौर में ही हो सके। सुखद कि युवा ऋषि कपूर को सम्मानों ने भले ही भुलाए रखा, लेकिन प्रौढ़ ऋषि कपूर की शायद ही कोई भूमिका होगी, जिसे किसी न किसी सम्मान से नवाजा न गया हो।

ऋषि कपूर हिंदी सिनेमा के सबसे प्रतिष्ठित माने जाने वाले कपूर खानदान से थे। लेकिन अपनी स्वतंत्र चेतना के साथ कपूर के दबाव में वे कभी नहीं दिखे, चाहे वह शुरुआती दौर में ही सहनायक के रूप में पर्दे पर आना हो या प्रौढ़ चरित्रों को निभाना या फिर ट्विटर पर अपनी बेलौस आवाज के साथ उपस्थित होना... 'ऋषि कपूर' बस ऋषि कपूर के रूप में भी याद किए जाते रहेंगे।

– बी-53 सचिवालय कॉलोनी, कंकड़बाग, पटना-800020

❑❑❑

सुशांत सिंह राजपूत - एक चमकता सितारा

नीति सुधा

अभिनेता सुशांत सिंह राजपूत अपने परिवार, साथी कलाकारों और प्रशंसकों को शोकाकुल छोड़ गए। आज भी उनके चाहने वालों के लिए इस दु:खद सच्चाई को स्वीकार करना मुश्किल है। सुशांत की जिंदगी के पन्नों को पलटकर देखें तो यह काफी प्रेरणात्मक रहा है। किसे पता था, साल 2006 राष्ट्रमंडल खेल में ऐश्वर्या राय के पीछे बतौर बैकग्राउंड डांसर परफॉर्म करने वाला बिहार का यह युवा एक दिन स्टार बनेगा! महज सात सालों के फिल्मी सफर में सुशांत ने फिल्म उद्योग पर अपनी गहरी छाप छोड़ी।

लोकप्रिय टेलीविजन धारावाहिक 'पवित्र रिश्ता' में मानव देशमुख के किरदार से सुशांत ने दर्शकों के बीच अपनी पक्की जगह बना ली थी। साल 2009 से 2011 के बीच सुशांत घर-घर के चहेते बन चुके थे। अपने शर्मीले किरदार और सहज अदाकारी से उन्होंने खूब तारीफें बटोरी और अवॉर्ड हासिल किए। लिहाजा, 2011 में जब उन्होंने छोटे पर्दे को छोड़ने का फैसला किया तो सभी हतप्रभ रह गए। प्रशंसकों के दिल टूट गए। सुशांत के लिए भी एक टॉप टीआरपी वाले शो को छोड़ना आसान नहीं था, लेकिन उन्होंने यह निर्णय लिया क्योंकि उन्हें कुछ अलग कर दिखाना था। उन्होंने अपने सपनों की एक सूची तैयार कर रखी थी।

बिहार के पूर्णिया जिले के मलडीहा में 1986 में जन्मे सुशांत सिंह राजपूत संभ्रांत परिवार से थे। पाँच भाई- बहनों में सबसे छोटे और माँ के बेहद करीब। सुशांत जब 16 साल के थे, तब उनकी माँ की मृत्यु हो गई थी, जिसका उन पर गहरा असर रहा। लेकिन सुशांत पढ़ाई में होनहार थे। बारहवीं के बाद उन्होंने इंजीनियरिंग की परीक्षा दी और देशभर में सातवें स्थान पर आए। सुशांत दिल्ली कॉलेज ऑफ इंजीनियरिंग से मेकैनिकल इंजीनियरिंग कर रहे थे, जब उनके मन में डांस और अभिनय का शौक जागा। शौक तो शायद पहले से रहा होगा, लेकिन अब एक कुलबुलाहट थी। ऐसी हलचल मची कि सुशांत ने इंजीनियरिंग छोड़ी और सपने साकार करने सीधे मुंबई आ गए।

सुशांत के सफर को देखकर एक बात तो साफ है कि वो 'रिस्कटेकर' थे। इंजीनियरिंग छोड़कर डांस से जुड़े, डांस छोड़कर छोटे पर्दे से और जब वहाँ शीर्ष पर थे तो मेन लीड रोल छोड़कर फिल्मों की ओर छलांग लगा दी। 'श्यामक डावर' डांस ग्रुप में शामिल सुशांत ने कभी शाहिद कपूर और ऐश्वर्या राय सरीखे कलाकारों के पीछे डांस किया था। उस वक्त भी उन्हें फिल्मी दुनिया चाँद- तारों की दुनिया लगती थी, जिसे दूर से ही देखा जा सकता है। लेकिन विज्ञान के छात्र रहे सुशांत भला चांद-तारों को छूने से कहाँ डरने वाले थे। उन्होंने बैरी जॉन एक्टिंग स्कूल से अभिनय सीखा, नादिरा बब्बर के 'एकजुट थियेटर' से भी जुड़े। मायानगरी ने भी उनकी कड़ी मेहनत की कद्र रखी। साल 2008 में धारावाहिक 'किस देश में है मेरा दिल' के साथ उनका करियर शुरू हुआ। और फिर 2009 में आया 'बालाजी टेलीफिल्म्स' का सीरियल 'पवित्र रिश्ता', जिससे सुशांत युवा दिलों की धड़कन बन गए। इस शो के लिए सुशांत ने हमेशा एकता कपूर का आभार माना।

'पवित्र रिश्ता' छोड़ने के बाद लगभग दो सालों तक उनकी गैर-मौजदूगी ने प्रशंसकों को निराश कर दिया था। लेकिन 2013 में आई अभिषेक कपूर के निर्देशन में बनी फिल्म 'काई पो चे', जिसमें सुशांत का अल्हड़पन लोगों को बहुत रास आया। उनमें एक नयापन था; भरपूर एनर्जी, भोली सूरत और प्रभावशाली व्यक्तित्व। एक-दो फिल्मों के बाद ही फिल्म समीक्षकों द्वारा उन्हें आने वाले समय का चमकता सितारा बताया जाने लगा। सुशांत अपने किरदारों के चुनाव में प्रयोग करते रहते थे, जिसमें वो कभी सफल रहे, कभी नहीं। अपने 7 साल के फिल्मी सफर में उन्होंने दर्शकों को 'डिटेक्टिव ब्योमकेश बख्शी', 'एमएस धोनी', 'शुद्ध देसी रोमांस', 'पीके', 'केदारनाथ', 'सोनचिड़िया', 'छिछोरे' जैसी फिल्में दीं, जिसमें उनके अभिनय की काबिलियत पर सभी ने मुहर लगाई। फिल्म 'पीके' में महज 10 मिनट के किरदार में भी सुशांत ने सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया था।

खासकर 'एमएस धोनी: एन अनटोल्ड स्टोरी' के लिए सुशांत को बहुत सराहना मिली। फिल्म में खुद को धोनी दिखाने के लिए सुशांत ने महीनों कड़ी मेहनत की थी, चाल-ढाल से लेकर धोनी का बैटिंग अंदाज। हेलीकॉप्टर शॉट का वह हर दिन घंटों अभ्यास करते थे। एक दफा ट्रेनिंग के दौरान सचिन तेंदुलकर भी उनकी बल्लेबाजी देखकर हैरान रह गए थे। सुशांत को पूर्व भारतीय विकेटकीपर किरण मोरे ने पूरे 9 महीने तक ट्रेनिंग दी थी। फिल्म 'केदारनाथ' का मंसूर खान हो या 'सोनचिड़िया' का लखन सिंह; सुशांत अपने किरदारों के लिए बारीकी से तैयारी करते थे और यह बात स्क्रीन पर भी नज़र आती थी।

हालांकि, हर कलाकार की तरह उनके भी सफर में कुछ मोड़, कुछ उतार- चढ़ाव आए, कुछ व्यक्तिगत जीवन में तो कुछ प्रोफेशनल स्तर पर। लेकिन उनके काम में हमेशा एक आत्मविश्वास दिखा। एक साक्षात्कार के दौरान सुशांत ने कहा था- "मैं एक मिडिल क्लास का लड़का हूँ, जिसके लिए फिल्मों में आना छोटी बात नहीं थी। जिस दिन मैंने इंजीनियरिंग छोड़कर मुंबई आने और फिल्मों में काम करने का फैसला लिया, उसी दिन से मैं अपने दिमाग में सुपरस्टार बन गया।"

सुशांत बेबाकी से अपनी बात रखना जानते थे। जब संजय लीला भंसाली की फिल्म 'पद्मावत' को लेकर करणी सेना द्वारा हिंसक विरोध किया जा रहा था तो सुशांत ने गुस्से में आकर अपने नाम से 'राजपूत' हटा लिया था। जब लोगों ने उन्हें ट्रोल किया, तो सुशांत ने लिखा- "मैंने अपना सरनेम नहीं बदला है। तुम यदि बहादुरी दिखाओगे तो मैं तुमसे 10 गुणा ज्यादा राजपूत हूँ। लेकिन कायरतापूर्ण हरकत के खिलाफ हूँ।"

सिल्वर स्क्रीन से जुदा सुशांत की अपनी एक अलग दुनिया भी थी। वो ब्रह्मांड और ग्रहों की बातें किया करते थे। विज्ञान को लेकर उनमें एक कौतूहल था। कविताएँ लिखते थे। उन्होंने 'फिलीप रॉथ' को पढ़ा था। अपने इंस्टाग्राम पोस्ट में वो 'ई ई कमिंग्स' को उद्धृत करते थे। वह क्वांटम सिद्धांत से लेकर खगोल भौतिकी तक की जानकारी रखते थे। उनके पास 200 किलो का भारी भरकम टेलीस्कोप था, जिसे वो 'सोनचिड़िया' की शूटिंग के दौरान चंबल तक लेकर गए थे ताकि वो नेब्युला को अच्छे से महसूस कर पाएँ (नेब्युला अंतरिक्ष में पाए जाने वाले धूल और गैस के मिश्रण से बने बादलों का समूह होता है)। उनके घर में भौतिक विज्ञान से जुड़ी किताबों का अच्छा संकलन था। कोरोना वायरस लॉकडाउन के दौरान घर बैठकर सुशांत कोडिंग सीख रहे थे। उन्हें कंप्यूटर गेमिंग से लगाव था और इसके पीछे की भाषा सीखने के लिए उत्सुक थे।

सुशांत आत्मविश्वास से लबरेज़ थे। इतना कि उन्होंने अपने 50 सपनों की सूची बना रखी थी, जिसे वो अपनी जिंदगी में पाने की ख्वाहिश रखते थे। इनमें से कुछ ग्यारह सपने सुशांत ने पूरे भी किए, जबकि बाकी अब सिर्फ पन्नों पर अंकित रह गए हैं। उनके ख्वाबों की लिस्ट में हवाई जहाज उड़ाना, ब्लू होल में गोता लगाना, एक हजार पेड़ लगाना, किताब लिखना, डिज़नीलैंड जाना, खेती करना, मुफ्त शिक्षा के लिए काम करना, बच्चों को डांस सीखाना, अंटार्कटिका घूमने जाना, एक सक्रिय ज्वालामुखी की फोटोग्राफी करना सदृश सपने शामिल थे। सुशांत के सपनों की लिस्ट उनकी सोच, दर्शन और विज्ञान के प्रति उनके झुकाव को दिखाती है।

सुशांत सिंह राजपूत एक ऐसे कलाकार थे, जिनमें असीम संभावनाएँ दिखती थीं। छोटे शहरों से आए बड़े ख्वाब बुनते हजारों लोगों के लिए वो प्रेरणा थे। ऐसे में उनका जाना किसी दु:स्वप्न की तरह है। 14 जून 2020 को सुशांत ने अपने मुंबई आवास पर आत्महत्या कर

भाषा ISSN 0523-1418

दुनिया को हमेशा के लिए अलविदा कह दिया। आकांक्षाओं और जुनून के बीच सुशांत डिप्रेशन से जूझ रहे थे, जो उनकी जिंदगी का सबसे अंजाना पहलू बनकर रह गया। आज पीछे छूट गए हैं तो सुशांत के प्रभावी किरदार, उनके विचार, उनका संघर्ष और एक यादगार सफर।

सुशांत की फिल्म 'छिछोरे' का एक संवाद है, जो शायद हर संघर्षरत इंसान के लिए सटीक है, "हम हार-जीत, सक्सेस-फेल्यर में इतना उलझ गए हैं.. कि जिंदगी जीना भूल गए हैं.. जिंदगी में अगर कुछ सबसे ज्यादा ज़रूरी है.. तो वो है खुद जिंदगी....."

– सी-204, जासमीन पूनम कॉम्प्लेक्स, आशा नगर, ठाकुर कॉम्प्लेक्स, कांदिवली पूर्व, मुंबई-400101

❑❑❑

संपर्क सूत्र

1. डॉ. पूरनचंद टंडन, डी-67, शुभम एन्कलेव, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063
2. श्री हरिराम, हिंदी शिक्षक, शिक्षा निदेशालय, राष्ट्रीय राजधानी, दिल्ली-100086
3. डॉ. एम. रामचंद्रम, प्राचार्य (एफ.ए.सी.), गवर्नमेंट डिग्री कॉलेज, मलकाजगिरी, मेड्चल जिला
4. श्री प्रवीण कुमार, सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक, मध्य प्रदेश-484887
5. श्री मनोज पांडेय, हिंदी विभाग, रा.तु.म. नागपुर विश्वविद्यालय, शैक्षणिक परिसर, अमरावती मार्ग, नागपुर, महाराष्ट्र-440033
6. डॉ. अमित सिंह, सहायक आचार्य, हिंदी विभाग, श्यामलाल कॉलेज (सांध्य), दिल्ली
7. श्रीमती कुंतला दत्त, ऋषिकेश अपार्टमेंट, न्यू गुवाहाटी, पी. ओ. नूनमाटी, जिला-कामरूप(मेट्रो), असम-781020
8. डॉ. अर्चना झा, प्रवक्ता, सेंट एन्स कॉलेज फॉर वूमेन, मेंहदीपटनम
9. डॉ. अलका आनंद, एस.पी.एम. कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
10. डॉ. करन सिंह ऊटवाल, एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष हिंदी विभाग, मौलाना आजाद नेशनल उर्दू यूनिवर्सिटी, हैदराबाद-32
11. डॉ. प्रियंका, बी-55, स्वर्ण पार्क, मुंडका, दिल्ली- 110041
12. श्री दीपक दीक्षित, फ्लैट नंबर-410, ब्लाक-2, जी के प्राइड, बालाजी नगर रोड यप्राल, सिकंदराबाद, मेडचल, तेलंगाना-500087
13. डॉ. विपुल कुमार, सहायक प्रवक्ता (हिंदी विभाग), मोतीलाल नेहरू कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
14. डॉ. श्रवण कुमार, सहायक प्राध्यापक (हिंदी), दिल्ली स्कूल ऑफ जर्नलिज़्म, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
15. डॉ. विनीता कुमारी, एसोसिएट प्रोफेसर, स्वामी श्रद्धानंद कॉलेज, अलीपुर, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
16. श्री हेतराम, शोधार्थी, राजकीय मॉडल उच्च माध्यमिक विद्यालय, करसान, चंडीगढ़-160002
17. श्री उमेश कुमार, सहायक आचार्य (हिंदी), राजकीय वाणिज्य महाविद्यालय, अलवर (शोधार्थी राज ऋषि भर्तृहरि मत्स्य विश्वविद्यालय, अलवर)
18. डॉ. मिलन रानी जमातिया, सहायक प्राध्यापिका, हिंदी विभाग, त्रिपुरा विश्वविद्यालय, अगरतला

19. डॉ. सुनील कुमार तिवारी, असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, शहीद भगत सिंह कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली-110017

20. डॉ. आलोक रंजन पांडेय, असिस्टेंट प्रोफेसर, रामानुजन कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, कालका जी, नई दिल्ली-19

21. डॉ. गोरखनाथ तिवारी, सहायक आचार्य, पी. जी. विभाग, उच्च शिक्षा और शोध संस्थान, दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा एवं संपादक संकल्य (त्रैमासिक) खैरताबाद, हैदराबाद-500004

22. डॉ. अनुपमा, एफ-133, दूसरी मंजिल, जमुना अरकाडे, नवरंग कॉम्प्लेक्स, हैदराबाद, तेलंगाना-500001

23. डॉ. रीतामणि वैश्य, सहयोगी अध्यापिका, हिंदी विभाग गुवाहाटी विश्वविद्यालय, असम

24. सुश्री पूजा बरुवा, अतिथि अध्यापिका, हिंदी विभाग, गुवाहाटी विश्वविद्यालय, असम

25. डॉ. कंचन वर्मा, सी-1/1103, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070

26. डॉ. धन्या. एल, प्राध्यापिका, के. एस. एम. डी. कॉलेज, शास्तांकोट्टा, कोल्लम।

27. प्रो. आलोक पांडेय, हिंदी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय, हैदराबाद-46

28. डॉ. बीना देबबर्मा, मलांचा निवास, गवर्नमेंट क्वार्टर कॉम्प्लेक्स, ए. जी. ऑफिस के पास, टाइप-IV, ब्लॉक 14/34, अभय नगर, अगरतला, पश्चिमी त्रिपुरा-799005

29. डॉ. अनुशब्द, हिंदी विभाग, तेजपुर विश्वविद्यालय, तेजपुर, असम

30. डॉ. वर्षा सोलंकी, डी-7, इनकम टैक्स कॉलोनी, न्यू सिविल हॉस्पिटल के सामने, मजूरा गेट, सूरत

31. डॉ. अनुराधा पांडेय, अनुवाद एंव निर्वचन विद्यापीठ, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा, महाराष्ट्र-442001

32. श्री अजय मलिक, आई-5, आई ब्लॉक, गोविंदपुरम्, ग़ाज़ियाबाद, उत्तर प्रदेश

33. श्री विनोद अनुपम, बी-53, सचिवालय कॉलोनी, कंकड़बाग, पटना-800020

34. श्रीमती नीति सुधा, सी-204, जासमीन पूनम कॉम्प्लेक्स, आशा नगर, ठाकुर कॉम्प्लेक्स, कांदिवली पूर्व, मुंबई-400101

केंद्रीय हिंदी निदेशालय

भाषा पत्रिका की सदस्यता हेतु आवेदन पत्र

सेवा में,

निदेशक

केंद्रीय हिंदी निदेशालय, उच्चतर शिक्षा विभाग,

शिक्षा मंत्रालय, पश्चिमी खंड–7, आर. के. पुरम् नई दिल्ली – 110066

ई.मेल chdsalesunit@gmail.com

फोन नं. – 011–26105211 एक्सटेंशन नं. 201, 244

महोदय/महोदया,

कृपया मुझे भाषा (द्वैमासिक पत्रिका) का एक वर्ष के लिए / पाँच वर्ष के लिए/ दस वर्ष के लिए/ बीस वर्ष के लिए दिनांक ..... से सदस्य बनाने की कृपा करें। मैं पत्रिका का वार्षिक/ पंचवर्षीय/ दसवर्षीय/ बीस वर्षीय सदस्यता शुल्क ..... रुपए, निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, नई दिल्ली के पक्ष में नई दिल्ली स्थित अनुसूचित बैंक में देय डिमांड ड्राफ्ट से. ..... दिनांक ..... द्वारा भेज रहा/रही हूँ। कृपया पावती भिजवाएँ।

नाम : .....

पूरा पता : .....

.....

मोबाइल/दूरभाष : .....

ई–मेल : .....

संबद्धता/व्यवसाय : .....

आयु : .....

पूरा पता जिस पर : .....

पत्रिका प्रेषित की जाए .....

सदस्यता	शुल्क डाक खर्च सहित
वार्षिक सदस्यता	रु. 125.00
पंचवर्षीय सदस्यता	रु. 625.00
दसवर्षीय सदस्यता	रु. 1250.00
बीसवर्षीय सदस्यता	रु. 2500.00

डिमांड ड्राफ्ट निदेशक, केंद्रीय हिंदी निदेशालय के पक्ष में नई दिल्ली स्थित अनुसूचित बैंक में देय होना चाहिए। कृपया ड्राफ्ट के पीछे अपना नाम एवं पूरा पता भी लिखें।

नाम एवं हस्ताक्षर

नोट : कृपया पते में परिवर्तन होने की दशा में कम से कम दो माह पूर्व सूचित करने का कष्ट करें।

हैदराबाद में भाषा पत्रिका की ओर से भारतीय एवं विश्व सिनेमा विषय पर आयोजित दो दिवसीय परिसंवाद के आयोजन की कुछ झलकियाँ

(29 तथा 30 नवंबर 2019)

पंजी संख्या. 10646/61
ISSN 0523-1418

भाषा (द्वैमासिक)
BHASHA-BIMONTHLY
पी. ई. डी. 305-4-2020
700

केंद्रीय हिंदी निदेशालय
उच्चतर शिक्षा विभाग
शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार
पश्चिमी खंड–7, रामकृष्णपुरम, नई दिल्ली–110066
www.chdpublication.mhrd.gov.in
प्रबंधक, भारत सरकार मुद्रणालय, रिंग रोड, मायापुरी, नई दिल्ली – 110064 द्वारा मुद्रित